आदिकालीन हिंदी काव्यालोचना : स्वरूप और मूल्यांकन

AADIKALEEN HINDI KAVYALOCHNA : SWAROOP AUR MOOLYANKAN

CRITICISM OF EARLY HINDI POETRY, ITS FORM AND EVALUATION

(पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध)

शोध - निर्देशक
प्रो. सुधीर प्रताप सिंह

शोधार्थी
कल्पना सिंह राठौर

भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली- 110067

2022

Dated: 30/06/2022

Declaration

I hereby declare that the Ph.D. thesis entitled **'AADIKALIN HINDI KAVYALOCHNA : SWAROOP AUR MOOLYANKAN' (EARLY HINDI POETIC CRITICISM : FORM AND EVALUATION)** submitted by me is the original research work. It has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution to the best of my knowledge.

I further declare that no plagiarism has been committed in my work. If anything is found plagiarised in my Thesis, I will be solely responsible for the act.

Kalpana

KALPANA SINGH RATHOUR
Name of Students

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 30 /06 /2022

Certificate

This is to certify that the Ms. **KALPANA SINGH RATHOUR** a bona-fide Research Scholar of Centre of Indian Languages, SLL&CS has fulfilled all the requirements as per the University Ordinance for the submission of Ph.D. thesis entitled 'AADIKALIN HINDI KAVYALOCHNA : SWAROOP AUR MOOLYANKAN' (EARLY HINDI POETIC CRITICISM : FORM AND EVALUATION). This may be placed before the examiners for evaluation for the award of the degree of Ph.D.

Prof. Sudheer Pratap Singh
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

डॉ. सुधीर प्रताप सिंह
Dr. Sudheer Pratap Singh
प्रोफेसर/Professor
भारतीय भाषा केन्द्र/भा.सा. एवं सं.अ.सं.
Centre for Indian Languages/SLL & CS
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
Jawaharlal Nehru University
नई दिल्ली / New Delhi - 110

Prof. Omprakash Singh
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

अध्यक्ष / Chairperson
भारतीय भाषा केन्द्र / CIL
भा. सा. एवं सं. अ. सं. / SLL & CS
ज. ने. वि. / J.N.U
नई दिल्ली / New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217;
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

विषयानुक्रमणिका

भूमिका 1-6

अध्याय-1

आदिकालीन हिंदी साहित्य का स्वरूप विश्लेषण 07-51

क. आदिकालीन साहित्य : पृष्ठभूमि और प्रवृत्तियाँ

ख. धार्मिक साहित्य : स्वरूप एवं संरचना

ग. लौकिक साहित्य : स्वरूप और उपादेयता

घ. वीरगाथात्मक साहित्य : परंपरा और सामाजिक संरचना

च. आदिकालीन गद्य साहित्य

अध्याय-2

आदिकालीन हिंदी साहित्य : मूल्यांकन के आधार 52-87

क. ऐतिहासिकता बनाम काल्पनिकता

ख. साहित्यिक आधार

ग. भाषिक संरचना

घ. सामाजिक उपादेयता

अध्याय-3

आदिकालीन हिंदी साहित्य के प्रमुख आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि 88-123

क. आरंभिक हिंदी आलोचना और आदिकाल

ख. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

ग. आदिकाल और परवर्ती हिंदी आलोचना

अध्याय-4

आदिकालीन हिंदी साहित्य के मूल्यांकन की समस्याएँ 124-166

क. काल निर्धारण और नामकरण
ख. प्रवृत्ति निर्धारण का सवाल
ग. आदिकालीन साहित्य : ऐतिह्य का प्रश्न
घ. भाषा-समस्या और आदिकाल

अध्याय-5

आदिकालीन हिंदी साहित्य की प्रासंगिकता 167-207

क. विषय-वस्तु और परवर्ती हिंदी साहित्य
ख. काव्य-रूप और परवर्ती हिंदी साहित्य
ग. आदिकालीन हिंदी साहित्य का समसामयिक संदर्भ

उपसंहार 208-217

संदर्भ-ग्रंथ 218-224

समर्पण -

सद्यः जन्मे अपने बच्चे को,

जिसने मेरे साथ-साथ इस शोध कार्य को

सम्पूर्ण किया है।

भूमिका

भूमिका

आदिकालीन हिंदी साहित्य के परिवेश और पृष्ठभूमि में आंतरिक कलह से उपजी तनावपूर्ण राजनीतिक परिस्थितियों का विशेष योगदान रहा है । सन् 769 ई० से 1418 ई० तक आदिकालीन हिंदी साहित्य का रचना काल माना जाता है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक सभी दृष्टियों से यह युग परस्पर टकराहट और विचलन का युग है, जिसके मूल में तत्कालीन राजनीति का विकेंद्रीकरण रहा है। हर्षवर्धन साम्राज्य के पतन के कारण केन्द्रीय सत्ता का ह्रास होता है, और छोटे-छोटे सामंतों का उदय होता है। बिखराव पूर्ण राजनीतिक परस्थितियाँ इस्लामी साम्राज्य की स्थापना में सहायक सिद्ध होती हैं। दो भिन्न संस्कृतियों के संक्रमण के कारण जन-जीवन में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो गयी। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों ने सामाजिक और साहित्यिक संरचना को सर्वाधिक प्रभावित किया। जिसका उदाहरण इस काल की साहित्यिक विविधता के रूप में दिखाई देता है।

कथ्य की दृष्टि से आदिकाल में कई परंपराओं का एक साथ उदय होता हुआ दिखाई देता है, रचनाओं की प्रवृत्तिगत भिन्नता इस काल की विशेषता है। इस काल में, सिद्धों, नाथों, और जैनियों का साहित्य धार्मिक साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। रासो साहित्य के रूप में वीरगाथात्मक काव्यों की परंपरा मिलती है। विद्यापति तथा अमीर खुसरो की बानियाँ अवहट्ट और देशी भाषाओं में लोक जन-मानस से मुखातिब होती हैं। इनके समानांतर लौकिक साहित्य की एक अनूठी धारा प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। इस काल में तमाम साहित्यिक प्रवृतियाँ एक साथ उभरती हैं। यहाँ एक साथ धार्मिक मनोवृत्तियों का सात्विक चित्रण मिलता है, श्रृंगार* की सहज सरसता दिखाई देती है और वीर रस की ओजपूर्ण गाथाओं के तमाम चित्र उभरते हैं। आदिकाल में साहित्यिक परिस्थितियाँ परस्पर टकराहट से ऊर्जा ग्रहण करते हुए एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। इसी स्थिति को लक्ष्य करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस युग को 'विरोधी और स्वतोव्याघातों का युग' कहा है। विविध प्रवृत्तियों का ये समुच्चय हिंदी साहित्य के आरंभिक काल का स्वरूप-निर्माण करता है। आदिकालीन साहित्य सायास लिखा जाने वाला साहित्य नहीं है। यह सचेतन समाज की सहज अनुभूतियों से उपजने वाल साहित्य है, इसलिए तमाम विविधताओं से युक्त है।

इस काल की विविधता इसकी विशेषता के साथ-साथ इसके अध्ययन और मूल्यांकन की सीमा भी है। यह काल साहित्य के अन्य कालखंडों की तरह एक दिशा में प्रवाहित होता हुआ साहित्य नहीं है। इस काल के साहित्य की विशेषता इसकी प्रवृत्तिगत भिन्नता है, और साहित्यिक विविधता का कारण इस काल की संक्रमणशील सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। आदिकाल में भिन्न

भाषाओं, संस्कृतियों और धार्मिक मान्यताओं का समायोजन एक साथ होता है। अतः यह युग कई दृष्टियों से संक्रमण का युग कहलाता है। दो भिन्न संस्कृतियों के संक्रमण के कारण जन-जीवन में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इसी कारण जहाँ एक ओर युद्धोन्माद बढ़ता है, वहीं दूसरी ओर जग-जीवन से विरक्ति की स्थिति भी बढती है। सिद्धों की बानियों में वामाचार, भोगवाद और तांत्रिक साधना की ओर झुकाव, इसी विरक्ति का परिणाम है।

यह दो भाषाओं तथा विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों की संगम स्थली है। भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से यह संधि और संक्रमण का काल है। हिंदी साहित्य के आदिकाल में मूल प्रश्न भाषा के निर्धारण का है। हिंदी से पहले अपभ्रंश साहित्य की भाषा थी। तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक परिवर्तनों के कारण हिंदी साहित्यिक भाषा का स्थान ग्रहण करती है। भाषाओं का यह परिवर्तन इतना धीरे होता है कि इसमें विभाजक रेखा खींचना कठिन है। आदिकालीन साहित्य में कई उदाहरण मिलते हैं जिनको अपभ्रंश भी कहा जा सकता है और हिंदी भी। आदिकालीन आलोचना में काल-निर्धारण और नामकरण की समस्या के मूल में भी भाषा की यही समस्या विद्यमान है।

आदिकाल का आरम्भ कहाँ से माना जाये यह विवेचना का विषय है। इस संदर्भ में आलोचकों की मूल समस्या यह है कि हिंदी उस समय लोक-भाषा थी और लोक-भाषा के साहित्य को सुरक्षित करने के कोई प्रयास नहीं होते हैं। यही कारण है कि हिंदी भाषा में लिखे गए किसी भी साहित्यिक ग्रंथ की प्राप्ति नहीं होती है। आलोचकों ने विभिन्न ग्रंथों में मिले हिंदी भाषा के कुछ अंशों के आधार पर ही हिंदी साहित्य के काल निर्धारण का प्रयास किया है। हिंदी उस दौर में अपभ्रंश के माध्यम से ही साहित्य लेखन में अभिव्यक्त होती है , इसलिए आलोचकों को चाहे न चाहे अपभ्रंश भाषा के साहित्य को हिंदी के अंतर्गत शामिल करना पड़ता है।

आदिकालीन हिंदी आलोचना ने इस काल की हर समस्या का समाधान खोजने का प्रयास किया है। किन्तु आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद किसी भी आलोचक ने इस काल का सम्यक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है। इनके अतिरिक्त लगभग हर आलोचक ने अपनी सुविधानुसार इस काल के अलग-अलग बिन्दुओं पर विचार किया है। समसामयिकता प्रधान, वर्तमान युग में आदिकाल की प्रासंगिकता पर विचार करते हुए इस काल की काव्यालोचना का मूल्यांकन करना महत्वपूर्ण और आवश्यक है। हर पूर्ववर्ती साहित्य परवर्ती साहित्य के लिए परंपरा और पूरक दोनों होता है। इस अर्थ में आदिकाल, हिंदी साहित्य का महत्वपूर्ण सोपान है।

नोट - *arial Unicode MS में टायपिंग के कारण 'श्रृंगार' शब्द का लेखन इस तरह से हुआ है।

अपने शोध ग्रंथ के विषय **'आदिकालीन हिंदी काव्यालोचना : स्वरूप और मूल्यांकन'** में मैनें आदिकाल केन्द्रित हिंदी काव्यालोचना का स्वरूप बताते हुए उसका मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। साथ ही यह भी जानने का प्रयास किया है कि आदिकालीन हिंदी काव्यालोचना का सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप क्या है, तथा आदिकालीन हिंदी साहित्य में अभिव्यक्त सामाजिक संरचना के आधार बिन्दु कौन से हैं। हिंदी साहित्य का आदिकाल दो भिन्न धर्मों और संस्कृतियों का संक्रान्तिकाल है, इसीलिए परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों से युक्त है। आदिकाल के आलोचकों की आलोचना दृष्टि का अध्ययन करते हुए उसमें समानता अथवा विषमता के सूत्र तलाशते हुए, मैंने उनमें तारतम्यता स्थापित करने का प्रयास किया है। हिंदी आलोचना में, आदिकालीन साहित्य की उपलब्ध सामग्री को लेकर कई तरह के विवाद हैं - जैसे आदिकालीन हिंदी साहित्य में अपभ्रंश साहित्य को शामिल किया जाना चाहिए अथवा नहीं, आदिकाल में भाषा संबंधी क्या विवाद हैं, क्या अपभ्रंश को पुरानी हिंदी माना जा सकता है इत्यादि। शोध ग्रंथ के माध्यम से मैंने इन सभी विवादों का समाधान खोजने का यथासंभव प्रयास किया है। साथ ही मैंने यह भी दिखाने की कोशिश की है कि आदिकालीन साहित्य और परवर्ती साहित्य के अन्तर्सम्बंध कैसे हैं, आदिकाल का हिंदी साहित्य के विकास में क्या योगदान रहा है तथा वर्तमान समय में आदिकालीन आलोचना के मूल्यांकन की क्या प्रासंगिकता है तथा आदिकालीन हिंदी काव्यालोचना में स्त्री और हाशिये के समाज की क्या स्थिति रही है ?

इस शोध ग्रंथ को मूलतः पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। इसके प्रथम अध्याय **'आदिकालीन हिंदी साहित्य का स्वरूप विश्लेषण'** के अन्तर्गत सर्वप्रथम आदिकालीन साहित्य के आरंभिक स्वरूप का अध्ययन करते हुए उसके विश्लेषण का प्रयास किया गया है। इस काल में कई तरह की रचनायें देखने को मिलती हैं। यहाँ सिद्ध-नाथ और जैन कवियों के धार्मिक साहित्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुए उसकी संरचना का अध्ययन किया गया है। आदिकाल में लौकिक साहित्य की अनूठी भावधारा मिलती है। अध्याय में तत्कालीन समाज में लौकिक साहित्य की उपादेयता को समझने का प्रयास किया गया है। आदिकाल में वीरगाथाओं के रूप में रासो काव्य मौजूद है, इस साहित्य की परंपरा का अध्ययन करते हुए उसकी सामाजिक संरचना का विश्लेषण किया गया है। इसके साथ ही आदिकालीन गद्य साहित्य का अवलोकन किया गया है।

दूसरे अध्याय **'आदिकालीन हिंदी साहित्य : मूल्यांकन के आधार बिंदु'** में मुख्यतः चार बिन्दुओं का सविस्तार वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम साहित्य में ऐतिहासिकता बनाम काल्पनिकता के विवाद को रेखांकित करते हुए आदिकालीन ऐतिहासिक साहित्य का विश्लेषण किया

गया है। किसी भी कालखंड को समझने के लिए तत्कालीन समय का साहित्य सबसे प्रामाणिक दस्तावेज होता है। इसलिए अध्याय के दूसरे बिंदु में आदिकाल के साहित्यिक आधार का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। साहित्यिक काल खंड के विकास में उस काल की भाषा का विशेष योगदान होता है। भाषा साहित्य की दिशा निर्धारित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है। इस संदर्भ में तीसरे बिंदु के अंतर्गत आदिकालीन भाषा की विषय-वस्तु और उसकी संरचना का अध्ययन किया गया है। अध्याय के चौथे बिंदु में आदिकालीन साहित्य की सामाजिक संरचना का मूल्यांकन करते हुए उसकी उपादेयता निर्धारित करने का प्रयास किया गया है।

तीसरे अध्याय **'आदिकालीन हिंदी साहित्य के प्रमुख आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि'** के अन्तर्गत आदिकालीन हिंदी आलोचकों की आलोचना दृष्टि का अध्ययन किया गया है। आलोचना दृष्टि की भिन्नता के कारण ही एक रचना के अलग-अलग पाठ होते हैं। आलोचक की आलोचना दृष्टि उसकी आलोचना के आधार बिंदु निर्धारित करती है। यहाँ आलोचना दृष्टि से हमारा तात्पर्य आलोचक के उस विजन से है जो उसकी आलोचना का दायरा तय करती है। अध्याय में चयनित प्रमुख आलोचकों का मूल्यांकन उनके कालक्रमानुसार तथा आदिकाल के विशेष संदर्भ में ही किया गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल को केंद्र मानते हुए इस अध्याय को तीन भागों में विभाजित किया गया है। पहले भाग में आदिकाल संबंधी आरंभिक हिंदी आलोचना का अध्ययन किया गया है। दूसरे भाग के अंतर्गत आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आदिकाल संबंधी आलोचना दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अध्याय के तीसरे भाग में आदिकाल केन्द्रित परवर्ती महत्वपूर्ण आलोचकों को केंद्र में रखकर उनका मूल्यांकन किया गया है।

चौथे अध्याय **'आदिकालीन हिंदी साहित्य के मूल्यांकन की समस्याएँ'** में इस काल की मूल्यांकन संबंधी समस्याओं का अध्ययन किया गया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से आदिकालीन साहित्य बहुआयामी है। यहाँ भक्ति, श्रृंगार, लोक और दरबार की मिली-जुली परंपरा प्रवाहमान है। आदिकालीन हिंदी साहित्य की विविधता ही इसके मूल्यांकन में काल-निर्धारण और नामकरण, प्रवृत्ति निर्धारण, आदिकालीन साहित्य में ऐतिह्य का सवाल तथा भाषा की समस्या को जन्म देती है। इस अध्याय के अन्तर्गत उपर्युक्त चारों समस्याओं को रेखांकित करते हुए उनका विश्लेषण किया गया है। इसके साथ ही इस बात का अध्ययन भी किया गया है कि आदिकालीन आलोचना, इस काल के साहित्य की समस्याओं को हल करने में कितनी समर्थ सिद्ध हुई है।

पाँचवे अध्याय **'आदिकालीन हिंदी साहित्य की प्रासंगिकता'** के अन्तर्गत आदिकालीन हिंदी साहित्य और परवर्ती हिंदी साहित्य के सहसंबंधों का अध्ययन किया गया है। किसी भी काल विशेष के लिए पूर्ववर्ती साहित्य परंपरा और प्रेरणा दोनों का माध्यम होता है। विषय-वस्तु और काव्य-रूप

दोनों दृष्टियों से आदिकाल ने भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल की आधार भूमि तैयार करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पाँचवे अध्याय के अंतर्गत सर्वप्रथम आदिकालीन विषय-वस्तु का परवर्ती हिंदी साहित्य में होने वाले विकास का अध्ययन किया गया है। अध्याय के दूसरे भाग में आदिकाल के काव्य रूपों का परवर्ती साहित्य में हुए विकास का विश्लेषण किया गया है। अध्याय के तीसरे भाग में आदिकालीन साहित्य का मूल्यांकन साहित्य के समसामयिक सन्दर्भों में किया गया है।

'**उपसंहार**' के रूप में शोध-ग्रंथ का समाहार प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध कार्य को पूरा करना मेरे लिए एक बड़ी और कठिन चुनौती जैसा रहा है। इस शोध कार्य को पूर्ण करने में सर्वप्रथम मेरे शोध निर्देशक प्रो. सुधीर प्रताप सिंह का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। शोध-शीर्षक का चुनाव करने से लेकर शोध ग्रंथ की समाप्ति तक मेरे गुरु ने हर कदम पर मेरी सहायता की है। सर के आत्मीय और स्नेहिल स्वभाव के कारण मैं अपनी शोध-संबंधी समस्याओं और जिज्ञासाओं को बेझिझक उनके सामने रख सकी और उनका उचित समाधान प्राप्त कर सकी। सर के साथ शोध करना अध्ययन के साथ-साथ ज्ञान का परिशोधन भी है। उन्होंने मेरे शोध-प्रबंध की कमियों को न केवल रेखांकित किया बल्कि उनको दूर करने में मेरा उचित मार्गदर्शन भी किया। वे मेरे लिए कबीरदास का 'सूप सुभाय' हैं, जो मेरे 'सार-सार को गहते' हुए, 'थोथा' उड़ा देने का जतन जानते हैं। सर की प्रेरणा तथा अभिभावकीय मार्ग-दर्शन के कारण ही यह शोध-कार्य सम्पन्न हो पाया है, जिसके लिए मैं उनका हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

मेरे शोध-प्रबंधके विषय को निर्धारित करने तथा शोध सामग्री के चयन में समय-समय पर प्रो. ओमप्रकाश सिंह ने मेरी पूरी सहायता की है। उनके महत्वपूर्ण और आत्मीय सहयोग की मैं ऋणी हूँ। अपने अकादमिक जीवन की व्यस्तता से समय निकालकर उन्होंने मेरे शोध कार्य में जो सहायता की है, उसके लिए मैं उनका हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ। शोध-प्रबंधके प्रारूप निर्धारण को लेकर हिंदी साहित्य जगत के शीर्ष आलोचक प्रो. मैनेजर पाण्डेय जी से मुझे महतवपूर्ण सुझाव प्राप्त हुए हैं, निश्चित रूप से उनके सुझावों ने मेरे शोध-प्रबंधको सफलता प्रदान की है। मैं प्रो. मैनेजर पाण्डेय के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ।

शोध-प्रबंधलेखन एक लम्बी और जटिल प्रक्रिया है, जिसमें समय-समय पर निराशा और अवसाद होता रहता है। शोध के दौरान हजारों निराशाओं में मेरा मजबूत आधार बनने वाली कामना के लिए 'आभार' कह पाना मेरे कुवत से बाहर की बात है। मेरी हर समस्या, हर अवसाद को पूरे धैर्य से सुनकर इनका मुझे उचित राय देना, मेरा संबल बना। कामना ने समय-समय पर मेरे शोध से जुड़ी विषय-सामग्री को संयोजित करने में मेरा महत्वपूर्ण साथ दिया है। मेरी जरूरत की

तमाम पुस्तकों को हासिल करने में कामना ने महत्वपूर्ण साथ दिया है, जिसने मेरे शोध-कार्य को सरलता प्रदान की है।

इस शोध-कार्य को सफल करने में मेरे परिवार की अहम् भूमिका रही है। शोध कार्य के दौरान माता-पिता का साथ छूट जाना किसी आपदा से कम नहीं था। मुझे उम्मीद है की वे जहाँ भी होंगे मेरी इस उपलब्धि पर खुश होंगे। बहन रुची तथा भाई आदित्य हर कदम पर मेरा संबल बने। मेरी हर उपलब्धि इनके सहयोग के बिना अधूरी है। जीवनसाथी राघव सिंह ने मेरे शोध कार्य को व्यवस्थित रूप देने तथा उसकी प्रूफ संबंधी त्रुटियों को दूर करने में अपना जो सहयोग दिया है उसके लिए मैं उनका हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ। प्रूफ सम्बन्धी त्रुटियों का पैनी नजर से सर्वेक्षण करने के लिए मैं अपने सीनियर कमलाकांत चौरसिया जी का हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ। उनके सुझावों के द्वारा मेरा शोध कार्य टंकण सम्बन्धी त्रुटियों से काफी हद तक मुक्त रह सका है। शोध-कार्य की सफलता के लिए मैं सौरभ बाजपेयी की शुक्रगुजार हूँ। उन्होंने मेरी शोध-संबंधी हर समस्या को धैर्यपूर्वक समझते हुए उसका उचित समाधान सुझाया। अपने शोध कार्य की प्रगति को लेकर मैं जब जब भी निराश होती थी, तब उनके शब्दों ने मुझे हौसला दिया है।

मैं अपने शोध-प्रबंधके सफल समायोजन पर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय को हार्दिक आभार संप्रेषित करती हूँ, जिसने मेरी भीतर की प्रतिभा उचित दिशा और शोध कार्य हेतु बेहतरीन माहोल मोहैया कराया। मैं भारतीय भाषा केंद्र, उसमें कार्यरत सभी कर्मचारियों, विशेषतः रमेश भट्ट जी के प्रति भी अपना सहृदय आभार प्रदर्शित करती हूँ, जिन्होंने समय-समय मेरी तमाम जिज्ञासाओं, प्रश्नों और उलझनों का उचित समाधान प्रस्तुत किया। इसके साथ-साथ मैं जवारलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों साहित्य अकादमी, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केंद्र, अमीर-उद-दौला पब्लिक लाईब्रेरी, लखनऊ, पुस्तकालय भवन, लखनऊ, लखनऊ लाइब्रेरी, तथा टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ और उनके स्टाफ के प्रति अपना सहृदय आभार व्यक्त करती हूँ। इन समस्त संस्थानों से मुझे अपने शोध संबंधी महत्वपूर्ण दस्तावेजों की प्राप्ति हो पाई, जिसने मेरे शोध कार्य को सुगम बनाया।

किसी विषय पर शोध करना बेहद धैर्य का काम होता है। आज से पहले इस पंक्ति की अहमियत का अहसास नहीं था। पूरे शोध के दौरान आस-पास के निराशावादी लोगों की बातों से उपजे अवसाद को कम करने में मेरे मित्रों ने मुझे संबल दिया। मित्रों में कामना, धर्मेन्द्र, पंकज, कल्पना, कुमकुम, प्रभात के साथ-साथ उन तमाम लोगों के प्रति आभार प्रदर्शित करती हूँ जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से मेरा संबल बने।

-कल्पना सिंह राठौर

अध्याय-1

आदिकालीन हिंदी साहित्य का स्वरूप विश्लेषण

क. आदिकालीन साहित्य : पृष्ठभूमि और प्रवृत्तियाँ

ख. धार्मिक साहित्य : स्वरूप एवं संरचना

ग. लौकिक साहित्य : स्वरूप और उपादेयता

घ. वीरगाथात्मक साहित्य : परंपरा और सामाजिक संरचना

च. आदिकालीन गद्य साहित्य

आदिकालीन हिंदी साहित्य का स्वरूप विश्लेषण

कथ्य की दृष्टि से आदिकाल में कई परंपराओं का एक साथ उदय होता हुआ दिखाई देता है, रचनाओं की प्रवृत्तिगत भिन्नता इस काल की विशेषता है। इस काल में सिद्धों, नाथों और जैनियों का साहित्य धार्मिक साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। रासो साहित्य के रूप में वीरगाथात्मक काव्यों की परंपरा मिलती है। विद्यापति तथा अमीर खुसरो की बानियाँ अवहट्ट और देशी भाषाओं में लोक जन-मानस से मुखातिब होती हैं। इनके समानांतर लौकिक साहित्य की एक अनूठी धारा प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। आदिकाल में भिन्न-भिन्न काव्य प्रवृत्तियों के साथ-साथ गद्य साहित्य के आरंभिक चिन्ह भी देखे जा सकते हैं। विविध प्रवृत्तियों का यह समुच्चय हिंदी साहित्य के आरंभिक काल का स्वरूप-निर्माण करता है।

क. आदिकालीन साहित्य : पृष्ठभूमि और प्रवृत्तियाँ –

आदिकालीन हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि से तात्पर्य उस परिदृश्य या वातावरण से है, जिनके भीतर साहित्य का निर्माण होता है। पृष्ठभूमि के अध्ययन के दो पक्ष हो सकते हैं। एक उसकी तात्कालिक पृष्ठभूमि, जिसके अन्तर्गत उन समसामयिक प्रभावों और दबावों का विवेचन किया जाता है, जिनके भीतर साहित्य की रचना होती है। दूसरे, पूर्व परंपराएँ, जो जातीय मानसिकता का आधार बनती हैं। जातीय मानसिकता साहित्य को रचती है और उसमें अभिव्यक्त भी होती है। वह स्वयं रचना सामग्री है और उसका उत्पाद भी। इस संदर्भ में पृष्ठभूमि के अध्ययन का अर्थ परंपरा के उन घटकों का अध्ययन है, जो 'भारतीय चिंतन का स्वाभाविक विकास' हैं। आदिकालीन पृष्ठभूमि को समझने के क्रम में इस काल खंड की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन किया जा रहा है।

किसी भी कालखंड की **राजनैतिक परिस्थितियाँ** उस समूचे युग की दिशा निर्धारित करती हैं। राजनीतिक दृष्टि से यह काल गहरी उथल-पुथल का काल है। सातवीं-आठवीं शताब्दी के राजनीतिक घटना चक्र ने हिंदी साहित्य को भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से प्रभावित किया है। राजनीतिक असंतुलन वाले इस युग का आरम्भ राजवर्धन की मृत्यु और हर्षवर्धन के सत्तारूढ़ होने के साथ होता है। हर्षवर्धन ने सन् 606 ई. में शासन संभाला, और अपनी योग्यता से उत्तर भारत के अधिकतम क्षेत्रों को एक सूत्र में बाँधने का काम किया। 647 ई. में हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत का साम्राज्य छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटा गया। राजनीति का यह परिदृश्य बेहद

उलझावपूर्ण रहा। कुछ शासक जैसे अजमेर के चौहान, कन्नौज के गहड़वाल, और मालवा के परमार थोड़े समय के लिए अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल रहे, किन्तु इनमें से कोई राजा केन्द्रीय सत्ता कायम नहीं कर सका। क्षेत्र विस्तार को लेकर इन राज्यों की आपसी कलह से भारत में अराजकता की स्थिति का जन्म हुआ।

आपसी कलह और साम्राज्यों के बढ़ते विघटन ने सामंतवादी प्रथा को प्रोत्साहन दिया। इस युग में राजाओं के मध्य होने वाले छोटे-छोटे युद्ध कई बार शौर्य प्रदर्शन मात्र के लिए होते रहते थे। केन्द्रीय सत्ता के अभावका यह काल, आपसी संघर्षों का युग था। इस समय भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा पर लगातार मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। इसी पृष्ठभूमि के भीतर आदिकालीन हिंदी साहित्य का विकास हो रहा था। शासकों की आपसी लड़ाइयाँ, मुगलों के आक्रमणों का सामना, एकता का अभावऔर राज्यों का बिखराव, मान-अपमान का प्रश्न बन जाते थे। इसी समय भारतीय इतिहास में राजपूत शासकों का उदय हुआ। उत्तर भारत में इन राजाओं के छोटे-छोटे राज्य थे। इनमें दिल्ली और अजमेर के चौहान, कन्नौज के गहड्वाल, बंगाल और बिहार के सेन, गुजरात के बघेल या सोलंकी तथा बुंदेलखंड के चंदेल विशेष उल्लेखनीय हैं। 12 वीं शताब्दी में चौहान वंश के नरेश विग्रहराज या बीसलदेव ने दिल्ली, झाँसी तथा पंजाब के पूर्व भाग पर तुर्कों से युद्ध करते हुए वहां अपना राज्य स्थापित किया। इन राजपूत राजाओं के शौर्य का वर्णन चरण कवियों द्वारा किया गया है। जिनमें 'पृथ्वीराज रासो' सबसे प्रमुख है , इसमें मोहम्मद गौरी और पृथ्वीराज के युद्ध का वर्णन हुआ है।

केन्द्रीय सत्ता के टूटने का प्रभाव राजनीति तक सीमित न रहकर जीवन के विविध क्षेत्रों में परिलक्षित होता है। युद्ध प्रभावित जीवन शैली में संतुलन का अभाव हो गया। जनता विदेशी आक्रमणकारियों के साथ-साथ युद्धकामी देशी राजाओं के अत्याचारों से भी त्रस्त थी। पृथ्वीराज चौहान, जयचंद, परमार्दिदेव आदि की पारस्परिक लड़ाइयों की अंतहीन कथाएं सुनी जा सकती हैं। फलस्वरूप समाज में दो तरह के वर्गों का उदय हुआ। पहला जो वीरता और साहस को जीवन का लक्ष्य समझता था और दूसरा जो युद्ध से उपजी विनाश लीला को देखकर संसार से विरक्ति की ओर अग्रसर था। राजनीतिक परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप ही आदिकाल में एक ओर उपदेशमूलक, हठयोग, स्त्रीभोग और पलायन जैसे विषयों की प्रधानता रही, तो दूसरी ओर ईश्वर की लोक कल्याणकारी सत्ता में विश्वास करने, वीरता को जीवन का मर्म समझने की भावना से युक्त साहित्य लिखा गया। इस युग में राजदरबारों में पांडित्य प्रदर्शन की भावना का ह्रास हुआ और साहित्य लेखन के लिए अनुभव की जीवन्तता अनिवार्य हो गयी । धार्मिक कवियों ने धर्म संबंधी अनुभूतिपरक साहित्य लिखा और चारण कवियों ने युद्ध क्षेत्रों में प्राप्त अनुभवों का अतिरंजनापूर्ण

वर्णन किया। इस समय में धर्म और राजाश्रय से इतर कविता के विकास की सम्भावना काफी कम हो गयी।

ईसा की छठी शताब्दी तक देश की **धार्मिक स्थिति** सामान्य रही। इस समय विभिन्न धार्मिक संप्रदायों में आपसी मेल-जोल बना रहा। वैदिक यज्ञ, मूर्तिपूजा तथा जैन और बौद्ध उपासना पद्धतियाँ साथ-साथ चलती रहीं। सातवीं शताब्दी के साथ देश की धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन आरम्भ हुए। भारत में मौर्यकाल से लेकर हर्षवर्धन के समय तक साम्राज्यवादी शासन रहा। मौर्यकालीन राजाओं ने बौद्ध धर्म को महत्व दिया तो गुप्त सम्राटों ने वैष्णव धर्म को प्रोत्साहित किया। सम्राट हर्षवर्धन ने इन दोनों धर्मों के मध्य सेतु का कार्य किया, उन्होंने एक ओर कन्नौज में बौद्ध धर्म को संरक्षण दिया तो दूसरी ओर प्रयाग के ब्राह्मणों को दान भी दिया। हर्षवर्धन की उदारता के कारण उनके राज्य में विभिन्न धर्मों को फलने-फूलने का मौका मिला। वैष्णव मत इस समय अधिक प्रतिष्ठित नहीं था, इस समय जनता में जैन मत या शैव मत का बोल-बाला रहा। परिणाम स्वरूप इन दोनों मतों में आगे बढ़ने के क्रम में परस्पर टकराहट होने लगी। बारहवीं शताब्दी में आकर वैष्णव आन्दोल तीव्र होने लगे। राजपूत राजाओं में शैव मत का प्रभाव अधिक था इसलिए शैव मत का प्रसार बढ-चढ़ कर हुआ। शैव और वैष्णव मत के उभार ने जैन मत की शक्तियों को सीमित कर दिया। समस्त उत्तर भारत में अब शैव मत एवं स्मार्त मत का प्रभाव बढ़ने लगा।

विभिन्न मत मतान्तरों के संघर्ष में बौद्ध धर्म अपने अलग-अलग रूपों में जड़ें ज़माने के लिए लगातार प्रयत्नशील रहा। इसका विकास हीनयान, महायान, वज्रयान, मंत्रयान, सहजयान आदि शाखाओं में होने लगा। बौद्ध धर्म की इन शाखाओं में मन्त्र, तंत्र, हठयोग आदि के साथ पंच मकारों (मांस, मैथुन, मत्स्य, मद्य तथा मुद्रा) को विशेष स्थान प्राप्त था। पंच मकारों को प्रश्रय देने के साथ यह मत वाममार्गी हो गया। तंत्र-मन्त्र, जादू-टोने तथा भोग विलास को केंद्र में रखकर चलने वाले ये साधक बौद्ध सिद्ध कहलाये। इस मत को नियमित रूप देने और इसका व्यापक प्रचार करने का श्रेय सिद्ध सरहपा को जाता है।

बौद्ध मत की महायान शाखा से प्रभावित सिद्धों और नाथों का आदिकाल में व्यापक प्रभाव रहा। सिद्धों की संख्या चौरासी और नाथों की नौ थी। मीननाथ, सिद्धपाद और जलन्धरनाथ के उपर्युक्त दोनों संप्रदायों में शामिल होने के प्रमाण मिलते हैं। नाथ मत का जन्म तांत्रिक महायान शाखा के एक संप्रदाय से हुआ। इस संप्रदाय के प्रवर्तक आदिनाथ या स्वयं शिव माने जाते हैं। इस पंथ में गोरखनाथ का विशेष महत्व है। गोरखनाथ ने हठ-योग और कुंडलिनी-जागरण के मार्ग को अपनाने का निर्देश दिया। उनके अनुसार जाग्रत कुंडलिनी क्रमशः षटचक्रों को भेदकर अंतिम चरण

में शिव से जाकर मिलती है। नाथ संप्रदाय में कुंडलिनी जागरण की इस क्रिया को परमानंद अथवा आत्मा और परमात्मा की अभेद सिद्धि कहा गया।

आदिकालीन साहित्य लिखे जाने के समय दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन का सूत्रपात हो चुका था। ये भक्त नयनार और आलावार कहलाये। इन्होने भक्ति और प्रेम का संदेश एक जगह से दूसरी जगह फैलाया। उत्तर भारत में इस समय तंत्रवाद का विकास जोरों पर था। तंत्र मार्गी द्वार शूद्र और स्त्री दोनों के लिए खुला था। इसलिए जन सामान्य के मध्य इस मार्ग का अधिक प्रसार हुआ। तंत्र मार्ग का प्रसार बौद्ध धर्म तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसका विकास जैन, शैव और वैष्णव सभी संप्रदायों में हुआ। तंत्रमार्ग और भक्ति आंदोलन दोनों ने जातीय विषमता के स्थान पर समानता के महत्व को प्रतिपादित किया। आदिकाल में धर्म आध्यात्मिक सरोकार से अधिक सामाजिक सरोकार का वाहक था। इसके माध्यम से पूर्व स्थापित जीवन मूल्यों और परंपरावादी मतवादों पर प्रश्नचिन्ह खड़ा किया जा रहा था। नाथों और सिद्धों का साहित्य इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। हालाँकि हिन्दू दर्शन को पुनः स्थापित करने वाले शंकराचार्य ने बौद्धिक स्तर पर जैन धर्म और बौद्ध धर्म को चुनौती दी। उन्होंने भक्ति की अपेक्षा ज्ञान का महत्व प्रतिपादित करने का प्रयास किया, लेकिन उनका ज्ञानवाद जन सामान्य में प्रसारित नहीं हो सका।

बहरहाल, आदिकालीन अशिक्षित जनता के सामने अनेक धार्मिक राहें थीं। बौद्ध सन्यासी यौगिक चमत्कारों का प्रभाव दिखा रहे थे तो वैदिक-पौराणिक मतों के समर्थक खंडन-मंडन के फेर में उलझे थे। जैन धर्म पौराणिक चरित्रों की नए ढंग से व्याख्या कर रहा था। वैष्णवों के राम-कृष्ण, जैन धर्म की दीक्षा लेते हुए देखे जाने लगे। देश व्यापी धार्मिक अशांति के इस युग में एक बाहरी धर्म इस्लाम का प्रवेश भी धीरे-धीरे हो रहा था। कुल मिलाकर विभिन्न धर्म अपने मूल रूप से विलग होकर जनता को आक्रांत कर रहे थे। आदिकाल की धार्मिक परिस्थितियाँ अत्यंत विषम और असंतुलित थीं। जनमानस में गहरे असंतोष, क्षोभ तथा भ्रम की छाया थी। कवियों ने इसी मानसिक स्थिति के अनुरूप खंडन-मंडन, हठयोग, वीरता एवं श्रृंगार का साहित्य लिखा।

सामाजिक-सांस्कृतिक आधार पर यह युग हलचल से युक्त था। विदेशियों (मुसलमानों को छोड़कर) के भारतीय समाज में घुल-मिल जाने से नई जातियों का जन्म हुआ। राजपूत जातियों का उदय इसी प्रकार से हुआ था। सत्ता पर अधिकार होने के कारण राजपूतों का समाज में दबदबा था। इस बात को समझते हुए ब्राह्मणों ने वर्णवादी सामाजिक ढांचे को लचीला बनाते हुए राजपूतों को क्षत्रिय की संज्ञा दी। इस बात का असर समाज की अन्य जातियों पर भी हुआ। दूसरे वर्ग और जातियों के लोग भी ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती देने लगे। इसका उदाहरण सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य में देखा जा सकता है।

यह युग वर्ण-व्यवस्था का पालन करता था। इस काल में वर्ण, कर्म आधारित न होकर जन्म आधारित हो चुका था। शिक्षा पूरी तरह से ब्राह्मणों के ही अधीन थी। ज्ञान प्रदान करने के साथ ब्राह्मण वर्ग कृषि से लेकर व्यापार तक सब करने लगा था। एक ही वर्ण के होकर अलग-अलग कार्य करने के कारण अनेक उपजातियाँ भी बन गयी थीं। ब्राह्मण के साथ-साथ क्षत्रिय जातियाँ भी अनेक कार्यों को करते हुए जीविकोपार्जन करती थीं। वैश्य और शूद्र जातियाँ भी विभिन्न व्यवसायों को अपनाकर अनेक जातियों-उपजातियों में विभाजित हो गयी थीं, किन्तु शूद्र जातियों को समाज सम्मान प्राप्त नहीं था।

शिक्षा व्यवस्था के अभावमें सांप्रदायिक तनाव, सती प्रथा, पर्दा प्रथा तथा विविध प्रकार के अंध विश्वासों का बोलबाला था। अधिकतर समुदायों में सजातीय विवाहों की ही परंपरा थी, लेकिन राजा द्वारा विवाहों में बल प्रयोग करना आम बात थी। बहु विवाह का प्रचलन भी था। उच्च सामंती वर्ग के लिए स्त्री विलास की वस्तु से अधिक नहीं थी। जिस तरह से धन संपत्ति के लिए युद्ध हो जाया करते थे वैसे ही अब सुंदर नारी युद्ध का कारण हो गयी। समाज की इन मान्यताओं से साहित्य भी अछूता नहीं रहा। पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासो में कवि ने युद्ध का कारण सुंदर नारी को ही कल्पित किया है।

आदिकाल दो भिन्न संस्कृतियों की संगम स्थली है। एक ओर देशी रियासतें और गौरवशाली हिन्दू परंपरा का पतन हो रहा था तो वहीं दूसरी ओर इस्लामिक संस्कृति स्वयं को स्थापित करने का प्रयास कर रही थी। दोनों संस्कृतियाँ परस्पर प्रभावित हो रहीं थी और कर भी रही थीं, इसका प्रमाण उस समय के संगीत, मेले, उत्सव आदि में देखा जा सकता है। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों की संक्रमणशीलता का बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत किया है। विद्यापति स्पष्ट लिखते हैं, 'हिन्दू तुरके मिलल वास, एकक धम्मे अओका उपहास'।

आदिकालीन कला का स्वरूप धार्मिक था। तत्कालीन मंदिरों में वास्तु और मूर्तिकला के सुंदर नमूने दिखाई देते हैं। कोणार्क, भुवनेश्वर, खजुराहो तथा जैनियों द्वारा निर्मित गिर्नल के मंदिर वास्तु कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित खजुराहो के मंदिर धार्मिक सहिष्णुता के प्रतीक हैं। इस मंदिर में जैन, वैष्णव और शाक्त मतों का सम्मिश्रण हुआ है। तत्कालीन समय में हिन्दुस्तान पर इस्लामिक सत्ता स्थापित हो जाने के कारण मूर्ति कला को नुकसान पहुँचा था। मूर्ति पूजा के विरोधी होने के कारण नए शासकों ने इस कला को राजकीय संरक्षण नहीं दिया। इस काल में चित्रकला को राजकीय संरक्षण मिलने से उसका काफी विकास हुआ। आदिकाल में लोकभाषा हिंदी के साथ-साथ संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में भी साहित्य लिखा जा रहा था। राजदरबारों में कवियों को स्थान प्राप्त थे लेकिन राजा और प्रजा के बीच समरसता का अभाव था।

आदिकाल, हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का आरंभिक युग है। इस युग में वीर, श्रृंगार, धर्म और लोक पर आधारित रचनाएँ मिलती है । इसलिए इस काव्य में साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के दर्शन मिलते हैं। प्रवृत्तिगत भिन्नता के कारण ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस काल को 'भारतीय विचारों के मंथन' का काल कहा है। साहित्य की रचनाशीलता के आधार पर इस काल की काव्य प्रवृत्तियों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है।

आदिकाल की राजनीतिक परिस्थितियाँ युद्ध प्रधान थीं। इस काल में राष्ट्रीयता संपूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। गहरवार, चंदेल, चौहान, परिहार, सोलंकी आदि राजा अपने राज्य की सीमा को ही देश मानते थे। तत्कालीन शासकों के लिए अपनी सीमा की सुरक्षा ही प्रमुख थी, इससे अधिक की फ़िक्र वे नहीं करते थे। इन राजाओं में अखण्ड **राष्ट्रीयता का अभाव** दिखायी देता है। ये राजा आपसी कलह में पूर्णतः निमग्न रहते थे, अखण्ड भारत की संकल्पना से इनको कोई सरोकार नहीं था। इस काल के अधिकतर कवि राज्य के अधीन होते थे इसलिए वे अपने राजा के आलावा सभी को नीचा दिखने का प्रयास करते रहते थे। राजाश्रित होने के कारण ये कवि अपने राजा की झूठी-सच्ची प्रशंसा करते हुए उनको चक्रवर्ती सम्राट तक घोषित कर बैठते थे। इन कवियों की रचनाएँ राजाओं की खुशामद करने के लिए होती थी। राजाश्रय का आग्रह इतना आधिक था कि जयचंद्र जैसे देशद्रोही राजा की प्रशंसा में भी भट्ट केदार 'जयचंद्र प्रकाश' नामक ग्रंथ की रचना कर डाली।

आदिकाल **ऐतिहासिक अराजकता** का युग है। इन कवियों ने इतिहास के पात्र लेकर साहित्य लिखा है लेकिन ऐतिहासिकता का ठीक से पालन नहीं किया है। आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा करते हुए इन कवियों ने ऐतिहासिक तिथियों का मनमाना प्रयोग किया है। तिथियों की गड़बड़ी के कारण ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आदिकाल के सबसे प्रमुख ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' को जाली ग्रंथ घोषित कर दिया है। लगभग सभी रासो ग्रंथ जो किसी न किसी राजा की वीरगाथा पर आधारित हैं, ऐतिहासिक दृष्टि से अप्रामाणिक ही ठहरते हैं। कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की वीरता का वर्णन करने में इन राजाओं की लड़ाइयां ऐसे राजाओं से भी करा दी हैं जो उनके समयकाल में थे ही नहीं । आदिकालीन ऐतिहासिक रचनाओं में कवि विद्यापति की रचना 'कीर्तिलता' में ऐतिहासिकता का पालन देखने को मिलता है। इस रचना की अधिकतर घटनाएँ और तिथियाँ इतिहास सम्मत हैं।

आदिकाल में **आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा** कविता की खास प्रवृत्ति थी। यह युग स्वतंत्र काव्य लेखन का युग नहीं था। ये कवि राज्याश्रित थे, जिनको 'चारण कवि' की संज्ञा दी गयी। दरबारी होने के कारण इन कवियों के लिए राजाओं की प्रशंसा करना उनका कर्म भी था और मजबूरी भी । इन कवियों का प्रमुख कार्य राजाओं की वीरता, युद्धप्रियता, धर्मपरायणता,

दानप्रियता, ऐश्वर्य एवं धन-बल का बढ़ा-चढ़ा कर बखान करना था। इस तारीफ के बदले इन कवियों की जीविका चलती थी। इस युग में कविता लोक केन्द्रित न होकर दरबार केन्द्रित थी, आम जनता सिर्फ श्रोता थी, उसके सुख-दुःख से कवियों का कोई लेना-देना नहीं था।

आदिकाल में **वीर और श्रृंगार रस की प्रधानता** है। इस काल की रचनाओं में प्रायः वीर और श्रृंगार रसों का मिश्रित रूप दिखाई देता है। युद्ध उस समय की दरकार थे। कई बार इन युद्धों का कारण कमनीय स्त्री हुआ करती थी। या तो सुंदर कन्या से विवाह करने के कारण युद्ध हो जाते थे या फिर किसी युद्ध की परिणति कमनीय नायिका की प्राप्ति हुआ करती थी। कवि स्त्रियों का मोहिनी रूप प्रस्तुत करने के लिए नख-शिख वर्णन करते थे, जिससे प्रसन्न होकर राजा कवियों को सम्मानित करते थे। इस युग में वीर रस के साथ-साथ श्रृंगार भी सहयोगी रस के रूप उपस्थित रहा है। वीर रस के लिए श्रृंगार आलंबन का काम करता है। इस युग में वही कवि सम्मान पाता था जो राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या हरण और उसकी श्रृंगारिकता का अतिरंजनापूर्ण वर्णन करता था।

राजाश्रित कवि, राजाओं द्वारा लड़े गए **युद्धों का सजीव वर्णन** किया करते थे। यह सर्वमान्य है कि इस काल में वीर रस प्रधान रचनाएँ अधिक हुई हैं। इसी आधार पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल को वीरगाथाकाल नाम दिया है। इस काल में हो रहे युद्धों की मूल वजह उस काल की राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं। देश पर लगातार विदेशी आक्रमण हो रहे थे, साथ ही साम्राज्य विस्तार के लिए देशी राजा आपस में लगातार युद्ध करते रहते थे। आदिकालीन कवि राजाओं के आश्रित थे, अतः उनको चाहे अनचाहे राजा की महानता और उसके भुजबल का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना पड़ता था। ये कवि, रणक्षेत्रों, रथों, घोड़ों, हाथियों का दौड़ना, तलवारों, भालों की टकराती सनसनाहट का जीवंत वर्णन प्रस्तुत करते थे। इन युद्ध वर्णनों में पृथ्वीराज चौहान और मोहम्मद गौरी के बीच का युद्ध वर्णन, परमाल रासो में आल्हा उदल की वीरता का वर्णन, खुमाण रासो में राजा खुमाण की वीरता का वर्णन प्रमुखता से किया गया है। ये चारण कवि राजाओं का उत्साहवर्द्धन करते थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहें तो - "लड़ने वाली जाति के लिए सचमुच चैन से रहना असंभव हो गया था। क्योंकि उत्तर-पूर्व, दक्षिण, पश्चिम सब ओर से आक्रमण की संभावना थी निरंतर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग थे। उनका कार्य ही था हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली योजना का आविष्कार"।[1]

आदिकाल में **डिंगल-पिंगल भाषा** का प्रयोग मिलता है। इस काल में हिंदी भाषा अपभ्रंश से अपने अलगाव की सूचना देती है। डिंगल भाषा अपभ्रंश प्रधान भाषा है। इस भाषा का प्रचुर प्रयोग कवि विद्यापति के काव्य में दिखाई देता है। आदिकालीन कविता में पिंगल मिश्रित

राजस्थानी भाषा का प्रयोग भी मिलता है। मैथिली, ब्रज और खड़ी बोली में केवल मुक्तक काव्य ही लिखे गए, किन्तु डिंगल में अनेक प्रबंध काव्यों की रचना होते हुए देखी जा सकती है, जैसे - पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो आदि।

ख. धार्मिक साहित्य : स्वरूप एवं संरचना

आदिकाल, हिंदी साहित्य के विकास का काल है। इस काल में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की साहित्यिक रचनाओं के समांनातर हिंदी भाषा भी अपना रूप-आकार ग्रहण कर रही थी। विभिन्न परंपराओं के एक साथ विकसित होने के कारण आदिकालीन प्रवृत्तियों में केन्द्रीयता का अभाव दिखाई देता है। यहाँ आध्यात्मिक, श्रृंगारिक और वीरता प्रधान रचनाओं का विकास एक साथ होता है। इस क्रम में कालक्रमानुसार सर्वप्रथम धार्मिक साहित्य की परंपरा मिलती है। यह साहित्य रूढ़िवादी परंपराओं के विरुद्ध जनवादी वाणी को अभिव्यक्ति देता है। धार्मिक साहित्य के अंतर्गत सिद्ध, नाथ और जैन का विद्रोह मात्र धार्मिक न होकर समाज सापेक्षिक था। इस जनवादी साहित्य का प्रसार साहित्य से समाज के दूसरे क्षेत्रों में भी हुआ। इन रचनाकारों ने साहित्य में जनभाषा की प्रतिष्ठा पर जोर दिया। ये साधक घोषित रूप में कवि या साहित्यकार नहीं थे, न ही कविकर्म उनका पेशा था। वे सामाजिक विषमता के खिलाफ आवाज उठा रहे थे। इसी प्रक्रिया में अभिव्यक्त हुए उनके अनुभवों को आदिकालीन धार्मिक साहित्य की संज्ञा दी जाती है। यह साहित्य तीन भागों में विभाजित है।

आदिकालीन धार्मिक साहित्य के तहत सर्वप्रथम चौरासी **सिद्धों की रचनाएँ** सामने आती हैं। इस युग में ईसा की सातवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म का प्रसार प्रबल रूप से था। लोक संपर्क में आकर यह हीनयान और महायान दो संप्रदायों में बाँटा गया। हीनयान सन्यासी और विरक्त भिक्षुओं का संप्रदाय बना रहा और महायान जन-साधारण में समाहित होकर अनेक शाखाओं में फैल गया। महायान में बोधिसत्व के गुणों का मानवीकरण किया गया, जिसकी परिकल्पना देवी-देवताओं के समानांतर की गई। आचार-विचार की सहजता और कट्टरता के अभाव ने महायान को लोक ग्राह्य बनाया। बौद्ध धर्म की महायान शाखा में शैव और शाक्त उपासनाओं के योग से सहजयान और वज्रयान तंत्र साधना का विकास हुआ। चौरासी सिद्धों का सम्बन्ध बौद्ध धर्म की इसी वज्रयान शाखा से है। इनमें लुइपा, लीलापा, विरूपा, डोम्भीपा, शबरपा, सरहपा, कंकालिपा, कण्हपा, कुकरीपा के नाम प्रमुख हैं। इस संप्रदाय का प्रसार देश के पूर्वी भागों में अधिक था। सिद्धों का कार्य क्षेत्र प्रमुखता में असम, बिहार, बंगाल और नेपाल था।

तत्कालीन सामंतवादी समाज व्यवस्था और उच्च वर्ण के वर्चस्ववादी रवैये ने सिद्ध साहित्य के विकास में व्यापक योगदान दिया। शूद्र और स्त्रियाँ जो सामंतवादी समाज में सबसे ज्यादा उपेक्षित थीं, यह तांत्रिक साधना उनके लिए सुलभ थी। तांत्रिक साधना पर आधारित इस संप्रदाय ने व्यापक जन-समूह के ज्ञान को एक नई परंपरा से जोड़ दिया। यह परंपरा शास्त्र ज्ञान की जगह अनुभव पर आधारित थी। इसीलिए इस साधना का प्रसार बौद्ध धर्म तक सीमित न रहकर जैन और हिन्दू धर्मों में हुआ। तांत्रिक पद्धति ने हिन्दू और बौद्ध धर्म के अंतर को काफी हद तक कम कर दिया जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा। शक्तिपीठ हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण धार्मिक स्थान हो गए। इस क्रम में हिन्दू और बौद्ध धर्मों का अंतर लगभग समाप्त होता चला गया।

सिद्धों की रचनाएँ 'दोहाकोश' तथा 'चर्यापद', दो रूपों में मिलती हैं। दोहाकोश दोहों से युक्त चतुष्पदों की कड़वक शैली है। चर्यापद, बौद्ध तांत्रिक चर्या के समय गाए जाने वाले पद हैं, जो अनेक सिद्धाचार्यों द्वारा रचित हैं और एक जगह संकलित हैं। तंत्र से प्रभावित होकर इन सिद्धों ने अपने ज्ञान, साधना-पद्धति, हठयोग को अनुभूति के रंग में रंगकर जगत के सामने प्रस्तुत किया। इसके पीछे उनका उद्देश्य बौद्ध धर्म के निवृत्तिमूलक दुखवादी सिद्धान्त का निराकरण करके आनन्द की प्रतिष्ठा करना था। सिद्धों के लिए आनन्द आध्यात्मिक गहनता का प्रतिरूप है।

सिद्ध संप्रदाय में मन की वृत्तियों को नकारकर वैराग्यमयी साधना का शुष्क उपदेश नहीं है, बल्कि यहाँ जीवन की सहज स्वीकृति है। उनके यहाँ गैर सांसारिक राग त्याज्य है तो विराग का परित्याग भी आवश्यक है। कण्हपा की मानें तो राग के बिना शून्यताज्ञान व्यर्थ है। उनके अनुसार -

निस्तरंग सम सहज रूप, सकल-कलुष-विरहिए।
पाप-पुण्य-रहित किछु नाहि, काण्हे फुर कहिए ।।[2]

सिद्धों ने राग को राग से ही परिशमित करने का प्रयास किया है और यही उनके जीवन दर्शन का मूल है। राग की स्वीकृति के कारण ही उन्होंने शरीर को महत्वपूर्ण माना है। वज्रयान में निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवास सुख के समान बताया गया है। इसलिए सिद्धों के साहित्य में प्रणय के प्रसंग अधिक हैं। सिद्ध साहित्य में इस प्रणय प्रसंग के आध्यत्मिक अर्थ हो सकते हैं, लेकिन लौकिक अर्थ में भी यह प्रसंग बहुत महत्वपूर्ण हैं। कण्हपा जब डोम्बी नारी का चित्रण करते हैं तो उसमे लोक जीवन की डोम्बी नारी का चित्र उभरता है, जो अन्य डोम्बी नारियों की तरह नगर के बाहर रहती है, नृत्यांगना है, व्यापार में निपुण है। कण्हपा अपने दोहों में बार-बार गृहणी का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे नमक पानी में घुल कर एक हो जाता है, वैसे ही गृहणी को अपने चित्त में धारण करो। रहस्यात्मक अर्थ में गृहणी की प्रज्ञा महामुद्रा है, जिसको साधक (गृहस्थ) अपने

चित्त में धारण करना चाहता है। शबरपा एक शबरी बालिका का वर्णन करते हैं, जो प्रकृति के करीब है, वह दूर पर्वत निवासी है और जंगली फूलों से अपना श्रृंगार करती है। नायिका की यह अबोध सुंदरता उसे शास्त्र सम्मत नायिकाओं से अलग करती है। उसमें सामंती नायक-नायिका जैसा भोग-विलास नहीं है। नायिका यहाँ विलास की वस्तु नहीं है। इन प्रणय-प्रसंगों में लोक-जीवन के चित्र बहुत ही मौलिक और बिम्ब सर्वथा नवीन हैं। सिद्ध रचनाओं में अभिव्यक्त हुए पात्र उस दलित-पीड़ित समाज के प्रतीक रहे हैं, जिनको अभी तक साहित्य में स्थान नहीं मिला था। डोम्बी और शबरी का वर्णन अभिजात्य साहित्य से अलग और नवीन है। सिद्धों की रचनाओं का साहित्य विकास में सबसे बड़ा योगदान यही है कि इन कविताओं के नायक समाज के निम्न और उपेक्षित वर्गों से निकले हैं। सिद्ध गुरुओं ने धार्मिक रूढ़ियों का जमकर खंडन किया। सरहपा घर में बैठकर अग्नि-होम करने वालों का मजाक उड़ाते हैं। सिद्ध परंपरागत सामाजिक अनुशासन के प्रति उदासीन रहते हुए पंडितों के कर्मकांडों की खूब आलोचना की है। कण्हपा के अनुसार-

आगम वेअ पुराणहिं पंडिअ मान वहन्ति।
पक्क सिरीफलं अलिय जिम बाहेरी अभ्यन्ति।[3]

अर्थात पंडित वेदपुराण पढ़कर मान करते हैं, लेकिन वे तत्व की बात से अनजान ही रहते हैं। वे भंवरे के समान पके बेल के आस-पास बस चक्कर ही लगाते रहते हैं। तत्कालीन समाज वर्णव्यवस्था के दुष्चक्र में जकड़ा हुआ समाज था। इन परिस्थितियों में सिद्धों ने एक नया सामाजिक विकल्प प्रस्तुत किया और नए शोषण-मुक्त समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की है।

सिद्ध साहित्य में वाह्यसाधना का स्वीकार्य होते हुए भी उनका जोर अंतःसाधना पर अधिक है। उन्होंने तत्व ज्ञान के बिना की जाने वाली चर्या पद्धति को निरर्थक माना है। ये कवि अंतःसाधना के लिए गुरु की महत्ता को स्वीकार करते हैं। तिलोपा का मानना है कि समस्त लोक तथा पंडितों के लिए भी परमतत्व अगोचर है लेकिन गुरु को प्रसन्न करके हर वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है। सरहपा भी सद्गुरु की कृपा से ही सत्य की प्राप्ति मानते हैं। सिद्धों ने गुरु को आदरपूर्वक 'वरगुरुपाद' या 'श्री गुरुनाथ' कहा है। गुरु के प्रति इस अटल भक्ति का कारण तंत्र साधना पद्धति है। सरहपाद के अनुसार –

निज मन सव्वै शोधिय जब्बै। गुरु-गुण हृदये पइसइ तब्बै।।
ऐस समुझि मन साढ़े गाहेउ। तंत्र-मन्त्र नहिं एकहु चाहेउ।।[4]

सिद्धों ने अपने विद्रोही तेवर के साथ सामाजिक रूढ़ियों और साहित्य की आभिजात्य भाषा दोनों पर प्रहार किया। सिद्धों के साहित्य की अभिव्यक्ति अपभ्रंश के स्थान पर जनभाषा में हुई है। उनकी अनुभूति और भाषा दोनों ही लोकोन्मुख थी। हालाँकि उन्होंने अपनी दार्शनिक अनुभूति को

अभिव्यंजित करने के लिए प्रतीक भाषा का प्रयोग किया है, जिसको विद्वानों ने 'संधा भाषा' कहा है। इस भाषा में शब्दों के दोहरे अर्थ होते हैं। इनके आन्तरिक और बाह्य अर्थ अलग-अलग होते हैं। इसे सामान्यतः उलटबासी कहा जाता है। ऐसी भाषा सिर्फ सिद्धों के दार्शनिक पदों में ही देखने को मिलती है।

सिद्धों की रचनायें अपने समय के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करते हुए सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ प्रतिरोध करती हैं। यद्यपि उनके साहित्य में भी तंत्र-मंत्र और पाखंड व्याप्त है, फिर भी यह साहित्य जनपक्षधरता का वहन करता है। इस मत में साम्प्रदायिक विसंगतियों के बावजूद तर्क और विचारशीलता है। सिद्ध साहित्य में प्रबंध और खंड काव्य के स्थान पर गीति और मुक्तक काव्यों की रचना हुई है। साहित्य में भाषा, बिंब, अनुभूति हर क्षेत्र में सिद्धों का योगदान मौलिक है। इन साधकों ने साहित्य में नए सौन्दर्य बोध को प्रस्तावित किया है।

नाथ संप्रदाय के उदभव को लेकर विचारकों में मतभेद हैं, लेकिन यह निश्चित है कि इनका जन्म सिद्धों की वाममार्गी साधना पद्धति की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। वाममार्गी साधना लोकाचार से हटकर मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन पर केन्द्रित हो गयी थी। सिद्धों की इस साधना पद्धति से अलग होकर नाथों ने लोक जीवन में शुचिता, अहिंसा, और आचरण की पवित्रता जैसे श्रेष्ठ मानवीय मनोभावों को महत्व दिया। इनके पंथ का वैचारिक आधार शैव-दर्शन और पतंजलि का हठयोग है। नाथ परंपरा में मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु जलंधरनाथ माने गए हैं। आचार्य शुक्ल का मानना है कि मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ ने सिद्धों से अपनी परंपरा अलग की और पंजाब की ओर चले गए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार - "गोरखनाथ के नाथ पंथ का मूल भी बौद्धों की यही वज्रयान शाखा है। चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ (गोरक्षपा) भी गिन लिए गए हैं। पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना नाम अलग कर लिया"।[5] गोरखनाथ अपने युग के महान धार्मिक नेता थे। गोरखनाथ के रचनाकाल के संदर्भ में विद्वानों में मतभेद है। राहुल सांकृत्यायन ने इनका समय दसवीं शताब्दी माना है, जिसका समर्थन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनका रचनाकाल बारहवीं शताब्दी माना है। नाथों की संख्या नौ है। सामाजिक मर्यादा के कुछ मुद्दों को छोड़कर सिद्धों और नाथों की रचनाओं में व्यापक समानता थी। इन दोनों ने जातिप्रथा, छुआछूत, धार्मिक मतभेद, मूर्तिपूजा आदि बाह्याडम्बरों का विरोध किया।

नाथों का प्रभाव देश के कोने-कोने तक फैला हुआ था, किन्तु पश्चिम भारत से इनका विशेष सम्बन्ध था। इनकी सबसे बड़ी विशेषता क्षेत्र विशेष की स्थानीय संस्कृति के साथ संवाद करना था, जिसमें सभी धर्मों के लोग शामिल होते थे। नाथपंथ धर्म-निरपेक्ष था। इस संप्रदाय की योग साधना हिन्दू और मुस्लमान दोनों धर्मों में सहज प्रचलित थी। मुसलमान जोगी भी कलिकाल के राजा भरथरी के गीत गाते थे। नाथपंथ खुले मन से सभी धर्मों के लोगों को आमंत्रित करता है, उनकी

सनातन धर्म में भी आस्था है और वे मुस्लिम धर्म में भी विश्वास करते हैं, उनका किसी से कोई विवाद नहीं है। गोरखनाथ कहते हैं –

कोई वादी कोई विवादी जोगी कौं वाद न करनां।[6]

साहित्यिक दृष्टि से नाथ परंपरा में गोरखनाथ, चौरंगीनाथ, गोपीचंद चुणकरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, भरथरी का नाम प्रसिद्ध है। इनमें से सभी के साहित्य की प्रामाणिकतासंदिग्ध है। इनमें गोरखनाथ के अतिरिक्त अन्य सभी का अधिकांश साहित्य संस्कृत में है। नाथों के जो पद लोक-भाषा में मिलते भी हैं वे कालक्रम के अनुसार परवर्ती जान पड़ते हैं। इस संदर्भ में पीताम्बरदत्त बडथ्वाल द्वारा सम्पादित 'गोरखबानी', डॉ कल्याणी मल्लिक द्वारा सम्पादित 'मत्स्येन्द्र, भरथरी, गोपीचंद की रचनाओं का सिद्ध सिद्धान्त पद्धति एंड अदर वर्क्स आफ नाथ योगीज', डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ', एवं नागेन्द्रनाथ उपाध्याय की पुस्तक 'गोरखनाथ' में कुछ पद संकलित हैं। इन पुस्तकों के आधार पर नाथ साहित्य के साहित्यिक मर्म को समझा जा सकता है।

नाथपंथी घोषित कवि या साहित्यकार न होकर सामाजिक विचारक थे। वे अपने अनुभव और संवेदना को समाज में प्रसारित करना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने कोई पोथी या पुस्तक नहीं लिखी। मौखिक परपरा के द्वारा नाथों की वाणी समाज में संप्रेषित होती रही। इसीकारण कालांतर में उनकी वाणी की भाषा और भाव दोनों परिवर्तित होते रहे। नाथ साहित्य धीरे-धीरे लोक साहित्य में रूपांतरित होता गया। नाथों का 'जोगीड़ा' आज भी पूर्वी भारत में प्रचलित है। 'जोगीड़ा' अनुभव सिद्ध ज्ञान की परिपक्वता को अभिव्यक्त करता है। नाथ मनुष्य के विवेक को प्रामाणिक मानते हैं, और उसको जीवन की कसौटी स्वीकार करते हैं। इसके आधार पर वे सामाजिक पाखंड की आलोचना करते हुए कहते हैं –

गंगा के नहाये कहो को नर तरिगे मछरी न तरी जाको पानी में घर'।[7]

अधिकतर नाथपंथी सैलानी थे। उन्होंने देश के विभिन्न प्रदेशों में यात्रायें की और वहां की संस्कृति और भाषा की विशिष्टता को खुले दिल से स्वीकार किया। यात्रा के क्रम में नाथों ने एक संपर्क भाषा भी विकसित की, जिसमें पूर्वी प्रदेश की भाषा, ब्रज भाषा, खड़ी बोली, राजस्थानी और पंजाबी के शब्द हैं। शुक्ल जी इसी भाषा को सधुक्कड़ी भाषा कहते हैं। उनके अनुसार - "कबीर आदि संतों को नाथपंथियों से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले, उसी प्रकार 'साखी' और 'बानी' के लिए बहुत कुछ सामग्री और 'सधुक्कड़ी' भाषा भी"।[8]

नाथ साहित्य में अन्तः साधना को महत्वपूर्ण माना गया है। नाथों का मानना है कि 'जोइं-जोइं पिण्डे, सोइं ब्रह्मांडे' अर्थात जो शरीर में है वही ब्रह्माण्ड में है। इस अनुभूति को प्रकट करने के लिए उन्होंने सिद्धों की तरह ही उलटबासी का प्रयोग किया है। इसके पीछे नाथों का तर्क था कि सिद्धि की अवस्था में पहुंचकर साधक का कायाकल्प हो जाता है और वह लोक व्यवहार को विपरीत दृष्टि से देखने लगता है। नाथ संप्रदाय जोगी की आचरण की शुद्धता पर सबसे ज्यादा बल देते हैं। सिद्धों की तरह यहाँ भी गुरु का महत्व स्वीकार किया गया है, तत्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु का होना जरूरी है। नाथ पंथियों ने भक्तिकालीन ज्ञानमार्गी शाखा की नीवं डाली। कबीर के साहित्य में साधना और भावना दोनों स्तरों पर नाथ पंथ का स्वीकार देखा जा सकता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - "कबीरदास का स्वर बिलकुल इन योगियों से मिलता-जुलता है। योगियों के पूर्ववर्ती सहजयानी साधकों में भी यह बात पाई जाती है और भी टटोला जाये तो यह परंपरा बहुत पुरानी प्रतीत होगी। जो लोग कबीरदास की इस प्रकार की उक्तियों को विदेशी साधकों से प्रभावित बताते हैं वे न जाने क्या सोचते रहते हैं। कबीर ने जब कहा था कि पोथी पढ़-पढ़कर सारा संसार मर गया पंडित कोई नहीं हुआ, केवल प्रियतम को मिलने वाला एक ही अक्षर पढने वाला पंडित हो जाता है। तो वे गोरखपंथी योगमार्गियों के स्वर में बोल रहे थे"।[9] हिंदी साहित्य में योगमार्गी निर्गुण काव्य परंपरा का वैचारिक आधार तैयार करना नाथ पंथ की सबसे बड़ी उपलब्धि रही है।

धार्मिक साहित्य के तीसरे भाग में **जैन साहित्य** को रखा जाता है। बौद्धों का कर्मक्षेत्र पूर्वी प्रदेश था, और जैन साधुओं ने पश्चिमी प्रदेश को अपने मत की स्थापना का केन्द्र बनाया। इन साधुओं ने अपने मत के प्रचार के लिए जन-भाषा को अपना आधार बनाया, इनकी अधिकांश रचनाएँ अपभ्रंश भाषा में लिखी गयी हैं, जिसका परवर्ती हिंदी साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। आदिकाल में उपलब्ध अन्य साहित्यिक ग्रंथों के समान जैन साहित्य को लेकर प्रामाणिकता-अप्रामाणिकताका विवाद नहीं है। धर्म का संरक्षण प्राप्त होने से जैन साहित्य का स्वरूप मठों और पुस्तकालयों में सुरक्षित रहा है। इस साहित्य में जीवन का अद्‌भुत सौन्दर्य देखने को मिलता है। मानवीय मनोभाव की जटिलता को जैन रचनाकारों ने गहराई से अभिव्यक्त किया है।

जैन कवियों ने पौराणिक विषयों को आधार बनाकर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में विपुल साहित्य की रचना की, जिसमें प्रधानता अपभ्रंश काव्य की है। इस साहित्य में धर्म और जीवन के उपदेशों का विलक्षण संयोग देखने को मिलता है। जैनियों ने पौराणिक या जैनाचार्यों को नायक बनाकर अपभ्रंश भाषा में प्रबंधकाव्य लिखे। मध्यकाल में ब्राह्मण और जैनों ने पुराण साहित्य की रचना की। अत्यधिक मताग्रह के चलते पुराण साहित्य में सहज मानवीय दशाओं का स्वाभाविक

विकास नहीं हो पाया। फलस्वरूप इस साहित्य में काव्यत्व कम होता गया और दार्शनिक मतवाद का आग्रह प्रबल होता गया। इस क्रम में स्वयंभू के पौराणिक काव्य अपवाद की श्रेणी में आते हैं।

'पउमचरिउ' स्वयंभू द्वारा रचित काव्य है। इसमें तिरासी संधियां स्वयंभू द्वारा लिखित हैं, और बाद में सात संधियाँ उनके पुत्र त्रिभुवन ने लिखकर काव्य को पूरा किया। अन्य जैन काव्यों की तरह इस काव्य के आरम्भ में ब्राह्मण धर्म की आलोचना की गयी है, जो सामाजिक आग्रह मालूम होती है। सिद्ध और नाथों की तरह जैन भी सामाजिक असमानता के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे। 'पउमचरिउ' रामकथा पर आधारित काव्य है। इस काव्य में राम साधारण मनुष्य के समान ख़ुशी और दुःख का अनुभव करते हैं। सीता का चरित्र करुणा से युक्त है जो बाद में वैराग्य धारण कर लेती हैं। स्त्री करुणा को रचकर कवि ने सामंती समाज के भीतर स्त्री की दशा को उकेरने का प्रयास किया है। काव्य की कथा धार्मिक है लेकिन उसमें जीवन के स्वाभाविक चित्र भरपूर हैं।

'महापुराण' पुष्पदंत द्वारा रचित एक महाकाव्य है, जिसमें जैन धर्म के तिरसठ महापुरुषों का वर्णन है। धार्मिकता के स्थान पर मानव जीवन को अभिव्यंजित करना इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। 'नागकुमार चरित' या 'णायकुमार चरिउ' पुष्पदंत की अन्य रचनाएँ हैं। नागकुमार के अनेक विवाहों का वर्णन, व्रत के प्रसंग, नख-शिख वर्णन, श्रृंगार आदि के अनेक प्रसंग इस कृति में मिलते हैं। रचना के अंत में वैराग्यपूर्ण वातावरण का वर्णन काव्य के लौकिक प्रसंगों को आध्यात्म का आवरण दे देता है। जैन काव्यों में कई जगह धर्म ने लौकिकता को आच्छादित कर लिया है। विचारधारा की प्रबलता ने रचना के अंत में वैराग्य का महिमामंडन किया है। धनपाल की 'भविस्यत्त कहा' जैन साहित्य की मत्वपूर्ण कृति है, इसमें भी लौकिक और धार्मिक अनुभूतियों के बीच द्वंद्व देखा जा सकता है। इस कथा में भविस्य्दत्त की विजय उसके धर्मपरायण होने के कारण ही होती है।

जैन साहित्य में चरित काव्यों के साथ-साथ मुक्तक काव्य भी लिखे गए हैं। ये रचनाएँ दो तरह की हैं, प्रथम प्रकार की रचनाएँ साधकों को केन्द्रित करके लिखी गयी हैं। यह रहस्यात्मक अनुभूति पर आधारित काव्य है। दूसरी प्रकार की रचनाएँ, रास, फाग, चर्चरी आदि हैं जो श्रावकों को तीर्थ, व्रत, उपवास आदि का उपदेश देने के उद्देश्य से लिखी गयी हैं।

सिद्ध और नाथ साहित्य के समान जैन साहित्य में भी रहस्यानुभूति का प्रभाव देखने को मिलता है। 'परमात्मप्रकाश', 'योगसागर', 'पाहुड़ दोहा' जैन साहित्य की उल्लेखनीय रहस्यवादी रचनाएँ हैं। परमात्मप्रकाश में ईश्वर को सृष्टि का नियंता माना गया है। जोइंदु के अनुसार परमात्मा को वेद और शास्त्रों के माध्यम से नहीं जाना जा सकता है, सिर्फ ध्यान द्वारा उसकी अनुभूति की जा सकती है।

जैन साहित्य के उत्तरार्द्ध की रचनाओं में रास ग्रंथों की अधिकता दिखाई देती है। रास काव्य ताल के साथ गाया जाता था, इसीलिए इसमें नृत्य, संगीत का समावेश स्वाभाविक रूप से हो गया। रास काव्य प्रबंध और मुक्तक दोनों शैलियों में लिखे गए। हिंदी साहित्य में जैन कवियों से इतर भी अनेक रासो ग्रंथ लिखे गए हैं। काव्य विषय के आधार पर रासो ग्रंथ उपदेशमूलक, श्रृंगारमूलक, और वीररसात्मक रूप में मिलते हैं।

रास काव्य में सर्वप्रथम उपदेशमूलक रचनाएँ आती हैं। ये ग्रंथ धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। इस साहित्य में गृहस्थ, धर्म-पालन का उपदेश दिया जाता है। इन ग्रंथों का उद्देश्य पूजा, अहिंसा, व्रत-पालन, कीर्तन आदि में मन लगाना तथा काम-क्रोध आदि विकारों से दूर रहने की सलाह देना है। जिनदत्त सूरि का 'उपदेश रसायन रास' नृत्य गीत परक रास परपरा की प्रथम रचना है। इस ग्रंथ के रचनाकाल का प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु जिनदत्त सूरि की एक अन्य रचना के आधार पर कुछ विद्वानों ने इसका रचनाकाल 1200 वि. के आस-पास माना है। इस रचना की भाषा अपभ्रंश है और इसमें काव्य तत्व के प्रतिमानों का अभाव पाया जाता है। 'बुद्धिरास' की रचना शालिभद्र सूरि ने की है। 'उपदेश रसायन रास' की तरह इस रचना का उद्देश्य भी धर्मोपदेश है। 'जीवदयारास' की रचना आसगु कवि ने सं. 1257 वि. में की थी। ग्रंथ के नाम के अनुसार ही इस रचना में जीवों पर दया करने का उपदेश दिया गया है। 'चंदनबाला रास' में कवि आसगु ने धार्मिकता के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ समाज में नारी की दयनीय दशा का चित्रण किया है। इस कृति में चंदनबाला का अपहरण करके उसको एक सेठ के यहाँ बेचा जाता है, जहाँ तमाम कष्ट सहकर भी वह अपने नारीत्व की रक्षा करने में सफल होती है। रेवंतगिरी रास की रचना विजयसेन सूरि ने की। इस ग्रंथ में गिरिनार के जैन मंदिरों के जीर्णोद्धार की कथा कही गयी है। 'कच्छुलि रास' के रचनाकार का नाम अज्ञात है। इस ग्रंथ की रचना सं. 1363 वि. में हुई। अन्य ग्रंथों की तरह इस रचना का उद्देश्य जैन तीर्थ स्थान का वर्णन करना है।

जैन रास परंपरा के अगले क्रम में श्रृंगारमूलक रासो ग्रंथ आते हैं। इस श्रेणी में आने वाली रचनाएँ श्रृंगार रस से परिपूर्ण हैं। यहाँ महत्वपूर्ण रासो ग्रंथों को केंद्र में रखकर उनका वर्णन किया जा रहा है। 'संदेश रासक' कवि अद्दहमाण द्वारा रचित 11 वीं शताब्दी की रचना है। विप्रलंभ श्रृंगार को केंद्र में रखकर लिखी गयी इस रचना में 223 छंद मिलते हैं। विजयनगर (जैसलमेर) की विरहणी नायिका परदेश में बसे अपने पति के पास संदेश भेजना चाहती है। नायिका राह चलते पथिक को संदेश वाहक बनाती है, और उससे मन की व्यथा सुनाने लगती है। संदेश बताने का यह सिलसिला इतना लम्बा हो जाता है कि वह समाप्त ही नहीं हो पता है। जैसे ही पथिक चलने को होता है नायिका अपनी व्यथा कहने लगती है। कवि द्वारा संदेश बताने के इस क्रम में ही षडऋतु वर्णन किया गया है। ऋतु वर्णन समाप्त होते ही पथिक चल पड़ता है और उसी समय नायक भी

आता हुआ दिखाई देता है। 'संदेश रासक में वियोग श्रृंगार का सुंदर वर्णन किया गया है। 'मुंजरास' का समय सं. 1031 से 1052 वि. माना जाता है। यह रचना मुंजराज के चरित्र को केंद्र में रखकर लिखी गयी है। कर्णाटक के राजा तैलप से मंजुराज की दुश्मनी थी। राजा तैलप की शक्ति का अंदाजा लगाये बिना मुंजराज ने उसपर आक्रमण कर दिया। मुंज को पराजित करके बंदी बना लिया गया। बंदीगृह में तैलप की विधवा बहन भी बंदी थी। मुंज को उससे प्रेम हो गया। मुंज उसको लेकर बंदी गृह से भाग जाना चाहता था किन्तु मृणालिनी उसके लिए तैयार नहीं थी। उसने इस योजना की जानकारी अपने भाई को दे दी। तैलप ने ये जानकर मुंज को हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया। 'बीसलदेव रासो' मुख्यतः विरह काव्य है। इसके रचयिता नरपति नाल्ह हैं। रचनाकार ने इसका समय सं. 1212 वि. होने का संकेत दिया है। इस काव्य में अजमेर के नरेश बीसलदेव के परदेश जाने, उसकी रानी द्वारा संदेश भेजने तथा बीसलदेव के वापस आने की कथा कही गयी है। कवि ने रानी की विरह व्यथा का बेहद मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है।

जैन रास परंपरा में तीसरे क्रम में वीरगाथात्मक रासो ग्रंथों को रखा जाता है। ये ग्रंथ वीरता, शौर्य और ओज से परिपूर्ण हैं। 'भरतेश्वर बाहुबली रास' की रचना शालिभद्र सूरि ने सं. 1241 वि. में की है। इस रचना में अयोध्या के राजा के दो पुत्रों भरतेश्वर और बाहुबली के बीच राज्य प्राप्ति के लिए हुए संघर्ष की कथा है। दोनों में तेरह दिनों तक भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध और सेना के वर्णन के साथ ही शालिभद्र सूरि ने हिंसा का विरोध करते हुए सामंती समाज में युद्ध की विभीषिका का वर्णन किया है। 'पृथ्वीराज रासो' की रचना चौदहवीं शताब्दी में कवि चंद वरदायी ने की है। इसका कथानक भारतीय सामंतों की वीरता और गौरव गाथा से ओत-प्रोत है। कवि ने नायक पृथ्वीराज चौहान के विवाह, विजय, युद्ध और आखेट वर्णनों की सुंदर झांकी प्रस्तुत की है। इस ग्रंथ में वीर और श्रृंगार रस का अद्‌भुत समन्वय देखा जा सकता है। पृथ्वीराज चौहान की यश गाथा गाना ही कवि का प्रधान उद्देश्य रहा है। 'विजयपाल रासो' की रचना सं. 1607 वि. के नल्ह सिंह भाट द्वारा हुई। इस कृति में विजयपाल की दिग्विजय का काव्यात्मक वर्णन किया गया है। 'परमाल रासो' के रचनाकाल को लेकर व्यापक विवाद हैं। इस कृति में महोबा के दो वीरों आल्हा और ऊदल की वीरता का सरस बखान किया गया है। इस रचना की विशेषता इसकी लोकग्राह्यता है। बुन्देलखंड में आज भी इस रचना को पूरे रस और ताल के साथ गाया जाता है। 'खुमाण रासो' के रचयिता दलपति विजय हैं। इसका रचनाकाल 17 वीं शताब्दी माना जाता है। इस कृति में सूर्यवंशी सम्राटों की वीरता और विजय का वर्णन किया गया है। 'हम्मीर रासो' में हम्मीर के वीर चरित्र का बखान किया गया है। इन ग्रंथों की चर्चा से स्पष्ट है कि हिंदी साहित्य में रासो ग्रंथों की एक समृद्ध परंपरा रही है। यह परंपरा आदिकाल से लेकर 19 वीं शताब्दी तक विद्यमान रही।

हिंदी साहित्य में उपदेशमूलक धार्मिक ग्रंथों का महत्व अधिक नहीं है किन्तु श्रृंगारिक और वीरता परक काव्यों का स्थान अद्वितीय है।

जैनाचार्यों ने अपभ्रंश भाषा के व्याकरण ग्रंथों की रचना की है। आचार्य हेमचन्द्र का सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन' अपभ्रंश का व्याकरण ग्रंथ है, जिसकी रचना 1143 ई के आस-पास हुई। इस ग्रथ में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं का समावेश हुआ है। अपभ्रंश के साहित्य में जैन आचार्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। जैन आचार्यों ने जैन धर्म के आवरण को बरकरार रखते हुए सामाजिक विसंगतियों पर प्रश्न उठाये। "अपभ्रंश के धार्मिक और ऐहिक काव्य में नए जीवन का उत्साह और आवेग, सरलता और सादगी, शक्ति और सौंदर्य, जीवंतता और प्रत्यग्रता का अनुभव होता है। उसमें लोक कथाओं और लोक गीतों का जीवंत स्पर्श मिलता है। इन सब विशेषताओं का यही कारण है कि जैन विद्वानों और मुनियों, बौद्धों, सिद्धों और इतर मतानुयायी कवियों द्वारा लिखे जाने पर भी अपभ्रंश साहित्य सामान्य लोक-जीवन के गहरे संपर्क में था"।[10] बेशक अधिकतर जैन साहित्य जैन धर्म के प्रसार हेतु ही रचा गया था, लेकिन इस साहित्य की लोकोन्मुखता इसका प्राण रही है। इस साहित्य के माध्यम से जैन साधकों ने सामाजिक विसंगतियों का यथार्थ चित्रण किया है, जो इस साहित्य को महत्वपूर्ण और प्रासंगिक बनाती है।

ग. लौकिक साहित्य : स्वरूप और उपादेयता

आदिकाल में दरबारी साहित्य और धार्मिक साहित्य के समानांतर लोक-जीवन में सहजता भी देखने को मिलती है, जिसको लौकिक साहित्य कहा जाता है। चारण साहित्य जहाँ दरबारों और शास्त्रीय रूढ़ियों में बंधकर जन-मानस से दूर हो गया वहीं लोक कवियों ने साहित्य की जन केन्द्रीयता को कायम रखा। मात्रात्मक रूप में इन रचनाओं की संख्या कम है, लेकिन वास्तविक अर्थ में इस साहित्य ने 'देश-भाषा' के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आदिकाल में मुल्तान (संदेश रासक), राजस्थान (ढोला मारु रा दूहा), दिल्ली (पहेलियाँ और मुकरियां), मिथिला (पदावली) और अवध (उक्ति व्यक्तिप्रकरण) से लौकिक साहित्य प्राप्त हुआ है। इन रचनाओं पर स्थानीयता का गहरा रंग देखने को मिलता है, जिसके माध्यम से उस स्थान विशेष, उसकी भाषा और संस्कृति को समझा जा सकता है।

संदेश रासक लौकिक साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है, इसकी रचना बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में मुल्तान के आस-पास हुई थी। इस रचना की भाषा अपभ्रंश है, लेकिन यह अपभ्रंश बोलचाल की भाषा से युक्त है। बोलचाल की भाषा के निकट होने के कारण ही संदेश रासक में लोक संवेदना के

सहज चित्र उपलब्ध हैं । राहुल सांकृत्यायन ने संदेश रासक को पहले मुसलमान कवि की हिंदी रचना कहा है । समूची रचना में प्रतीत होता है कि कवि हिंदी काव्य परंपरा के परम ज्ञाता हैं । इस रचना के दोहों में नवीनता के साथ-साथ मधुर शब्दों का चयन प्रमुखता से हुआ है । परंपरागत होने के बावजूद इस रचना के उपमान हृदयस्पर्शी और मार्मिक हैं । अब्दुल रहमान ने एक तरफ मनुष्य के भाव श्रृंगार को अपनी रचना का आधार बनाया है, दूसरी तरफ वे लोक जीवन की सहज सामान्य भावनाओं को अभिव्यक्ति देते हैं । रचनाकार ने सरोवर में खिले नलिनी के सौन्दर्य का वर्णन करने की जगह पर गाँव गली की वीथियों में, बाड़ों में लगी तूंबी या लौकी के फूलों में काव्यात्मकता की तलाश की है -

ता कि वा विलाग्गा माँ विअसउ तुंविणी कहवि ।।[11]

संदेश रासक एक दूत काव्य है । यह काव्य परंपरा संस्कृत और प्राकृत से होकर अपभ्रंश काव्यों तक आती है । संदेश रासक तीन प्रक्रमों में विभाजित है, पहला भाग प्रस्तावना है, दूसरे भाग में मूल कथा है, तीसरे भाग में षडऋतु का वर्णन हुआ है । मंगलाचरण, आत्म-परिचय, षडऋतु वर्णन तथा रूप वर्णन जैसी शास्त्रीय रूढ़ियों से युक्त होने के बावजूद यह काव्य स्त्री करुणा का अद्वितीय उदाहरण है । संदेश रासक की मूल आत्मा लोकानुभूति है, शास्त्रीय रूढ़ियां काव्य की संरचना मात्र हैं । काव्य-कथा में विजय नगर की नायिका का वर्णन है, जिसका पति धन कमाने के लिए खंभात चला गया है । नायिका नायक के विरह में शोकाकुल होकर अपनी व्यथा को नायक तक संप्रेषित करना चाहती है । वह एक पथिक के द्वारा प्रियतम को संदेश भेजती है । नायिका की इस विरह में प्रकृति भी उसकी अनुचरी बन जाती है । ऋतु वर्णन में कवि की दृष्टि बेजोड़ है । शरद ऋतु में प्रिय के विरह से व्याकुल होकर नायिका कहती है कि जिस देश में प्रिय जाकर बसा है क्या वहां इस ऋतु का कोई प्रभाव उसको दिखाई नहीं देता होगा ? या वह इतना अरसिक हो गया है कि उसको ऐसे समय में भी घर की याद नहीं सता रही है –

की तहि देस णहु फुरइ जुन्ह णिम्मल चंदह
अह कलरउ न कुणन्ति हंस फलसेवि रविंदह ।...
अह मुणिउ पहिय! अणरसिउ पिउ, सरइ समझ जु न सरइ घरु ।।[12]

काव्य में प्रकृति का वर्णन नायिका के हृदय का प्रतिरूप बन गया है । भक्तिकाल में जायसी द्वारा किया गया नागमती का विरह वर्णन बहुत कुछ संदेश रासक से मिलता-जुलता है। अब्दुल रहमान ने नायिका की विरहानुभूति की तीव्रता बढ़ने के लिए कई जगह नाटकीय कौशल का सहारा लिया है । यह नाटकीयता नायिका और पथिक के संवादों में दिखाई देती है । संदेसा कहते-कहते

नायिका इतना रोने लगती है, कि पथिक से सहा नहीं जाता है । पथिक मानवीय करुणा और सहानुभूति का जीवंत उदाहरण है । वह कहता है अपने आंसुओं को रोको और जाते हुए पथिक का अमंगल मत करो । इस बात पर नायिका अत्यधिक सरलता से कहती है कि मैं रो नहीं रही हूँ, यह तो मन की विरहाग्नि के धुंए से मेरी आखों में पानी आ रहा है -

मइँ न रुन्नु विरहग्गि धूम लोयण सवणु ।[13]

नायिका की व्यथा उसके मन में लगातार टीस उत्पन्न करती रहती है। उसकी विरह गाथा में जितनी मार्मिकता है, उतनी ही अधिक विदग्धता भी । पथिक नायिका का संदेसा सुनकर तीव्र गति से आगे बढ़ता है । पथिक की गति से प्रभावित होकर नायिका उसे पकड़ने के लिए लगभग दौड़कर आगे बढती है । पर नायिका की दौड़ कहीं उसकी आदर्श छवि को बिगाड़ न दे इसलिए रचनाकर ने उसकी स्वाभाविक चाल मंथर गति की है यह स्पष्ट कर दिया है। उतावली में किये गए इस कार्य से नायिका की करधनी खुल जाती है । जब तक वह इसको बाँध पाती, उसके गले में पड़ा हार टूट जाता है । किसी तरह से नायिका उठती-पड़ती-रूकती-गिरती आगे बढती है कि पति को संदेश भेजने की अकुलाहट में उसके सर से आंचल सरक जाता है। आंचल का सर से सरक जाना भारतीय स्त्री की गरिमा को ठेस न पहुँचा दे, इसलिए वह तुरंत अपना सर ढक लेती है -

फुडवि णित्त कुप्पास विलाग्गिय दर सिहणा ।[14]

इस पूरे घटना क्रम में नायिका के उपरी वस्त्र फट जाते हैं, ऐसी दशा में भी वह पथिक के पास पहुंचकर अपना दुःख सुनाने लगती है । नायिका की ऐसी बावली स्थिति देखकर पथिक स्तब्ध रह जाता है । ऐसी दशा में वह न आगे बढ़ पाता है, न पीछे लौट पता है। पथिक की अचंभित दशा का वर्णन रचनाकर ने बखूबी किया है । संदेश लेकर पथिक ज्यों ही प्रस्थान करता है कि विरहिणी का प्रिय दिखाई पड़ जाता है और यहीं काव्य की समाप्ति हो जाती है । रचनाकार ने कथा की बनावट में पारंपरिक चयन के विपरीत नायक और नायिका का चुनाव जन सामान्य की कथा-व्यथा से किया है। शब्दों का चयन हो या वाक्यों का संयोजन हर जगह भावों का सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। 'संदेश रासक' में 'रामायण' या 'महाभारत' की काव्य परंपरा भी है और युगीन चेतना की झलक भी। लोक सामान्य से लेकर महाकाव्य की उदात्त परंपरा के मध्य का काव्य-वितान संदेश रासक की महती विशेषता है।

'ढोला मारू रा दूहा' 15वीं शताब्दी में लिखा गया विरह काव्य है। यह रचना प्रेम और श्रृंगार के उदात्त वर्णनों से युक्त रचना है । काव्यात्मक विशिष्टता के साथ-साथ यह रचना लौकिक संस्कृति के कारण भी हिंदी की प्रसिद्ध रचना है। मौखिक परंपरा में शामिल होने के कारण इस रचना का

मूल स्वरूप धीरे-धीरे लुप्त होता गया। इस कृति के बहुत से दोहे लुप्त हो गए, जिसके कारण कथा बीच-बीच से खण्डित हो गयी। बाद में सत्रहवीं शताब्दी के जैन कवि कुशल लाभ ने इस काव्य कृति में चौपाइयाँ जोड़कर इसको सुगठित और व्यवस्थित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

काव्य-कथा के कलेवर में 'ढोला' काव्य का नायक है। राजकुमार ढोला के दो विवाह होते हैं। ढोला का प्रथम विवाह तीन वर्ष की अवस्था में पिंगल की राजकुमारी मारवाणी से होता है। राजकुमार ढोला जल्दी ही मालव प्रदेश की यात्रा पर चला जाता है, जहाँ उसका दूसरा विवाह राजकुमारी मालवणी से हो जाता है। ढोला बचपन के विवाह को भूलकर नई रानी के साथ रहने लगता। मारवाणी ढोला की विरह-व्यथा से त्रस्त होकर उसको अनेकों संदेश भेजती है, लेकिन मालवणी किसी भी संदेश को ढोला तक पहुँचने नहीं देती है। राजकुमारी की विरह व्यथा को देखकर उसके पिता एक चतुर ढोली को सन्देशा पहुँचाने के लिए भेजते हैं। ढोली याचक बनकर राज-दरबार में मारवाणी की आंतरिक वेदना को अभिव्यक्त करता है। वर्णन सुनकर ढोला को मारवाणी की याद आ जाती है, और वह उससे मिलने के लिए निकल पड़ता है। रास्ते में बहुत सारी बाधाओं को पार करते हुए अंततः नायक-नायिका का मिलन हो जाता है और कथा का सुखांत हो जाता है। काव्य की मूल कथा इतनी ही है और अधिकांश गीत इसी पर आधारित हैं।

वस्तुतः यह काव्य स्त्री की पराधीनता, विवशता और पुरुष की स्वेच्छाचारिता को अभिव्यक्त करता है। एक ओर यह काव्य बहुपत्नीत्व के दोष को उजागर करते हुए करुण भाव की सृष्टि करता है, वहीं दूसरी ओर भारतीय नारी की स्थिति का आख्यान प्रस्तुत करता है। कथा में सरसता को बढाने के लिए पहले मारवाणी की मृत्यु करा दी जाती है, फिर दुबारा उसको जीवित कराया जाता है। इसमें 'संदेश रासक' और 'बीसलदेव रास' जैसा षडऋतु वर्णन या बारहमासा नहीं है, बस पावस ऋतु का विस्तार से वर्णन किया गया है। पावस ऋतु का यह वर्णन विरहणी नायिका की विरह को गहराने के लिए रचा गया है -

मारू देश सुहावना सावण साजि बेर।[15]

इस काव्य में परंपरा से चली आ रही काव्य रूढ़ियां और कथा का अनावश्यक विस्तार नहीं है। ढोला में स्थानीयता का प्रतिबिम्ब झलकता है। हिंदी साहित्य की संदेश काव्य परंपरा में यह ग्रंथ 'संदेश रासक' और 'बीसलदेव रासो' से अलग और विशिष्ट है। संदेश रासक में अपरिचित पथिक तथा 'बीसलदेव रासो' में राज्य का एक पंडित संदेशवाहक है। ढोला मारू में क्रौंच पक्षी से लेकर ढाढ़ी तक सभी मारवाणी की विरह वेदना के साझीदार हैं। ढाढ़ी, पथिक या पंडित की तरह केवल श्रोता भर नहीं है, अपितु वह अपनी कल्पना और सृजनशीलता का प्रयोग करके विरहणी नायिका की कथा में अधिक मार्मिकता उत्पन्न कर देता है।

लोक-कथा होने के कारण इस काव्य में लोकजीवन और प्रकृति के आत्मीय रिश्तों को भी उद्घाटित किया गया है। इस काव्य में नारी जीवन की आशाएं, स्मृतियाँ, चिंताएँ आदि प्रकृति की संवेदनाओं के साथ जुड़ जाती हैं। मारवाणी के घर के पीछे वाले सरोवर में एक रात कुररी पक्षियों द्वारा करुण-रव होता है। यह सुनकर नायिका को लगता है कि ये पक्षी अवश्य ही मेरे प्रियतम तक मेरा संदेसा पहुँचा देगा। नायिका सुबह होते ही पक्षियों के बीच पहुँच जाती है जहाँ प्रश्नोत्तर शैली में उनका वार्तालाप होता है किन्तु बहेलिये की आहट पाकर ये पक्षी वहां से उड़ जाते हैं। पक्षी और नायिका के मध्य इतनी मार्मिक बातचीत का कोई उदाहरण परंपरागत काव्यों में नहीं मिलता है। परवर्ती काव्य पद्मावत में जायसी द्वारा इसका प्रयोग हुआ है। 'ढोला मारू रा दूहा' के इस अनोखे प्रश्नोत्तर का अंश प्रस्तुत है -

कुंझाँ, घ्रउ नई पंखडी, थाँकउ विनउ वहेसि
सायर लंघी प्री मिलउँ प्री मिली पाछी देसि ।।
म्हे कुरझाँ सरवर-तणा, पाँखाँ किणहिं न देस !
भरिया सर देखी रहाँ, उड़ आघेरि वहेस ।।[16]

'ढोला मारू-रा-दूहा' एक ओर लोक काव्य से जुड़ता है, दूसरी ओर परिनिष्ठित साहित्य से। इसीलिए इसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की अनेक रूढ़ियाँ और प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। यह एक प्रबंध काव्य है, जिसको दोहे जैसे मुक्तक छंद में रचा गया है। प्रबंध काव्य की सभी युक्तियों का प्रयोग करते हुए इस काव्य में दोहा, सोरठा, गाहा और चंद्रायणा, चार छंदों का प्रयोग किया गया है। इस रचना में भाषा की चित्रात्मक शैली का बेजोड़ प्रयोग हुआ है। जड़ तत्वों में संवेदना भरकर कवि ने उसको जीवंत बना दिया है। मारवाड़ देश में लिखा गया यह लोक काव्य राजस्तुतियों से अलग हटकर सामान्य लोक जीवन की सरस परंपराओं को अभिव्यक्त करता है। यह काव्य घोषणा करता है कि जीवन का वास्तविक मर्म राजदरबारों में न होकर लोक की अनुभूति और उनके मन को वाणी देने में है। इस रचना की भाषा राजस्थानी है, लेकिन मौखिक परंपरा में होने के कारण इसका रूप बदलता रहा है। इसमें प्राचीन और नवीन राजस्थानी रूपों के साथ-साथ गुजराती, पंजाबी, सिंध, खड़ी बोली और ब्रज भाषा के रूप भी पाए जाते हैं। काव्य की भाषा में प्राप्त होने वाली विविधता का कारण इसकी लोकप्रियता है। साहित्य और लोक साहित्य के अद्‌भुत संयोग वाली यह रचना आदिकाल ही नहीं समूचे हिंदी साहित्य की भी महत्वपूर्ण रचना है।

अमीर खुसरो खड़ी बोली हिंदी के आरंभिक और प्रमुख कवि माने जाते हैं। इनका जीवनकाल 1253 ई. से 1325 ई. के बीच माना जाता है। खुसरो दरबारी कवि थे। बचपन में पिता की मृत्यु होने के पश्चात वे बीस वर्ष की अवस्था से ही रोजी-रोटी कमाने की खोज में दरबारों के चक्कर काटने लगे थे। उन्होंने एक दर्जन से अधिक बादशाहों से ताल-मेल बिठाकर उनके सैनिक या राज कवि के

रूप में शानदार जीवन बिताया । वे खांटी राजभक्त थे । उन्होंने जिस समय में जिस बादशाह का आश्रय लिया उसके क्रिया-कलाप में कभी कोई हस्तक्षेप नहीं किया। वे न्याय-अन्याय के पचड़े से दूर रहकर मौकापरस्त, खुशामदीद किस्म के चारण थे । अपनी इसी जबानी खूबी के कारण वे हर नये बादशाह के विश्वस्त और प्रिय कवि बन जाते थे । खुसरो जीवन भर सत्ता और जनता, दीन और दुनिया के दो छोरों के बीच झूलते रहे । एक ओर वे मलिक छज्जू, जलालुद्दीन, अलाउद्दीन खिलजी, तुगलक आदि के राजकवि रहे तो दूसरी ओर वे सूफी फ़कीर निजामुद्दीन औलिया के प्रिय शिष्य । उनके एक ओर कट्टर बादशाहों के दांव-पेंच थे तो दूसरी ओर सूफी फकीरों की प्रेमानुभूति । दरबारी कविता लिखना उनकी रोजी-रोटी की दरकार थी और जन सामान्य की कविता उनके हृदय का उदगार थी ।

खुसरो की कीर्ति का आधार उनका फारसी काव्य है । मुसलमानों का शासन होने के कारण खुसरो के फारसी साहित्य का संरक्षण किया गया । आज यह साहित्य प्रामाणिक रूप में उपलब्ध है। अरबी-फारसी भाषा का बोल-बाला होने के कारण उनकी आम बोलचाल में लिखी भाषा की रचनाओं की ओर किसी ने ज्यादा ध्यान नहीं दिया, कुछ लोगों का यह भी कहना है कि खुसरो स्वयं हिंदी भाषा की रचनाओं का संचयन नहीं करते थे । खुसरो द्वारा फारसी भाषा में लिखा गया काव्य फारसी काव्य की रूढ़ियों और दरबारी मनोवृत्ति का वाहक है । आम जन-मानस में खुसरो की लोकप्रियता का आधार उनका हिंदी काव्य है । उत्तर भारत में खुसरो के हिंदी काव्य से हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के इतिहास का आरम्भ माना जाता है । भाषा उन्हें हिन्दवी (खड़ी, ब्रज और अवधी) से जोडती है और लिपि उर्दू से । खुसरो के हिंदी काव्य का आधार धर्म नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक जीवन और सामासिक संस्कृति है । यही कारण है कि मुस्लिम दरबारों के उठ जाने के साथ ही उनका फारसी साहित्य ऐतिहासिक धरोहर बन गया लेकिन उनका हिंदी काव्य जनता के मुख पर आज भी अमर है । इस काव्य में वे गंगा-जमुनी संस्कृति के वाहक और असाम्प्रदायिक हैं । मध्य देश के जन-मानस में प्रचलित भाषा और जनता की सोच-समझ को जानने के लिए आदिकालीन हिंदी साहित्य में खुसरो का महत्व अतुलनीय है। उन्होंने ऐतिहासिक प्रेमाख्यान समेत करीब सौ रचनाएँ लिखी, जिनमें से करीब बीस-इक्कीस रचनाएँ ही उपलब्ध हैं । 'खालिकबारी', 'पहेलियाँ', 'मुकरियाँ ', 'दो सुखने', 'गजल' आदि अधिक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं ।

खुसरो के नाम से सैकड़ों पहेलियाँ प्रचलित हैं । खुसरो ने इन पहेलियों की रचना लोकजीवन और लोकव्यवहार की जमीन पर की है । वे सापेक्ष वस्तुओं को पारिवारिक तथा सामाजिक संबंधों में छिपाकर पहेली की रचना करते हैं । आज खुसरो के नाम पर अनेकों पहेलियाँ मौजूद हैं, लेकिन उनको खुसरो की नहीं माना जा सकता है । उनकी कई पहेलियों में हुक्का, चिलम, बन्दूक जैसे शब्द प्रयोग हुए हैं, जिनका आविष्कार खुसरो के समय तक हुआ ही नहीं था । खुसरो की पहेलियों की

सर्जनात्मकता, संप्रेषणीयता, रमणीयता और सरसता का मुख्य कारण परिवारिक संबंधों की जमीन पर उन्हें रचने की समझ और कलात्मकता है -

श्याम वरन की है एक नारी, माथे उपर लागे प्यारी,
जो मानस इस अर्थ को खोले, कुत्ते की वह बोली बोले ।[17]

मुकरी भी एक प्रकार की पहेली ही होती है । मुकरी का अर्थ है मुकर जाना या इंकार कर देना। पहेली की तुलना में मुकरी का ढांचा ज्यादा निश्चित होता है । पहेली दो और चार दोनों चरणों में हो सकती है, लेकिन मुकरी के चार चरण निश्चित होते हैं । मुकरी की सर्जनात्मकता और व्यंजकता का आधार 'काकु' वक्रोक्ति आधारित 'न' उत्तर में है । मुकरी दो जवान सहेलियों के बीच मनोविनोद का बहुप्रचलित मौखिक काव्यरूप है, इसीलिए पहेली की तुलना में इसके श्रोता काफी सीमित हैं । रोजमर्रा जीवन में घर परिवार से सम्बद्ध छोटे-छोटे प्रसंगों और सन्दर्भों में पति-पत्नी के आत्मीय सम्बन्ध का तुक बिठा लेना मुकरियों की जान है ।

खुसरो के साहित्य में दोहे और गीतों की परंपरा भी मिलती है । खुसरो ने अपने कुछ दोहों और गीतों में ईरानी सूफी परंपरा और भारतीय लोक काव्य परंपरा को एक भावभूमि पर स्थापित किया है । उनके कुछ दोहे और गीत ठेठ लोक काव्य के रूप में रचे गए हैं, किन्तु यह संख्या पहेलियों और मुकरियों की तुलना में बहुत कम है । दोहे और लोकगीतों के साथ उन्होंने भारतीय लोकगीतों की भावभूमि पर कव्वालियाँ और गजलें भी लिखी हैं । फारसी साहित्य में गजलों की समृद्ध परंपरा रही है लेकिन कव्वाली का जनक खुसरो को माना जाता है । उनकी सबसे प्रसिद्ध कव्वाली 'छाप तिलक सब छीनी तो से नैना मिला के' है । खुसरो द्वारा रचे गए ब्रजभाषा के गीत और कव्वालियाँ वाचिक परंपरा में आज भी पीढ़ी दर पीढ़ी चलती आ रही हैं। उन्होंने फारसी और हिंदी को मिलाकर कुछ छंदों की रचना की है -

जिहाल मिसकी मकुन तगाफुल दुराय नैनां बनाय बतियाँ
चु ताब-ए-हिज्राँ न दारम ऐ जाँ न लेव गाहे लगाय छतियाँ ।[18]

'खालिक बारी' फारसी और हिंदी भाषा का पद्यकोश है । मध्यकाल में भारतीय जीवन में मिश्रित संस्कृति के प्रतिरूप खुसरो के काव्य में देखे जा सकते हैं । अपने साहित्य में उन्होंने सभी काव्य शैलियों का प्रयोग किया । खुसरो की हिंदी काव्य भाषा के तीन रूप देखने को मिलते हैं - खड़ी बोली, ब्रज और अवधी । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने खुसरो की काव्य भाषा के दो रूप माने हैं । "ठेठ खड़ी बोलचाल, पहेलियों, मुकरियों और दो सुखनों में ही मिलती है - यद्यपि उनमें भी कहीं-कहीं ब्रजभाषा की झलक है । किन्तु गीतों या दोहों की भाषा ब्रज या मुख प्रचलित काव्यभाषा ही है"।[19] शुक्ल जी की इस बात का समर्थन हिंदी-उर्दू के अधिकतर कवियों ने किया है ।

हिंदी साहित्य के इतिहास में खुसरो की छवि, इस्लाम सत्तापरस्त इतिहासकार और राज्याश्रित कवि से भिन्न एक गैर साम्प्रदायिक, लोकभाषा और लोक संस्कृति के गायक के रूप में विद्यमान हैं। खुसरो के हिंदी काव्य की विषय-वस्तु, भाषा, काव्यरूप, छंद का आधार उत्तर भारत की सामान्य जनता का दैनंदिन सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन है। उत्तर भारतीय जनता की मौखिक काव्य परंपरा को साहित्यिक रूप देने का पहला प्रयास खुसरो ने ही किया था। इसी आधार पर डॉ रामविलास शर्मा ने हिंदी जाति के साहित्य के 'लोकजागरण' के पहले कवि के रूप में अमीर खुसरो की पहचान की है। खुसरो की विरासत आज भी बहुत मत्वपूर्ण और सहेजने योग्य है।

विद्यापति आदिकालीन साहित्य के सर्वाधिक व्यवस्थित रचनाकार हैं। दरबारी कविता के नाम पर उन्होंने अप्रत्याशित घटनाओं की सर्जना नहीं की और न ही वे लोक गायक बनकर गुमनाम रहे। वे दरबार और लोक के बीच की कड़ी हैं। विद्यापति का जीवनकाल 1360 ई से 1448 ई तक रहा। वे मिथिला के राजा शिवसिंह और कीर्तिसिंह के दरबारी कवि रहे। राजा कीर्तिसिंह की शौर्यगाथा 'कीर्तिलता' और राजा शिवसिंह की वीरगाथा 'कीर्तिपताका', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा चयनित बारह रचनाओं में सर्वाधिक प्रामाणिक रचनाएँ हैं। 'कीर्तिलता' की ऐतिहासिकता और प्रामाणिकताका सविस्तार वर्णन वीरगाथात्मक साहित्य के अन्तर्गत किया जायेगा, इसलिए यहाँ उसकी चर्चा करना पिष्ट पेषण कहलायेगा। 'कीर्तिपताका' की खण्डित प्रति प्राप्त हुई है। पृ संख्या नौ से लेकर उनतीस तक के पृ रचना से गायब हैं। पृ संख्या तीस से लेकर रचना के अंत तक में राजा शिवसिंह के युद्ध पराक्रम को वर्णित किया गया है। कीर्तिपताका दोहा छंद में लिखी गयी है, साथ ही कहीं-कहीं संस्कृत भाषा में श्लोक का भी प्रयोग हुआ है। विद्यापति को संस्कृत, अपभ्रंश और मैथिली तीनों भाषाओं का ज्ञान था। पदावली, कीर्तिलता, कीर्तिपताका, भूपरिक्रमा, पुरुष परीक्षा, लिखनावली, शैव सर्वस्व सार, गंगावाक्यावली, विभागसार आदि विद्यापति की प्रमुख रचनाएँ हैं।

विद्यापति युद्ध की विभीषिका के आख्याता हैं और अपरूप सौन्दर्य के गायक भी। कीर्तिलता में वे जिस सामाजिक परंपरा का निर्माण करते हैं, पदावली में राधाकृष्ण के मांसल, मादक वर्णन द्वारा उसी सामाजिक परंपरा को तोड़ते भी हैं। उन्होंने काव्य, संगीत, तंत्र, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड आदि हर विषय पर लिखा है। किसी एक श्रेणी में फिट न बैठने के कारण ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनको 'फुटकल' खाते में रखा है। दरबार, भक्ति और श्रृंगार इन तीनों तत्वों को विद्यापति ने एक साथ साधा है, किन्तु हिंदी काव्य क्षेत्र में इनको अमर बनाने वाली रचना पदावली है।

पदावली की लोकप्रियता का आधार उसका विषय-प्रसंग, भाषा-फलक और रचनात्मक तकनीक है। विशुद्ध लौकिक, व्यावहारिक और सामाजिक विषय, जनसुलभ भाषा और विलक्षण गेयता ने विद्यापति के पदों को विशाल जन-मानस में इतना प्रेम और आदर दिलाया। पदावली में

विद्यापति के समस्त गीतों का संग्रह किया गया है। कवि की प्रमाणित हस्तलिखित प्रति उपलब्ध न होने के कारण पदावली के कुल पदों की निश्चित संख्या बताना मुश्किल है। महेन्द्रनाथ दूबे द्वारा सम्पादित 'गीत विद्यापति' में अवहट्ट में रचित दो पद भी शामिल करने के बाद कुल आठ सौ इक्यानबे पद संकलित हैं। सांगीतिक रूप से पदों के बन्ध इतने कसे हुए हैं, कि कहीं भी सुरों का विचलन नहीं होता है। गीतों की इसी विशेष कला के कारण ही इनको 'अभिनव जयदेव' कहा गया है। संपूर्ण मिथिला नगरी में बच्चे के गर्भ में स्थान पाने से लेकर लोक संस्कार (जन्म, नामकरण, मुंडन, उपनयन, विवाह, पूजा-पाठ, लोक-उत्सव) का कोई भी उत्सव विद्यापति के पदों को गए बिना पूरा नहीं होता है। इसी अर्थ में डॉ रामविलास शर्मा ने उन्हें 'मध्यकालीन नवजागरण का अग्रदूत' माना है श्रृंगार और भक्ति विषयक गीत विद्यापति की विभिन्न मनः स्थितियों का परिचय देते हैं। असम, बंगाल और उडीसा में वैष्णव साहित्य के विकास में पदावली के गीतों की प्रमुख भूमिका है। बंगाल के वैष्णवों द्वारा यह प्रचार-प्रसार मथुरा-वृन्दावन तक पहुँच गया।

विद्यापति ने राधा-कृष्ण का आश्रय लेकर पदावली का जो मांसल चित्रण किया है, वह उनके संदर्भ में भक्त बनाम श्रृंगारी का विवाद पैदा करता है। उनके काव्य में मानवीय सौन्दर्य का गहरा रंग है। राधा-कृष्ण के साथ-साथ शिव-पार्वती भी यहाँ मानवीय बनाकर प्रस्तुत किये गए हैं। विद्यापति के काव्य पर जयदेव के श्रृंगारी काव्य और कालिदास की स्वच्छंद अनुभूति का गहरा प्रभाव है। उन्होंने कृष्ण के साथ-साथ शिव को भी श्रृंगार रस का आलंबन बनाया है। इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के मत भिन्न-भिन्न हैं। जार्ज ग्रियर्सन और कुमारस्वामी विद्यापति को रहस्यवादी मानते हैं। ग्रियर्सन के अनुसार राधा जीवात्मा हैं और कृष्ण परमात्मा। रामचन्द्र शुक्ल ने विद्यापति को श्रृंगारी कवि मानते हुए लिखा है कि 'विद्यापति को कृष्णभक्तों की परंपरा में न समझना चाहिए'। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - "इस पुस्तक के पदों ने आगे चलकर बंगाल, असम और उड़ीसा के वैष्णव भक्तों को प्रभावित किया और यह उन प्रदेशों के भक्त साहित्य में नई प्रेरणा और नई प्राणधारा संचारित करने में समर्थ हुई। इसलिए पूर्वी प्रदेशों में सर्वत्र यह पुस्तक धर्मग्रंथ की महिमा पा सकी"।[20] आचार्य द्विवेदी भक्ति के प्रसंग में विद्यापति को 'श्रृंगार रस के सिद्ध वाक्कवि' कहते हैं।

पदावली में वर्णित श्रृंगार वर्णन सामंती समाज के मनोरंजन का साधन न होकर लोकजीवन का सहज अंग है। यहाँ किशोर अवस्था का उहापोह है, नव भावों की चंचलता है और प्रेम का सहज आकर्षण है। नवयौवन में विकसित होने वाली मनःस्थितियों का विद्यापति ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हुए उसका सजीव वर्णन किया है। वयःसंधि के वर्णन में विद्यापति अद्वितीय हैं -

सैसव जौवन दरसन भेल, दुहु दल-बलहि दंद परि गेल।
कबहुँ बाँधए कच कबहुँ बिथार, कबहूँ झाँपई अंग कबहुँ उघार।[21]

पदावली में संयोग और वियोग दोनों श्रृंगार का वर्णन बखूबी हुआ है। उनके नायक नायिका आम जन मानस के बीच से आते हैं। वे राजमहलों के वासी नहीं हैं। कवि ने नायिका के रूप में ऐसी नारी का वर्णन किया है, जिसके चारों ओर लोक मर्यादा की दीवार है। परिवार में सास ननद की पहरेदारी करती हुई आँखें हैं। इन परिस्थितियों में नायिका प्रिय से मिलने के लिए जो कुछ कहती या करती है, वह भारतीय गार्हस्थिक मर्यादा के भीतर है।

विद्यापति ने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों पर तीखा व्यंग्य किया है। लेकिन उनकी शैली में आक्रोश नहीं है। वे उन परिस्थितियों को व्यंग्य का निशाना बनाते है जो रूढ़ियों के पोषण के लिए जिम्मेदार हैं। युवती का विवाह बालक पति के साथ हो जाने पर विद्यापति द्वारा युवती के पिता पर तीखा व्यंग्य किया गया है –

पिया मोर बालक हम तरुनी
कौन तप चूकलौंह भेलौंह जननी...
कहुहिन बाब के किनए धेनु गाइ
दुधवा पियाइ के पोसता जमाइ।[22]

विद्यापति ने पदावली में अभिजात्य काव्य प्रयोगों के साथ-साथ जन सामान्य में प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों का सटीक वर्णन किया है। ऐसे प्रयोगों द्वारा कवि की जन मानस में गहरी पैठ का पता चलता है। लोक प्रयोग प्रायः स्त्रियों की बात-चीत में अधिक मुखर होकर सामने आये हैं। राधा गोपियों से बात करते समय कहती हैं कि, इस कृष्ण के गंवारपन का मुझे आज ही पता चला है। यह ऐसा है जैसे पीतल के जेवर पर सोने का मुलम्मा चढ़ा हो। उपरी चमक दमक से इसका कोई काम चलने वाला नहीं है -

सखि हे बूझल कान्ह गोआर
पितरक टाँड़ काज दुहु कओन लहु
ऊपर चकमक सार।[23]

प्रेमानुभूति, यौवन और सौन्दर्य के अतिरिक्त पदावली में जन सामान्य के चित्र भी उकेरे गए हैं। इसके कई पदों में मिथिला प्रदेश की गरीब जनता का मार्मिक वर्णन मिलता है, गरीबी के चलते जिनकी मूल आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो पाती हैं। प्रोषितपतिका नायिका अपनी आर्थिक विपन्नता के कारण राह चलते पथिक को विभिन्न भाव-भंगिमाओं के द्वारा अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करती है। पदावली में जगह-जगह पर जन समुदाय की समस्याओं और उनकी आकाँक्षाओं का वर्णन करने वाले पदों का उल्लेख किया गया है। विद्यापति ने मिथिला में प्रचलित गीति-काव्य और दर्शन की दोनों धाराओं को एक साथ साधा है। गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित उनके

गीत मिथिला के दैनंदिन जीवन, उपासना, त्योहारों और शुभ कार्यों में आज भी गए जाते हैं और कल भी गाये जाते रहेंगे। लोक भाषा की मिठास, लोकधुनों का समावेश और श्रोता या पाठक को वशीभूत कर लेने की क्षमता के कारण पदावली की प्रसिद्धि आज भी है और कल भी कायम रहेगी।

घ. वीरगाथात्मक साहित्य : परंपरा और सामाजिक संरचना

सिद्ध, नाथ और जैन रचनाओं में हिंदी भाषा की रचनात्मक संवेदना के दर्शन होने लगे थे लेकिन हिंदी साहित्य का क्रमबद्ध विकास रासो साहित्य से ही माना जाता है। दसवीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में अपभ्रंश भाषा के साथ-साथ लोक भाषा का प्रयोग खुलकर होने लगा। राजदरबारों में अपभ्रंश के साथ देशी भाषाओं को शामिल करके काव्य लेखन की पद्धति विकसित होने लगी। काव्य लेखन की इसी परंपरा से रासो काव्यों का विकास हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने, जिन बारह रचनाओं के आधार पर आदिकाल का नामकरण किया है, उसमें प्रधानता वीर-काव्यों या रासो काव्यों की ही है। भारतीय राजनीति की अस्थिर अवस्था तथा राजवंशो की आपसी कलह और युद्धों के सघन वातावरण ने सामंतवादी व्यवस्था को जन्म दिया। इसी गृहकलह और सामंतवादी पृष्ठभूमि से वीर-काव्यों या रासो काव्यों का जन्म हुआ। तत्कालीन कवि या रचनाकार स्वतंत्र लेखन की जगह राजदरबारों के अधीन हो गए। ये चारण, राजदरबारों में सामंतो को खुश करने के लिए उनकी बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा करते हुए उनकी शौर्य गाथाएं लिखने लगे।

रासो काव्यों की संख्यात्मक अधिकता को देखते हुए यह स्पष्ट है कि वीरता-वर्णन ही आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। रासो साहित्य या वीर काव्य की बनावट सामंतो के मनोनुकूल हुई, केन्द्रीय सत्ता के अभाव में सामंतों की क्षेत्रीय ताकतों के बीच होने वाले संघर्षों की गाथा ही वीर-काव्य का आधार है। इस सामंती व्यवस्था में उन्हीं चारणों को सम्मान मिलता था जो राजाओं के शौर्य, पराक्रम, विजय अथवा शत्रुकन्या हरण आदि का अतिरंजनापूर्ण वर्णन करने में समर्थ थे। राजनीति में केन्द्रीयता का अभाव, बाहरी आक्रमण और सामंती राजाओं की विलासिता ही वह पृष्ठभूमि थी जिसके परिणाम स्वरूप ज्यादातर रासो-काव्यों का जन्म हुआ। रासो साहित्य का आम जन-मानस से ज्यादा सरोकार नहीं था। उनका प्रधान उद्देश्य दरबारों की चाटुकारिता तक सीमित हो चुका था।

राजमद में चूर ये राजा हर छोटी-बड़ी घटना पर तलवार लेकर खड़े हो जाते थे। इस युग में छोटी-छोटी बातों पर युद्ध हो जाते थे। श्रृंगार और युद्ध प्रधान उस युग में आश्रयप्राप्त कवि की स्थिति एक चारण से अधिक नहीं रह गई थी जिसका काम बस राजा द्वारा किये गए कार्यों का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करना था। युद्धोन्माद के इस युग में निरंतर ऐसे कवियों का विकास हो रहा

था जो आश्रयदाता के मन में लडाइयों के लिये जोश जगा सकें। इन कवियों ने राजस्तुति के नाम पर अपनी रचनाओं में तमाम असंभव घटनाओं की सृष्टि की। इस पृष्ठभूमि से उपजे अधिकतर वीर-काव्य, कवियों की सृजनात्मकता से ज्यादा, आवश्यकता का परिणाम थे। ऐसी ही स्थिति को लक्ष्य करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं कि - "राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे। ऐसे राजाश्रित कवियों की रचनाओं के रक्षित रहने का अधिक सुबीता था। वे राजकीय पुस्तकालयों में भी रक्षित थी और भट्ट, चारण जीविका के विचार से उन्हें अपने उत्तराधिकारियों के पास भी छोड़ जाते थे। उत्तरोत्तर भट्ट चारणों की परंपरा में चलते रहने से उनमें फेर-फार भी बहुत कुछ होता रहा। इसी रक्षित परंपरा की सामग्री हमारे हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल में मिलती है। इसी से यह काल वीरगाथाकाल कहा गया"।[24] आदिकाल को 'वीरगाथाकाल' कहे जाने से अपनी तमाम असहमतियों के बावजूद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी यह स्वीकार करते हैं कि, 'यह सत्य है कि इस काल में वीररस को सचमुच ही बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है'।

निःसन्देह सामंत-राजाओं की वीरता का बखान करना आदिकाल की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। वीरता प्रधान काव्य लेखन के आरंभिक स्वरूप के दर्शन अपभ्रंश साहित्य में होते हैं। जैन रास काव्य का एक बड़ा हिस्सा वीर रस प्रधान रचनाओं का है। जिनका विवेचन जैन रास काव्य परंपरा के अंतर्गत किया जा चुका है। धार्मिकता के अतिआग्रह के चलते ये रचनाएँ विशुद्ध वीरकाव्य की श्रेणी में नहीं आ सकती हैं। ये सभी रचनाएँ मूलतः धार्मिक ही रहीं। आश्रयदाता राजाओं की शौर्यगाथा सुनाने के क्रम में इन कवियों ने धर्म का आधार नहीं छोड़ा इसीलिए इन काव्यों में वीरता के बखान के साथ-साथ नैतिक ज्ञान का आग्रह रहा है। 'भरतेश्वर बाहुबली रास' में भरतेश्वर और बाहुबली के मध्य होने वाले भयानक युद्ध का सजीव वर्णन हुआ है। शालिभद्र सूरि ने युद्ध वर्णन के साथ ही साथ हिंसा का विरोध करते हुए सामंती समाज में युद्ध की विभीषिका को भी रेखांकित किया है। वीरता और युद्ध वर्णन के पश्चात् कवि ने विरक्ति और मोक्ष के भावों का प्रतिपादन किया है, जो रचना का प्रधान लक्ष्य है। उदाहरणस्वरूप –

बोलह बाहुबली बलवन्त। लोह खण्डि तउ गरवीउ हंत।।
चक्र सरीसउ चूनउ करिउ। सयलहं गोत्रह कुल संहरउ।।[25]

जैन रास साहित्य में काव्य-शास्त्रीय गुणों का पालन किया गया है। संस्कृत महाकाव्यों की तरह ये रचनाएँ राजाश्रित होकर लिखी गई हैं। इनके रचयिता या तो किसी राजा अथवा मंत्री के आश्रित थे अथवा किसी धनी व्यक्ति के। निःसंदेह जैन रास काव्य परंपरा में वीरता प्रधान रचनाओं के प्रारंभिक दर्शन होते हैं, किन्तु इन रचनाओं का आधार धर्म है। वीरता वर्णन इन रास रचनाओं

का साधन है साध्य नहीं। इसके अतिरिक्त जैन रास रचनाओं में अपभ्रंश भाषा का प्रयोग हुआ है। यहाँ वीरगाथात्मक काव्यों के विस्तृत विवेचन के लिए उन्हीं रचनाओं को आधार बनाया गया है जिनका प्रधान लक्ष्य वीरता वर्णन है। दूसरी बात यह है कि ये रचनाएँ हिंदी भाषा के करीब हैं। शोध-प्रबंध में वीरगाथात्मक साहित्य के विस्तृत विवेचन के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा चयनित वीरता प्रधान ग्रंथों को आधार बनाया गया है।

ये वीर काव्य प्रशस्तिपरक सीमित विषय-वस्तु को केंद्र में रखकर लिखे गए हैं। सामंतो के जीवन में दो ही बातें प्रधान थीं - युद्ध और प्रेम। किसी राजा की रूपवती कन्या का संवाद पाकर, किसी दूसरे राजा का चढ़ाई करना तथा कन्या का हरण कर लेना वीरों के लिए गौरव का विषय था। 'पृथ्वीराज रासो' और 'बीसलदेव रासो' में इस तरह के प्रसंग भरे पड़े हैं। राजाश्रित कवियों या चारणों ने राजनीतिक कारणों से होने वाले युद्धों में भी, रूपवती स्त्री को ही युद्ध का कारण परिकल्पित किया है। आदिकालीन रासो-साहित्य का उद्देश्य सामंतो का मनोरंजन था, इसलिए रासो साहित्य में युद्ध और श्रंगार को ही प्रमुख विषय बनाया गया है। तत्कालीन समाज की आशाओं, आकाँक्षाओं से इस साहित्य को कोई सरोकार नहीं था। तत्कालीन समाज की पृष्ठभूमि में लगातार युद्ध होते रहते थे, जिनका प्रभाव राजा के साथ उसकी प्रजा भी भुगतती थी। तत्कालीन साहित्यकार निज हितों के अधीन होकर समाज से पूरी तरह विमुख हो गए थे। कला यहाँ सिर्फ 'कला' के लिए थी, जीवन से उसका कोई वास्ता नहीं था। ये रचनाएँ आश्रयदाता राजाओं की शौर्यगाथा गाये जाने के लिए लिखी गयी थीं, जिनमें ये पूर्णतः सफल रही हैं। चारण कवियों ने राजाओं की चाटुकारिता में ऐतिहासिकता और प्रामाणिकतादोनों का अतिक्रमण कर दिया है। यहाँ रासो काव्य परंपरा का विवेचन कालक्रमानुसार करने का प्रयास किया गया है। इस परंपरा में प्रथम नाम बीसलदेव रासो का है।

'बीसलदेव रासो' की रचना नरपति नाल्ह ने की थी। इस ग्रंथ के रचनाकाल को लेकर काफी विवाद रहे हैं, कुछ वृत्त संग्रहकर्ता तो इस ग्रंथ को आदिकाल की रचना मानने से इनकार करते हैं। इसका कारण यह है कि परमाल रासो की तरह यह रचना गेय काव्य है, इसलिए इसके आकार और भाषा दोनों में परिवर्तन होते रहे हैं। इसकी रचना 1155 ई. में हुई थी जिसकी पुष्टि इस उद्धरण से होती है –

बारह सौ बहोत्तराहां मंझारि। जेठ वदी नवमी बुधिवारि।
नाल्ह रसायण आरम्भई। सरदा तूठी ब्रह्मकुमारि।
कस्मीरां मुख मंडनी। रास प्रसंगों वीसलदेराइ।।[26]

प्रथम पंक्ति से सं. 1272 भी ध्वनित होता है, किंतु अधिकांश विद्वान इसका रचनाकाल 1212 वि. स्वीकार करते हैं। आदिकालीन तमाम कृतियों के रचनाकालों की तरह बीसलदेव रासो के रचनाकाल को लेकर भी तमाम विवाद रहे हैं। नवीन खोजों में इस रचना की एक प्राचीन प्रति मिली है, जिसमें 'संवत् सहस तिहत्तर जानि, कबीसर सरसीय वाणि' के आधार पर विद्वानों ने इसका रचनाकाल 1016 ई. निर्धारित किया है। बीसलदेव रासो की कथावस्तु चार खण्डों में विभाजित है। पहले खण्ड में मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती और बीसलदेव के विवाह का वर्णन है। दूसरा खण्ड राजमती से रूठकर बीसलदेव की उड़ीसा यात्रा का वर्णन है। तीसरे खण्ड में राजमती का विरह-वर्णन है। चौथे खण्ड में भोजराज का राजमती को मालवा वापस लाना और बीसलदेव का उड़ीसा से लौटने पर, राजमती से होने वाले मिलन का वर्णन है। बीसलदेव रासो मूलतः राजमती और बीसलदेव तृतीय के विवाह, वियोग एवं पुनः मिलन की कथा है। बीसलदेव और राजकन्या राजमती दोनों सामंती अहम् से ग्रस्त हैं। बीसलदेव ने दर्पोक्ति की, कि - मुझसे धनी दूसरा कौन है ? इसी के जवाब में रानी ने उड़ीसा नरेश का नाम ले लिया। राजमती की बातों से नाराज होकर स्वाभिमानी राजा उड़ीसा की ओर चला जाता है। इस तरह से बारह वर्षो तक राजमती विरह में जलती रहती है। संदेशरासक के समान ही बीसलदेव रासो की भावभूमि में प्रेम की निश्छल अभिव्यक्ति है। राजमती एक पंडित द्वारा अपने पति के पास संदेश भेजती है। राजमती में एक कुलीन गृहणी का स्वाभिमान है, जो विरह के चित्रों को कांतिमय बनाता है। संयोग के समय भी यह कांति बनी रहती है। राजमती की व्यंग्यवाणी से राजा का मन उद्वेलित हो जाता है। पति के हृदय को बेधने वाला राजमती का कुलीनता संस्कार उसकी विरहवेदना का आधार है। इसी संदर्भ में नामवर सिंह ने कहा है कि " मध्ययुग के समूचे हिंदी साहित्य में जबान की इतनी तेज़ और मन की इतनी खरी नायिका नहीं देखी"।[27] इस काव्य के वर्णनों में एक संस्कार दृष्टि दिखाई देती है जो नारी-गरिमा की स्थापना करती है। राजमती के व्यंग्य बाणों से घायल होकर राजा कहता है कि हे नारी कड़वी बात मत बोलो। दावाग्नि से जला हुआ पेड़ फिर से पल्लवित हो सकता है, किन्तु जीभ से जला इंसान पुनः पल्लवित नहीं होता है –

जीभ नवी नहु नीकलइ
दवका दाधा हो कूपल लेई
जीभ का दाधा न पाल्हवइ।[28]

'बीसलदेव रासो' की कथावस्तु का विकास लोक समाज को केंद्र में रखकर हुआ है। लेखक ने राजमती के विवाहोत्सव के समय पड़ने वाली भांवरों और हर भांवर पर माता-पिता द्वारा दिए

जाने वाले उपहारों का सटीक चित्र खींचा है। बीसलदेव रासो के अतिरिक्त हिंदी जगत के किसी काव्य में ऐसा प्रसंग देखने को नहीं मिलता है। यहाँ कथानक का अनर्गल विस्तार नहीं है। पति पत्नी के मध्य प्रेम, विरह और पुनर्मिलन का मार्मिक वर्णन किया गया है इसी लिए इस काव्य को अन्य रासो ग्रंथों की तरह किसी राजा की शौर्यगाथा कहना सही नहीं है। इसको 'संदेश रासक' की तरह विरह काव्य कहना ज्यादा उचित है। बीसलदेव रासो को वीर काव्य न कहे जाने की पुष्टि आचार्य शुक्ल ने भी की है - "जैसा पहले कह आए हैं, अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव बड़े वीर और प्रतापी थे। उन्होंने मुसलमान राजाओं के विरुद्ध कई चढ़ाईयां की थीं और कई प्रदेशों को उनसे खाली कराया था। दिल्ली और झाँसी के प्रदेश इन्हीं ने खाली कराये थे। इनके वीर चरित का बहुत कुछ वर्णन इनके राजकवि सोमदेव रचित ललित विग्रह नाटक (संस्कृत) में है, जिसका कुछ अंश बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है और राजपूताना म्यूजियम में सुरक्षित है। पर नाल्ह के इस बीसलदेव रासो में जैसा कि होना चाहिए था न तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य पराक्रम का। श्रृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोषितपतिका के वर्णन के लिए) मनमाना वर्णन है। अतः इस छोटी सी पुस्तक को बीसलदेव का 'रासो' कहना खटकता है।"[29] बीसलदेव रासो में गृहस्थ जीवन के उतार-चढ़ाव, शकुन-अपशकुन, बारहमासा, मुहूर्त-विचार, तंत्र-मंत्र आदि के प्रसंग कथानक को गति प्रदान करने का कार्य करते हैं। इन प्रसगों की उपज के मूल कारण प्रेम, श्रृंगार, विरह और पुनर्मिलन हैं, किसी राजा की वीरता का अतिश्योक्तिपूर्ण बखान नहीं।

पृथ्वीराज रासो को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी का प्रथम महाकाव्य घोषित करते हुए, चंदबरदाई को हिंदी का प्रथम महाकवि माना है। यह रासो ग्रंथ ढ़ाई हजार पृष्ठों का बड़ा ग्रंथ है जिसमें 69 समय (सर्ग या अध्याय) हैं। इस ग्रंथ के बारे में कहा जाता है कि इसके अंतिम भाग को चंद के पुत्र जल्हण द्वारा पूरा किया गया था। पृथ्वीराज रासो में यज्ञकुंड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति तथा चौहानों के अजमेर में राजस्थान से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तार वर्णन है। "पृथ्वीराज रासउ का विधान ऐसा है कि ठीक व्यास और वाल्मीकि की तरह चंद बिरद्दिया अपने प्रबंध का रचयिता भी है और उसका एक चरित्र भी। एलियट ने आधुनिक काल में भोक्ता और रचयिता के अलगाव को एक शर्त माना है रचना की श्रेष्ठता के लिए। पर भारतीय परंपरा के ये तीनों महाकवि सजग रूप से अपने को भोक्ता और रचयिता की संयुक्त भूमिका में रखते है।"[30]

पृथ्वीराज रासो की कथा में वीर और श्रृंगार दोनों रसों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। पृथ्वीराज का संयोगिता को हर कर ले जाना तथा जयचंद की सेना से हुआ उनका युद्ध वीरता के श्रेष्ठ उदाहरण है। संयोगिता को लेकर दिल्ली पहुँच जाने पर पृथ्वीराज का सारा समय भोगविलास में ही बीतने

लगा । अच्छा अवसर देखकर शहाबुद्दीन गोरी ने चढाई कर दी और पृथ्वीराज को पकड़कर गजनी ले गया । कहा जाता है कि एक दिन चंद के इशारे पर पृथ्वीराज ने शब्दबेधी बाण द्वारा शहाबुद्दीन गोरी को मारा और फिर दोनों एक दूसरे को मारकर मर गए। इस प्रमुख कथा के साथ-साथ बीच-बीच में अनेकों राजाओं के साथ पृथ्वीराज के युद्धों का वर्णन, अनेक राजकन्याओं के साथ पृथ्वीराज की विवाह गाथाएं भी रासो में भरी हुई हैं । इसके साथ ही कयमास वध प्रसंग बहुत ही महत्वपूर्ण है। बच्चन सिंह ने पृथ्वीराज रासो को 'राजनीति की महाकाव्यात्मक त्रासदी' कहा है । उनके अनुसार- "चंद का रासो पारंपरिक पैटर्न को ग्रहण करते हुए भी अपनी समग्रता में मौलिक है । मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जन, प्रशंसा-निंदा, नखशिख-वर्णन, अलंकार-विधान, अप्रस्तुत योजना आदि परंपराभुक्त हैं । किन्तु उनका विनियोजन नया है । यह न श्रृंगारगाथा है, न वीरगाथा और न उनका मिश्रण . यह एक राजनीतिक महाकाव्य है, दूसरे शब्दों में राजनीति की महाकाव्यात्मक त्रासदी है।...इस राजनीति के दो छोर हैं - आन्तरिक विग्रह का सामना और बाहरी आक्रामक के साथ युद्ध । युद्ध और विलास सामंती जीवन के अनिवार्य अंग हैं । इनके साथ वैयक्तिक शौर्य को भी शामिल कर लेना चाहिये । युद्ध और शौर्य ताना है और विलास बाना, इसकी बुनावट को समझना रासो को समझना है ।"[31]

"स्थापत्य में मेहराब जैसे दो कमजोर टुकड़ों के एक दूसरे को सहारा देने से बनती है । वैसे ही बड़ी और भव्य रचना में भी कवि दो टुकड़ो को - आप उन्हें क्रिया प्रतिक्रिया कहें, कर्म और फल कहें, इसी प्रकार साधता है । 'पृथ्वीराज रासउ' में इस विधान को कई जगह अपनाया गया है । काव्य के एकदम आरम्भ में 'कयमास-वध' का अपेक्षया विस्तृत प्रसंग आता है, कथा के स्तर पर जिसकी उपयुक्तता तब कुछ बहुत समझ नहीं आती है । इस अंश की प्रासंगिकता खुलती है काव्य के एकदम अंत में । कयमास मंत्री के कामांध हो जाने के कारण पृथ्वीराज ने उसका वध किया था । पर स्वयं पृथ्वीराज इस दोष से मुक्त न रह पाया । वह रानी संयोगिता के प्रेम में जैसे अँधा हो गया, भला-बुरा कुछ न देख सका । रचना के अंतिम चरण पर गोरी की कैद में पूरी सभा के सामने नेत्र विहीन पृथ्वीराज बैठा हुआ है, उसका सखा और कवि चंद उद्बोधन की मुद्रा में उससे कहता है - 'जि कछु दिअउ कयमास किअउ अप्पनउ सु पायउ ।' कैमास को जो कुछ (प्राणदंड) तूने दिया था, वह अपना किया तुझको भी मिल गया । यहाँ दो टुकड़े मिल गए, और रचना की मेहराब पूरी हो गई, जिस पर इतना विशाल कथा-काव्य आधारित है । यहाँ नैतिक औचित्य जितना है कलात्मक औचित्य उससे कहीं अधिक है ।"[32]

इस तरह कर्मों का फल भोगते हुए पृथ्वीराज का त्रासद अंत होता है । इस रासो ग्रंथ में श्रंगार और वीर, दो केंद्रीय रस हैं । इन दोनों रसों के मध्य में ही नायक का चरित्र बुना गया है । पृथ्वीराज चौहान जितना बड़ा वीर है, उतना ही गहन श्रृंगारी भी है । 'पृथ्वीराज रासो' में स्त्री, दोनों रसों का

केंद्र है, स्त्री की प्राप्ति के लिए युद्ध होते हैं और स्त्री को पाकर जीवन में विलास की सृष्टि होती है। यह विलास इतना अधिक गहरा हो जाता है, कि राजा को आक्रमणकारी शत्रु भी नजर नहीं आता है। राजा इतना रसिक है कि जिस भी रानी के पास जाता है, वहीं दो महीने रह जाता है। मोहम्मद गोरी ने आक्रमण कर दिया और संयोगिता के साथ विलास में डूबे राजा को, इसका पता भी नहीं चलता है। ऐसे में मंत्री लोग एकत्र होकर विचार करते हुए कहते हैं, 'किम बुझ्झे रतिवंती राजन'। यह 'रतिवंती' शब्द तत्कालीन दौर के सामंती चरित्र को पूरी तरह से उभार देता है। किन्तु विशिष्ट बात यह है कि प्रेम और विलास के सभी चित्रों में नैतिक मर्यादाओं का पूरा पालन हुआ है। पृथ्वीराज की प्रेयसियाँ उसकी पत्नियाँ ही हैं। उसका विलास वैवाहिक मर्यादाओं में बंधा हुआ है। नारी सौंदर्य का वर्णन रीतिकालीन नायिका वर्णन की तरह अश्लील न होकर मर्यादा के दायरे में है। एक उदाहरण के अनुसार –

"मनहुं कला ससिभान कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय।"[33]

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, अप्रामाणिकताऔर ऐतिहासिकता को लेकर बड़े-बड़े विवाद हो सकते हैं, किन्तु इससे इस महाकाव्य की काव्यात्मकता पर ज्यादा फर्क नहीं पड़ता है। यही कारण है कि प्रामाणिकताकी दृष्टि से पृथ्वीराज रासो को 'जाली' ग्रंथ मानते हुए भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे हिंदी का प्रथम महाकाव्य माना है। राजदरबार का वर्णन हो, युद्ध अथवा प्रेम-विलास का वर्णन हों, प्रकृति वर्णन हों या षडऋतु-वर्णन, सभी का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन हुआ है लेकिन अतिशयोक्तिपूर्ण होकर भी ये वर्णन लोक मानस के करीब हैं। सौन्दर्य निरूपण और श्रृंगार वर्णन में चंद की कोई उपमा नहीं है, यहाँ नायिका के रूप वर्णन में मांसलता से अधिक उदात्तता का भाव दिखाई देता है। शाशिवृता की शारीरिक शोभा की तुलना कवि ने श्रृंगार सुमेरु से की है, आदिकालीन श्रृंगार वर्णनों में इस तरह की उपमा अन्यत्र दिखाई नहीं देती है –

राका अरु सूरज्ज बिच, उदै अस्त दुँहुँ बेर।
बर शशिवृत्ता सोभई, मनौ श्रृंगार सुमेर।।[34]

चंदवरदाई ने पृथ्वीराज के चरित्र को युद्ध और प्रेम-विलास के दो छोरों के मध्य ही गढ़ा है। लेकिन पूरा रासो पढ़कर यह अनुमान जरूर लगाया जा सकता है की पृथ्वीराज का विलासी रूप उसके वीर रूप पर भरी पड़ता है, जिसका परिणाम हम उसकी त्रासद मृत्यु के रूप में देखते भी हैं।

बहरहाल, प्रामाणिकता-अप्रामाणिकताकी तमाम बहसों के बावजूद पृथ्वीराज रासो जीवन का महाकाव्य ठहरता है। इस ग्रंथ में न केवल एक राजा को नायक बनाकर उसकी शौर्यगाथा के कसीदे पढ़े गए हैं, साथ ही साथ अपने युग को प्रतिबिंबित करने का प्रयास भी किया गया है। डॉ

नामवर सिंह के अनुसार - "इसलिए रासो की महिमा वीरता और श्रृंगार के उदात्त तथा उज्ज्वल चित्रण में उतनी नहीं जितनी अपने युग की वास्तविक वीरता तथा प्रेम भावना को प्रतिबिंबित करने में है। कहना न होगा कि इस कार्य में चंद ने जितने व्यापक कार्य क्षेत्र को समेटा है वह संत-भक्ति काव्य को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। रासो मानव जीवन की विविध परिस्थितियों और भाव दशाओं का महासागर है। यही वह विशेषता है जिसने ह्रास युग के सभी काव्यों में रासो को सर्वोपरि स्थान दिया है। निश्चय ही उस युग की सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा पूर्व परंपराओं का वृहत कोश और मध्य युगीन भारतीय समाज का एक काव्यात्मक इतिहास है - यह ग्रंथ"।[35] काव्य की कथावस्तु के आधार पर चंद और पृथ्वीराज की समकालीनता ने 'पृथ्वीराज रासो' की काव्यात्मकता को और भी जीवंत बना दिया है।

परमाल रासो भारत के उत्तरी क्षेत्र के लोकमानस में 'आल्हा' नाम से प्रचलित काव्य ही, साहित्य में परमाल रासो के नाम से जाना जाता है। गेय काव्य की विशेषता रही है, कि समय के प्रवाह के साथ-साथ इसमें नई बातें या घटनाएँ जुड़ती-घटती रही हैं। इसको लोक काव्य की कमी और विशेषता दोनों कहा जा सकता है। कमी इस संदर्भ में कि ऐसी दशा में किसी भी लोक-प्रचलित काव्य की मूल संवेदना अथवा उसकी निजता लगभग समाप्त हो जाती है। विशेषता इस संदर्भ में कि यही लोक और गेय परंपरा किसी काव्य को, नवीनता और ताजगी प्रदान करती है। 1865 ई. में चार्ल्स इलियट ने मौखिक रूप से उपलब्ध आल्हा या परमाल रासो का प्रकाशन कराया। डॉ० श्यामसुंदर दास द्वारा, नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित परमाल रासो का आधार भी यही पुस्तक है।

"परमाल रासो का रचयिता जगनिक नामक कवि माना जाता है, जो महोबा के राजा परमार्दिदेव का आश्रित था। उसने इस काव्य में आल्हा और ऊदल नामक दो वीर सरदारों की वीरतापूर्वक लड़ाइयों का वर्णन किया है। इसी आधार पर इसका रचनाकाल तेरहवीं शती का आरम्भ माना जाता है। इसमें वीर भावना का जितना प्रौढ़ रूप मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। आज भी जब इसे गायक संगीत के साथ गाते है, तब दुर्बलों में भी तलवार चलाने की स्फूर्ति आ जाती है। विवाह और शत्रु-प्रतिशोध वीरता के प्रदर्शन का आधार रहे हैं। युद्धों के अत्यन्त प्रभावशाली वर्णनों की इस काव्य में भरमार है। भावों के अनुसार ही भाषा भी चलती है।"[36]

आल्हाखंड में बावन छोटी-बड़ी लडाइयों का वर्णन मिलता है। यहाँ भी अन्य रासो ग्रंथो की तरह, वीरता और श्रृंगार, दो रसों का प्रमुखता से प्रयोग किया गया है। परमाल रासो में श्रृंगार, जीवन का विलास नहीं बनता है और न ही यहाँ नायक-नायिका के प्रेम प्रसंगों से ही, सैकड़ो पृष्ठ भरे गए हैं। प्रेम जीवन का एक अंग है और उसका उतना ही वर्णन परमाल रासो के आल्हाखंड में देखने को मिलता है। न तो यहाँ किसी रानी राजकुमारी के सौंदर्य के चर्चे हैं और न ही विवाहोत्सव

या रति-उत्सव के लम्बे-लम्बे किस्से, जैसा कि हम पृथ्वीराज रासो में देखते हैं। पृथ्वीराज रासो और परमाल रासो में वर्णित विवाहों में मौलिक अंतर यह है की आल्हा में हुए विवाहों का कारण प्रेम या अनुराग नहीं है। यहाँ विवाह, युद्ध का निमित्त है। आल्हा में अन्य रासो काव्यों की तरह श्रृंगारिक वर्णन की अधिकता नहीं है।

परमाल रासो में युद्ध का कारण प्रेम, प्रतिशोध और किसी मनचाही वस्तु की प्राप्ति हुआ करते थे। ऊदल द्वारा लड़ी गई माड़ो की लड़ाई पिता के प्रतिशोध के लिए लड़ी गई थी। आल्हा-ऊदल द्वारा लड़ी गई तमाम लडाइयों में सबसे मुश्किल लड़ाई नैनागढ़ की थी, जो परमाल के पुत्र ब्रम्हा का विवाह करने के लिए लड़ी गयी थी। युद्धों के उपर्युक्त कारण तो फिर भी महत्वपूर्ण हो सकते हैं लेकिन कभी-कभी हाथी और घोड़ा प्राप्त करने के लिए भी युद्ध हो जाया करते थे। मौखिक परंपरा के अनुसार आल्हा-ऊदल जैसे महावीरों के घोड़ो की फरमाइश पृथ्वीराज ने की थी, जिसके लिए राजा परमाल तैयार भी हो गए थे। आल्हा-ऊदल ने अपने घोड़े पृथ्वीराज चौहान को देने के लिए मना कर दिया। राजा परमाल ने इस बात से नाराज होकर इन दोनों वीरों को देश-निकाला दे दिया था। इस तरह के तमाम छोटे-बड़े कारण मौजूद हैं जिनके चलते बड़े-बड़े युद्ध हो जाया करते थे। इन युद्धों के कारण की तरह उनके युद्ध वर्णन की शैली भी रोचक होती थी। आल्हाखण्ड की युद्ध शैली के बारे में बच्चन सिंह कहते हैं कि - "जगनिक ने परमाल पक्ष के लोगों को पांडवों का अवतार कहा है तो पृथ्वीराज पक्ष के लोगों को कौरवों का। सभी को किसी न किसी देवी-देवता का वरदान प्राप्त है। युद्ध में विशेष स्थानों की बनी तलवारों, भालों और बर्छियों का प्रयोग ही नहीं होता है, जादू से भी काम लिया जाता है। जादू के काम में स्त्रियाँ माहिर हैं। ... वे पूरी सेना को तंद्रालस या पत्थर बना सकती थी। स्पष्ट है कि आल्हाखंड लोक से गहरे अर्थ में सयुंक्त था। इसे रोचक बनाने के लिए जादू-टोना भी जोड़ लिया गया है। ... युद्ध वर्णन की शैली भी एक ही तरह की है-

अररर गोला छूटन लागे, सर सर तीर रहे सन्नाय।
गोला लागै जेहि हाथी के, मानो चोर सेध ह्वै जाय।
गोला लागै जौन ऊँट के, सो गिरि परै चकत्ता खाय।
खट खट खट खट तेगा बोलै, बोलै छपक छपक तलवार"।[37]

परमाल रासो का भाषा की दृष्टि से मूल्यांकन करना बेहद जटिल काम है, क्योंकि इसका मूल रूप प्राप्त नहीं है। गेय परंपरा में होने के कारण भाषागत परिवर्तन होना स्वाभाविक भी है। रचना में आया 'विलायत' शब्द ही आल्हा की रचना से बहुत बाद का शब्द है। बहुत संभव है अट्ठारहवीं शताब्दी के आसपास के किसी आल्हा गायक ने यह शब्द इसमें जोड़ दिया हो। अन्य समकालीन ग्रंथों के समान आल्हा की भाषागत तुलना करने पर, यह भाषा बहुत नवीन लगती है। किन्तु यह

तो तय है कि परमाल रासो वीरत्व का आह्वान करने में बेजोड़ रचना है। आल्हा को सुनकर दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति में भी वीरता का संचार हो जाता है, इसी कारण वीरकाव्य परंपरा में आल्हाखंड को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

आचार्य शुक्ल ने **खुमाण रासो** को नौवीं शताब्दी की रचना माना है, क्योंकि इसमें नौवीं शती के चित्तौड़ नरेश खुमाण के युद्धों का चित्रण है। लेकिन इसके रचनाकाल को लेकर काफी विवाद हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार - "संवत् 810 से 1000 के बीच चित्तौड़ के रावल खुमान नाम के तीन राजा हुए हैं। कर्नल टाड ने इनको एक मानकर इनके युद्धों का विस्तार से वर्णन किया है। उनके वर्णन का सारांश यह है की कालभोज (बाप्पा) के पीछे खुम्माण गद्दी पर बैठा, जिसका नाम मेवाड़ के इतिहास में प्रसिद्ध है और जिसके समय में बगदाद के खलीफा अलमामूँ ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। खुम्माण की सहायता के लिए बहुत से राजा आए और चित्तौड़ की रक्षा हो गई। खुम्माण ने चौबीस युद्ध किये और वि० सं० 869 से 893 तक राज्य किया। यह समस्त वर्णन 'दलपतविजय' नामक किसी कवि के रचित खुमाण रासो के आधार पर लिखा गया जान पड़ता हैं। अब्बासिया वंश का अलमामूँ वि० सं० 870-890 तक ख़लीफा रहा। इस समय के पूर्व खलीफों के सेनापतियों ने सिंध देश के विजय कर ली थी और उधर से राजपूताने पर मुसलमानों की चढ़ाईयां होने लगी थी। अतएव यदि किसी खुम्माण से अलमामूँ की सेना से लड़ाई हुई होगी तो उसी के नाम पर 'खुमानरासो' की रचना हुई होगी।"[38]

पाँच हजार छंदों वाले इस विशाल ग्रन्थ में अन्य रासो ग्रंथो की तरह ही युद्धों और विवाहों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है। राजा के युद्ध-कौशल और उसकी श्रृंगारिकता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन ही कवि का प्रमुख उद्देश्य रहा है। डॉ०नगेन्द्र के अनुसार - "इस ग्रंथ की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति पूना के संग्रहालय में सुरक्षित है। यह पाँच हजार छंदों का विशाल काव्यग्रंथ है। राजाओं के युद्धों और विवाहों के सरल वर्णनों से इस काव्य की भावभूमि का विस्तार हुआ है। संदर्भानुसार नायिका भेद, षटऋतु आदि के चित्रण भी मिलते हैं। राजाओं की प्रशंसा काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। वीर रस के साथ-साथ श्रृंगार की धारा भी आदि से अंत तक चली है। इसमें दोहा, कवित्त, सवैया आदि छंद प्रयुक्त हुए हैं तथा भाषा राजस्थानी है। राजाओं के वर्णनों पर आधारित होने पर भी इसमें काव्यात्मक सरस वर्णनों का प्राचुर्य है"।[39] अन्य वीरकाव्यों की तरह खुमाणरासो वीरता और श्रृंगार के दोनों ध्रुवों के मध्य की रचना है। लेकिन प्रामाणिक सम्पादित पाठ के अभाव में इसका ज्यादा विवेचन संभव नहीं हो पाया है।

हिंदी साहित्य में **हम्मीर रासो**, नामक दो ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। एक शारंगधर कृत और दूसरा जोधराज कृत। हम यहाँ शारंगधर कृत हम्मीर रासो की चर्चा कर रहे हैं। इस ग्रंथ में हम्मीर का वीर चरित्र विस्तार से वर्णित हुआ है। अन्य रासो ग्रंथो की तरह इस ग्रंथ में भी वीर रस की

प्रधानता और अनेक अनैतिहासिक तथ्यों का समावेश हुआ है। इसी कारण से इसकी प्रामाणिकता अपने समकालीन अन्य ग्रंथों की तरह संदिग्ध है। प्राकृत पैंगलम के कुछ पदों में हम्मीर की वीरता का वर्णन मिलता है। उदाहरण -

"पिंधउ दिढ़ सण्णाह बाह उप्पर पक्खर दइ।
बंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वअण लइ।
डुल णहपह भमउ खग्ग रिउ सीसहिं डारउ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पब्बअ अटफालऊ।
हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुहमह जलउ।
सुरताण – सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिअ चलाउ।"[40]

शिवसिंह सरोज में वर्णित है कि चंद की संतानों में शारंगधर नामक कवि हुए, जिन्होंने 'हमीरगौरा' और 'हम्मीर' काव्य-भाषा में रचा था। आचार्य द्विवेदी का मानना है की 'हम्मीर' शब्द अमीर का विकृत रूप है, जो किसी पात्र का नाम न होकर एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। इस प्रकार हम्मीर रासो का अस्तित्व प्रमाणों के अभाव में खतरे में है। इसकी कोई भी प्रति अब तक उपलब्ध नहीं हो पायी है।

विजयपाल रासो की रचना सं. 1607 वि. के आस-पास नल्ल सिंह भाट द्वारा हुई। मिश्रबंधुओं ने इसका रचनाकाल सन् 1355 ई. माना है, किन्तु इसकी भाषा-शैली को देखकर लगता है कि इसका रचनाकाल कहीं अधिक पुराना है। विजयपाल रासो में कहा गया है कि इसका लेखक विजयगढ़ (करौली) के यदुवंशी शासक का दरबारी था। यदि इस कथन को सत्य मान लिया जाये तो विजयपाल रासो का रचनाकाल सं. 1100 वि. के आस-पास ठहरता है, जो संभव नहीं है। रचना में उल्लिखित तमाम घटनाओं के आधार पर इस रचना का लेखनकाल सं. 1600 वि. के आस-पास का लगता है। इस रचना में विजयपाल की दिग्विजय का काव्यमय वर्णन प्रस्तुत किया गया है। हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में विजयपाल रासो के सम्बन्ध में इससे अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

कीर्तिलता राजा कीर्ति सिंह की कीर्तिगाथा (वीरगाथा) है। तमाम वीर-काव्यों की परंपरा में ही विद्यापति ने अपने आश्रयदाता राजा कीर्ति सिंह की प्रशस्ति में इस काव्य की रचना की है। लेकिन यह वीर काव्य, अन्य वीर-काव्यों से कई मामलों में अलग और विशिष्ट है। "कीर्तिलता उस काल के सभी काव्यों से विशिष्ट इसलिए है की इसमें कवि की सत्यान्वेषिणी प्रतिभा ने, अत्यन्त सीमित आयाम में भी, तत्कालीन समाज को पूर्णतः प्रतिफलित करने का सफल प्रयत्न किया। कीर्तिलता का सही अर्थ, इसी कारण, केवल साहित्य का विषय न होकर पुरातत्व, इतिहास, वस्तु-शिल्प, समाजशास्त्र आदि अनेक विधा विभागों का विषय हो गया है। कवि विद्यापति की प्रतिभा

ने सिर्फ परंपरा को ही आत्मसात नहीं किया, बल्कि अपने समय की विदेशी संस्कृति के सभी पहलुओं को समझने की भी कोशिश की। कीर्तिलता में एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति के तत्वों का आकलन है, वहीं मुसलमानी संस्कृति और सभ्यता के अपरिचित लगने वाले पक्षों को समझने की अद्‌भुत जिज्ञासा भी वर्तमान है। कीर्तिलता में भारतीय भवन-निर्माण पद्धति का सूक्ष्म वर्णन है, तो मुसलमानी दरबारों की वास्तुकला और रीति-नीति का भी तथ्यात्मक निदर्शन है। यह काव्य संक्षेप में उस काल की सामाजिक स्थितियों का लघु-कोश है"।[41] ऐतिहासिक दृष्टि से यह रचना लगभग प्रामाणिक है। यहाँ ऐतिहासिक तथ्य, कल्पित घटनाओं या संभावनाओं के द्वारा धुंधले नहीं हुए है। कीर्तिलता में विद्यापति ने इतिहास की रक्षा करने की पूरी कोशिश की है।

आदिकालीन समस्त रासो काव्य या वीर रचनाओं में वीरता और श्रृंगार का ऐसा घाल-मेल है, कि इन दोनों रसों में, प्रधान रस चुन पाना बहुत कठिन होता है। इन सभी काव्यों में वर्णित युद्धों अथवा शौर्य-प्रदर्शन का कारण अधिकतर स्त्री है। इस संदर्भ में कीर्तिलता पूर्णतयः वीर-काव्य है। यहाँ युद्ध या शौर्य-प्रदर्शन का कारण स्त्री या प्रेम नहीं है। यहाँ युद्ध का कारण पुरुषत्व की रक्षा करना है। असलान द्वारा छल से की गई राजा गणेश्वर की हत्या, युद्ध का कारण बनती है। हालांकि हत्या के कुछ ही समय बाद असलान को अपनी गलती का प्रायश्चित भी होता है और वह कीर्ति सिंह को राज्य लौटाना चाहता है लेकिन कीर्ति सिंह के लिए वीरता, पुरुषत्व का पर्याय है -

माता भणइ ममत्त्यइ मन्ती रज्जह नीति।
मज्झु पियारी एक्क पइ वीर पुरिस की रीति।।
मानविहूना भोअना सत्तुक देएल राज।
सरन पइठे जीअना तीनू कायर काज।।[42]

वे दया द्वारा लौटाए जा रहे राज्य को लेने से इन्कार कर देते हैं और सैन्य सहायता प्राप्त करने के लिए बादशाह से मदद मांगने जाते हैं। विद्यापति ने कीर्ति सिंह का बादशाह से मदद मांगने जाने का सविस्तार वर्णन किया है। जौनपुर नगर का वर्णन, हाट-बाजार वर्णन, बादशाह के राजमहल का वर्णन, सेना का वर्णन, युद्ध का वर्णन इत्यादि सविस्तार रूप में उपस्थित हैं। इन वर्णनों के साथ - साथ विद्यापति ने तत्कालीन समाज में उपस्थित दो अलग-अलग संस्कृतियों यानि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। विद्यापति के अनुसार - तुर्क बेहद, 'बर्बर' और जालिम थे। वे ब्राम्हण का जनेऊ तोड़ देते थे , उसके सर पर गाय का चमड़ा लाद देते थे। विद्यापति ने, हिन्दुओं पर तुर्कों के इस तरह के तमाम अत्याचारों का खूब वर्णन किया है -

कतहु बांग कतहु वेद, कतहु मिसमिल कतहु छेद।
कतहु ओझा कतहु षोजा, कतहु नखत कतहु रोजा।
कतहु तम्बारु कतहु कूजा, कतहु नीमाज कतहु पूजा।

कतहु तुरुक वर कर,वांट जाइते वेगार घर ।...

हिन्दू वोलि दुरहि निकार,छोटेओ तुरुका भभकी मार ।[43]

किन्तु ऐसे अत्याचारी तुर्कों के ऊपर बादशाह इब्राहिम शाह है, जिसकी कृपा से राज्य की सभी हिन्दू जातियाँ सुख चैन से रहती थीं । विद्यापति ने बादशाह को बहुत ही महान और प्रजापालक दर्शाया है । कीर्तिलता में विद्यापति ने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के परस्पर प्रभाव को कई जगह उकेरा है लेकिन इस वर्णन में कहीं भी धार्मिक उन्माद या साम्प्रदायिकता की भावना का आग्रह नहीं है । यहाँ अगर 'बर्बर' यवन हैं तो रहमदिल बादशाह भी । इन्हीं बादशाह की सहायता से कथा काव्य के नायक राजा कीर्तिसिंह अपना राज्य प्राप्त करते है । राजा कीर्ति सिंह को राज्य की प्राप्ति होते ही कीर्तिलता का समापन हो जाता है । भृंग-भृंगी संवाद में रचा गया यह काव्य कीर्ति सिंह के संघर्ष की गाथा है । कीर्तिलता की भाषा अवहट्ट है । इस रचना में प्रयुक्त पद्य आलंकारिकता के बनावटी आग्रह से मुक्त है, लेकिन इसमें रचित गद्य आलंकारिक और संस्कृतनिष्ठ है । ऐतिहासिक प्रामाणिकता के कारण ही यह वीरकाव्य अन्य सभी वीरकाव्यों से अलग और विशिष्ट है ।

वीरकाव्य परंपरा की अशिकांश रचनाओं में धार्मिकता, नैतिकता और ईश्वरीय शक्ति की प्रधानता है । इन रचनाओं में अलौकिकता का गहरा पुट है । इसका कारण तत्कालीन मुस्लिम राजाओं का शासन प्रतीत होता है । ऐसा लगता है जैसे काव्यकारों का यह विश्वास था, कि बाहरी ताकतों के आक्रमण और उनके अत्याचारों से अब कोई दैवीय शक्ति ही बचा सकती है । ऐसे में जो भी राजा या शासक प्रजा की रक्षा करने वाला, या न्याय की बात करने वाला होता है, उसको ईश्वर का अवतार कहा गया है । कीर्तिलता में भी इब्राहीम शाह को धरती का भगवान कहा गया है । यही कारण है, कि रासो काव्यों में नायकों के अन्दर ईश्वरीय गुणों की सृष्टि की गयी है । वीर-काव्यों में नायकों को उदात्त गुणों के साथ गढ़ा गया है । वे नैतिकता से युक्त, महावीर और श्रेष्ठ व्यक्तित्व के मालिक है । ऐसे में यदि नायक युद्ध में परास्त भी हो जातें हैं, तो भी उनका व्यक्तित्व धूमिल नहीं होने पाता है । इन नायकों द्वारा युद्ध-भूमि में किया संघर्ष ही महत्वपूर्ण होता है । वीर-काव्यों की नायिकाएँ भी नायक के इसी ओजस्वी रूप पर आसक्त होती हैं । वीरत्व ही इन नायकों की श्रेष्ठता की सबसे बड़ी कसौटी हुआ करती थी । सैन्य गुणों से युक्त सिपाही भी अपनी वीरता के कारण राजा से अधिक श्रेष्ठ बन जाता है, जैसा की हम परमाल रासो के आल्हा खण्ड में देखते हैं । यहाँ आल्हा और ऊदल राजा परमाल से अधिक वीर हैं इसीलिए अधिक श्रेष्ठ और प्रसिद्ध भी हैं ।

बहरहाल, आदिकालीन वीर-काव्यों का उद्देश्य सामंतो की वीरता का बखान करना ही था, जिसमें यह पूर्णतयः सफल हुए हैं । राजाओं सामंतों के जीवन के दो प्रमुख प्रसंगों -युद्ध और प्रेम पर आधारित ये काव्य, वीरता-वर्णन और विलास-वर्णन के जीवंत उदाहरण हैं । इन काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता यही है, कि इनके रचयिताओं ने इन्हें एक चारण के रूप में ही लिखा है, उन्होंने कहीं

उपदेश देने का प्रयास नहीं किया है। वे पूरी मस्ती से राजाओं की शौर्य और प्रेम गाथा का बयान करते हैं, फिर इसके बाद उन्हें दुनिया समाज की कोई चिंता नहीं होती है। यहाँ कला सिर्फ कला के लिए है उसका जीवन से ज्यादा वास्ता दिखाई नहीं देता है। कला यहाँ मनोरंजन का साधन मात्र है, उससे उपयोगिता की कोई मांग नहीं की गयी है। इस प्रकार ये वीर-काव्य अपनी रचना के कारण अर्थात आश्रयदाता की स्तुति, की कसौटी पर बिल्कुल खरे उतरते हैं। आश्रयदाताओं की अतिरंजनापूर्ण प्रशंसा करने में ये काव्य बेजोड़ कहे जा सकते हैं। इन रचनाओं का योगदान अपने राजा की नसों में उत्साह का संचार करना था। ये चारण कवि सामंतों के विलासिता में डूबे हुए व्यक्तिव में पौरुष का जोश जगा देते थे। यह सही है कि प्रथम दृष्टया ये काव्य राजाओं की चरण वंदना से अधिक नहीं लगते हैं, किन्तु इनका योगदान इससे अधिक है। कवियों ने तत्कालीन सामंती व्यवस्था में राजाओं की योग्यता को उभारा है। अपनी वीरता का बखान सुनकर राजाओं का जमीर जाग उठता है, और वे रणक्षेत्र में हँसते-हँसते अपने प्राण न्योछावर करने को तत्पर हो जाते थे।

च. आदिकालीन गद्य साहित्य

संख्यात्मक दृष्टि में आदिकालीन हिंदी साहित्य पद्य प्रधान रहा है, किन्तु इस काल में देश के विभिन्न हिस्सों में गद्य रचनाएँ भी लिखी जा रहीं थीं। ऐसे तो आदिकाल में गद्य रचना के स्फुट प्रयास ही देखने को मिलते हैं, लेकिन गद्य परंपरा के आरंभिक स्वरूप के अन्तर्गत इस साहित्य का अध्ययनमहत्वपूर्ण है। गद्य के माध्यम से जीवन और सामाजिक वास्तविकता को सविस्तार प्रकट किया जा सकता है। आदिकाल में प्राप्त गद्य रचनाओं में तत्कालीन जीवन के यथार्थ को देखा जा सकता है । इस युग की गद्य कृतियों में रोड़ा कवि की 'राउलवेल', दामोदर भट्ट कृत 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण', ज्योतरीश्वर ठाकुर कृत 'वर्ण रत्नाकर' तथा विद्यापति कृत कीर्तिलता और कीर्ति पताका का नाम उल्लेखनीय है।

राउलवेल – रोडा नामक कवि को राउलवेल का रचनाकार माना जाता है। इस कृति को बंबई के 'प्रिंस आफ वेल्स' संग्रहालय से प्राप्त करके प्रकाशित कराया गया है। यह शिला पर अंकित की गयी कृति है। इसके रचनाकाल को लेकर विद्वानों में विवाद हैं, लेकन अधिकांश विद्वानों ने इसका समय दसवीं शताब्दी माना है। यह चम्पू काव्य की प्राचीनतम हिंदी कृति है। इस रचना में विषय-वस्तु के रूप में 'राउल' नाम की नायिका के नख-शिख वर्णन को आधार बनाया गया है। कवि ने नायिका के सौन्दर्य वर्णन की शुरुआत तो पद्य में की है लेकिन बाद में उन्होंने गद्य का प्रयोग किया है। हिंदी

साहित्य में नख-शिख वर्णन की श्रृंगार-परंपरा का आरम्भ इसी कृति से माना जाता है। इस ग्रंथ की भाषा प्रधानतः राजस्थानी है, लेकिन इसमें सात अन्य बोलियों के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। कवि ने बड़ी ही तन्मयता से नायिका के सौन्दर्य के आकर्षण का बखान किया है। नायिका का रूप जितना आकर्षक है उसका श्रृगार उससे भी अधिक आकर्षित करने वाला है। कवि ने रचना में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग करके नायिका के रूप वर्णन को और भी अधिक प्रभावशाली बना दिया है। 'राउलवेल' में प्रस्तुत गद्य की आलंकारिक भाषा को इस उदाहरण के माध्यम से भली-भांति समझा जा सकता है - "एहु गौड़ एकु को पुन अउर वर ... को ... तइं सहुं या बालइ । जणुणु मालवीय देसुहि आवंतु आम्बदेउ जाउ (जानूं) आपणा हथिआरहु भूलइ । इहां अम्हारइ दुभगी खौंप हरिउ भइ" ।[44] प्रवृत्ति के रूप में यह रचना गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू काव्य है। आदिकाल में गद्य साहित्य के आरंभिक स्वरूप का अध्ययन करने की दृष्टि से यह रचना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण – गहडवार के प्रसिद्ध राजा गोविन्दचन्द्र के दरबारी साहित्यकार दामोदर शर्मा ने इस पुस्तक की रचना की थी। इस रचना का रचनाकाल बारहवीं शताब्दी माना जाता है। इस पुस्तक की रचना का उद्देश्य राजा के पुत्रों को शिक्षित करना था। उक्तिव्यक्तिप्रकरण में बताया गया है कि, लोकभाषा से संस्कृत व्याकरण का आधारभूत ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानते हैं की उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है । "इससे बनारस और आस-पास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, और उस युग के काव्य रूपों के संबंध में भी थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त होती है"।[45] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस मत का समर्थन करते हुए डॉ मोतीचंद ने इस ग्रंथ की भाषा का एक नमूना प्रस्तुत किया है 'वेद पढ़ब, स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखब, धर्म करब', जिसमें हिंदी भाषा में तत्सम शब्दावली के प्रयोग की बढती हुई प्रवृत्ति को साफ़ तौर पर देखा जा सकता है। इस किताब में इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि साहित्य की रूढ़ भाषा से बोल-चाल की भाषा काफी अलग थी। अपभ्रंश साहित्य की रूढ़ भाषा थी और बोल-चाल में लोक-भाषा तथा बोली का प्रयोग होता था। इस किताब से यह पुष्ट होता है कि उस समय से ही हिंदी व्याकरण की ओर ध्यान दिया जाने लगा था । अवधी भाषा और संस्कृति को समझने की दृष्टि से उक्तिव्यक्तिप्रकरण का ऐतिहासिक महत्व उल्लेखनीय है।

वर्णरत्नाकर – वर्णरत्नाकर की रचना मैथिली हिंदी भाषा में की गयी है। इस पुस्तक को डॉ सुनीत कुमार चटर्जी और पंडित बबुआ मिश्र के संपादन में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित कराया गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी में माना है। यह रचना 'कल्लोलों' में विभाजित करके लिखी गयी है। इस गद्य रचना में राज दरबारों के क्रिया कलापों का ब्योरेवार वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ में रीति-ग्रंथों की तरह ही नायिका के गुणों, उनके प्रकारों की विवेचना की गयी है। नायिका वर्णन के साथ साथ इस ग्रंथ में वेश्या जीवन और उनके द्वारा प्रस्तुत संगीत का भी वर्णन मिलता है। वर्णरत्नाकर की भाषा में कवित्त, आलंकारिकता तथा शब्दों की तत्समता की प्रवृत्ति मिलती है। नायिका वर्णन का एक उदाहरण प्रस्तुत है - "उज्ज्वल कोमल लोहित सम सुंतल सालंकार पंचगुण संपूर्ण चरण अकठिन सुकुमार गज हस्त प्राय जानु युगल पीन मांसले कूम्म्र पृष्ठाकार श्रोणी गंभीर दक्षिणावर्त मण्डलाकृति नाभि क्षीण सुकुमार वलित तिनी गुण समन्वित पुष्टि-ग्राह वेकण्य स्याम सदृश सुकुमार सूक्ष्म सुवेश दीर्घ छह गुणे संपूर्ण कोमलता"।[46] प्रस्तुत उदाहरण में सौन्दर्यग्राहिणी प्रतिभा स्पष्ट दिखाई दे रही है। हिंदी गद्य के विकास में 'राउलवेल' के पश्चात 'वर्णरत्नाकर' का योगदान उल्लेखनीय है।

कीर्तिलता – कीर्तिलता राजा कीर्तिसिंह के चरित्र को लेकर लिखा गया काव्य है, जिसमें उनकी चारित्रिक विशेषताओं का बखान किया गया है। कीर्तिलता में, गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू काव्य शैली का प्रयोग किया है। संस्कृत साहित्य में गद्य, कथा के लिए लगभग अनिवार्य प्रतिमान हुआ करता था, जबकि अपभ्रंश में कथा लेखन के लिए पद्य शैली प्रचलित थी। कीर्तिलता इन दोनों शैलियों से अलग है और संस्कृत साहित्य में प्रचलित चम्पू काव्य के करीब है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - "विद्यापति की कीर्तिलता की भाषा में गद्य का प्रचुर प्रयोग हुआ है यह ठीक है कि संस्कृत के कथा, आख्यायिका और चम्पू श्रेणी के काव्यों के आदर्श पर विद्यापति ने गद्य में प्रयुक्त संस्कृत बहुल पदावली को सरस और अलंकृत करने का प्रयत्न किया है और इसीलिए साधारण जनता के बीच प्रचलित शब्दराशि से यह थोड़ी भिन्न है तथापि इस गद्य से इतना अवश्य सूचित होता है कि तद्भव शब्दों का प्रयोग पद्य में होता था और बोलचाल के गद्य में तत्सम शब्द ही चलते थे।"[47] इस काव्य में विद्यापति द्वारा प्रयुक्त अवहट्ट भाषा में मिथिला प्रदेश की लोकभाषा की व्याकरणिक विशेषताओं का आभास तो मिलता ही है, साथ ही तत्कालीन लोक प्रचलित देशी शब्दों का समावेश भी देखने को मिलता है।

कीर्तिलता का गद्य अलंकारिक गद्य की तर्ज पर ही लिखा गया है। परवर्ती अपभ्रंश के रचनाकारों के सामने गद्य-निर्माण के लिए संस्कृत का गद्य-साहित्य ही आदर्श था। बाण, दण्डी

आदि की कलम से निकले हुए गद्य को ही आदर्श मानने और उसकी विशेषताओं का पालन करने के क्रम में ही, तत्कालीन का गद्य संस्कृतनिष्ठ हो गया । कीर्तिलता के गद्य की आलंकारिकता और संस्कृतनिष्ठता का भी यही कारण है । कीर्तिलता का पद्य जितना जनोन्मुख है उसका गद्य उतना ही संस्कृतनिष्ठ हो गया है । कीर्तिलता में प्रयुक्त गद्य के उदाहरणस्वरूप – "तान्हि करो पुत्र युवराजन्हि मांझ पवित्र अगणेयगुणग्राम, प्रतिज्ञापदपूरणैकपरसुराम मर्यादामङगलावास,कविताकालिदास, प्रवलरिपुवल सुभटसंकीर्णसमरसाहसदुर्निवा, धर्नुविद्यावैदग्ध धनञजयावतार समाचरित चन्दचूड चरणसेव समस्त प्रक्रिया विराजमान महाराजाधिराज श्रीमद्वीरनसिंहदेव ।"[48] कीर्तिलता चम्पू काव्य होते हुए भी, आदिकालीन गद्य साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए एक महत्वपूर्ण रचना है ।

आदिकाल हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं की तरह गद्य लेखन के क्रम में भी हिंदी का आरंभिक काल है । इस काल में पद्य की प्रधानता के बावजूद गद्य लेखन धीरे-धीरे अपना आकर ग्रहण कर रहा था । यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि 'राउलवेल' से लेकर 'कीर्तिलता' के मध्य के अन्तराल में भी अन्य गद्य रचनाएँ लिखी गयी होंगी । किन्तु आदिकालीन तमाम साहित्य की तरह आज ये रचनाएँ उपलब्ध नहीं हो पाई हैं । बहरहाल, उपर्युक्त विवेचित कृतियों से हिंदी साहित्य के आदिकाल में गद्यधारा के प्रवाह की अखंडता अवश्य प्रमाणित होती है ।

संदर्भ -

1. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ सं.-65
2. सांकृत्यायन, राहुल, 'हिंदी काव्य-धारा', पृ सं.-75
3. शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं.- 43
4. सांकृत्यायन, राहुल, 'हिंदी काव्य-धारा', पृ सं.- 9
5. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ सं.-23
6. शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं.- 63
7. 'वही', पृ. सं.-62
8. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ सं-28
9. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'कबीर', पृ सं.-34
10. सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं.-228
11. शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं.-157
12. सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं.-216
13. 'वही', पृ. सं.-216
14. शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं.-158
15. 'वही', पृ. सं.-144
16. 'वही', पृ. सं.-144
17. सिंह, सुधीर प्रताप, सं. 'आदिकालीन और भक्तिकालीन काव्य', पृ. सं.-20
18. 'वही', पृ. सं.-140
19. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ सं.-48
20. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ सं.-37
21. सिंह, ओमप्रकाश, 'प्रमुख हिंदी कवि और काव्य आदिकाल और भक्तिकाल', पृ. सं.-110
22. सिंह, सुधीर प्रताप, सं., 'आदिकालीन और भक्तिकालीन काव्य', पृ. सं.-191
23. 'वही', पृ. सं.-193
24. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ सं.-33
25. नगेन्द्र, डॉ०, सं., हरदयाल डॉ०, सह-सं., 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ सं.-61
26. 'वही', पृ सं० 65
27. सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं.-232

28. 'वही', पृ सं.-231
29. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ सं.-39
30. सिंह, बच्चन, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृ सं.-53
31. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास', पृ सं.-27
32. नगेन्द्र, डॉ०, सं., हरदयाल डॉ०, सह-सं., 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ सं.-70
33. 'वही', पृ सं.-67
34. शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं.-125
35. 'वही', पृ सं.-127
36. सिंह, बच्चन, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृ सं.-56-57
37. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ सं.-35
38. नगेन्द्र, डॉ०, सं., हरदयाल डॉ०, सह-सं., 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ सं.-65
39. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास', पृ सं.-42
40. सिंह, डॉ० शिवप्रसाद, 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा', पृ सं.-169
41. श्रीवास्तव, वीरेन्द्र, सं. 'कविकोकिल विद्यापतिकृत कीर्तिलता', पृ सं.-43
42. सिंह, डॉ० शिवप्रसाद, 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा', पृ सं.-246
43. सिंह, डॉ० शिवप्रसाद, 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा', पृ सं.-269-270
44. नगेन्द्र, डॉ०, सं., हरदयाल डॉ०, सह-सं., 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ सं.-73
45. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ सं.-65
46. नगेन्द्र, डॉ०, सं., हरदयाल डॉ०, सह सं., 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ सं.-73
47. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास', पृ सं.-236
48. श्रीवास्तव, वीरेन्द्र, सं. 'कविकोकिल विद्यापतिकृत कीर्तिलता', पृ सं.-48

अध्याय-2

आदिकालीन हिंदी साहित्य : मूल्यांकन के आधार

क. ऐतिहासिकता बनाम काल्पनिकता

ख. साहित्यिक आधार

ग. भाषिक संरचना

घ. सामाजिक उपादेयता

आदिकालीन हिंदी साहित्य : मूल्यांकन के आधार

आदिकालीन हिंदी साहित्य के परिवेश और पृष्ठभूमि में आंतरिक कलह से उपजी तनावपूर्ण राजनीतिक परिस्थितियों का विशेष योगदान रहा। तत्कालीन राजनीति में केन्द्र का अभाव था। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों ने सामाजिक और साहित्यिक संरचना को भी प्रभावित किया। आदिकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियों की विविधता का कारण इस काल की संक्रमणशील सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। यहाँ भिन्न भाषाओं, संस्कृतियों, धार्मिक मान्यताओं का समायोजन साथ-साथ हो रहा था। इस तरह के विकसनशील साहित्य का मूल्यांकन किसी एक आधार बिंदु द्वारा संभव नहीं है। सामाजिक परिवर्तनों के प्रभाव से साहित्य में निरंतर बदलाव होते रहते हैं, और साहित्य में बदलाव होते रहने के कारण उसके मूल्यांकन के आधार बिंदु भी बदलते रहते हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि जब भी सत्ता के पुराने समीकरणों में बदलाव होता है तो इसके साथ-साथ उस काल के समाज, साहित्य और भाषा में भी बदलाव होना निश्चित है।

आदिकालीन राजनीतिक परिस्थितियों ने उस काल के समाज, साहित्य और भाषा में निर्णायक परिवर्तन किये। इस काल की सामाजिक संरचना का क्षेत्र व्यापक है। आदिकालीन रचनाकारों ने समाज के हर वर्ग को वाणी दी है। सिद्ध,नाथ,जैन साहित्यकारों की रुक्ष फटकार के साथ लोक गाथाओं की सरस अनुभूतियाँ इस काल की विशेषता हैं। यहाँ लोक के रोम-रोम में बसे राधा-माधव की केलि-कथाओं की मस्ती तथा राजदरबारों की कुलीन गाथाएं एक साथ देखने को मिलती हैं। हालाँकि इस काल की ऐतिहासिक रचनाओं के साथ, ऐतिहासिकता बनाम काल्पनिकता का तीव्र विवाद भी है। इसके बावजूद साहित्यिक दृष्टि से ये रचनाएँ अपने समय का जीवंत दस्तावेज हैं। आदिकालीन साहित्य के समन्वयकारी स्वरूप ने युद्ध के परिवेश से उपजी निराशा को कम करने का सकारात्मक प्रयास किया। धार्मिक साहित्य के जनवादी स्वरूप ने जनभाषा की पुरजोर वकालत की। इसके परिणामस्वरूप परंपरा से चली आ रही अपभ्रंश भाषा को साहित्यिक भाषा का स्थान छोड़ना पड़ा। हिंदी साहित्य के आरंभिक युग में साहित्य में जन भाषाओं की प्रतिष्ठा हुई। इस संदर्भ में यह कहना गलत नहीं होगा कि ऐतिहासिकता, साहित्यिकता, भाषिक संरचना और सामाजिक उपादेयता ही वे प्रमुख आधार बिन्दु हैं, जिनसे आदिकालीन हिंदी साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। इन आधार बिन्दुओं के आलोक में किसी भी युग के साहित्य का सम्यक मूल्यांकन करना तार्किक भी है और आवश्यक भी।

क. ऐतिहासिकता बनाम काल्पनिकता

कला जगत में ऐतिहासिकता बनाम काल्पनिकता का विवाद बहुत पुराना है। इन दोनों पदों के समर्थन और विरोध करने वालों के पास अपने-अपने तर्क मौजूद हैं। इतिहास का सम्बन्ध तथ्यात्मकता से है और काल्पनिकता का सम्बन्ध साहित्य सृजन से। इतिहास में अतीत की घटनाओं की तथ्यात्मक पुष्टि आवश्यक है लेकिन साहित्य कल्पना के आधार पर इन बिन्दुओं से आजाद होता है। इतिहास साक्ष्य प्रधान होता है और साहित्य कल्पना, भावना तथा संवेदना प्रधान। इसीलिए रानी पद्मावती के ऐतिहासिक चरित्र पर आधारित सिनेमा का बहिष्कार होता है और मलिक मोहम्मद जायसी द्वारा लिखित 'पद्मावत' ग्रंथ पर आधारित फिल्म 'पद्मावत' को स्वीकार कर लिया जाता है। इस उदाहरण के द्वारा ऐतिहासिकता बनाम कल्पना का विवाद स्पष्टता से समझा जा सकता है। पद्मावती ऐतिहासिक चरित्र है, जो जनमानस में अपनी प्रामाणिक छवि के साथ मौजूद है, उस चरित्र के साथ किसी भी तरह का फेर बदल स्वीकार्य नहीं है। 'पद्मावत' एक साहित्यिक रचना है, जो किसी रचनाकार की निजी उद्भावना है। जायसी यह कल्पना कर सकते हैं कि जब अलाउद्दीन ने पद्मावती का सौन्दर्य देखा होगा तो क्या सोचा होगा, या फिर यह कि जब वह उसको प्राप्त कर लेगा तो उसके मनोभाव क्या होंगे। साहित्य लेखन में किसी ऐतिहासिक चरित्र के साथ मिलने वाली यह छूट कल्पना के माध्यम से ही संभव है।

इतिहास लेखन का शिल्प साहित्य लेखन के शिल्प से भिन्न है। इतिहास तथ्य आधारित होता है और साहित्य संवेदना और कल्पना आधारित। किन्तु ऐसा नहीं है की इतिहास कल्पना से पूर्णतः विरक्त या मुक्त होता है। कल्पना, ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या में इतिहासकार के लिए महत्वपूर्ण 'टूल' का काम करती है। जैसे इतिहासकार यदि स्वाधीनता संग्राम का इतिहास लिखता है तो वह घट चुकी घटना को अपने मस्तिष्क में कल्पित करते हुए, उस हवाले से प्राप्त तथ्यों के आलोक में घटना की व्याख्या करता है। किन्तु इतिहास में साहित्य की तरह कल्पना का मनमाना प्रयोग संभव नहीं होता है। यहाँ कल्पना घटनाओं को समझने में सहायक होती है। वह स्वयं घटनाओं की निर्मिति नहीं करती है। इतिहासकार ई. एच. कार इतिहास लेखन में विचारों की 'कल्पनात्मक समझ' के हिमायती हैं। "जब तक इतिहासकार उन लोगों के मस्तिष्क के साथ सम्प्रेषण नहीं स्थापित कर लेता जिन लोगों के बारे में वह लिख रहा तब तक वह इतिहास नहीं लिख सकता"।[1] यह सम्प्रेषण कल्पना के अभाव में संभव नहीं है।

इतिहास लेखन के मूलतः तीन चरण होते हैं, किसी घटना के कारणों को खोजना, यथार्थ अथवा साक्ष्य की तलाश करना तथा सामान्यीकरण। इतिहासकार इतिहास लिखने के लिए जब किसी घटना का चयन करता है तब सबसे पहले वह उस घटना विशेष के कारणों का पता लगता है

। इसके बाद वह उक्त घटना के पक्ष में साक्ष्य जुटाता है, जो घटना की पुष्टि करते हैं। इसके बाद जब इतिहासकार घटना विशेष के यथार्थ के प्रति आश्वस्त हो जाता है तब वह इसकी प्रस्तुति अथवा सामान्यीकरण करता है। इतिहास अतीत का वह अंश है, जो प्रमाण आश्रित होता है। यह प्रमाण या तो किसी के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित होता है या फिर लिखित साक्ष्य के रूप में प्राप्त होता है। पांडुलिपि, ताम्रपत्र, भोजपत्र, कागज, वस्त्र, ईंट या पत्थर अथवा धातुपत्रों पर लिखी बातों को ऐतिहासिक दस्तावेज माना जाता है। कई बार धरती के नीचे दबे हुए नगरों के अवशेषों के रूप में भी इतिहास सुरक्षित रहता है। विद्वान इन तथ्यों की व्याख्या और विश्लेषण करके जो निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं उसे इतिहास कहा जाता है। किन्तु इतिहासकार द्वारा वर्णित तथ्य कितने शुद्ध हैं, यह भी पड़ताल का विषय होता है। इतिहास लेखन में इतिहासकार की दृष्टि, विजन और विचारधारा बहुत महत्वपूर्ण होती है। अतीत के विस्तृत फलक से कोई इतिहासकार किन घटनाओं को चुनता है यह उसकी दृष्टि पर निर्भर करता है। इसीकारण दो अलग-अलग इतिहासकारों द्वारा एक ही घटना पर लिखे गए इतिहास ग्रंथ भिन्न-भिन्न होते हैं। ई. एच. कार के अनुसार - "पहली बात यह है कि इतिहास के तथ्य हमें कभी शुद्ध रूप में नहीं मिलते क्योंकि शुद्ध रूप में वे न तो रहते हैं और न रह सकते हैं। वे हमेशा लेखक के मस्तिष्क में रंग कर आते हैं। बाद में जब हम इतिहास का कोई कार्य शुरू करते हैं तो हमारा ध्यान सबसे पहले उसमें प्राप्त तथ्यों पर केन्द्रित नहीं होना चाहिए बल्कि उस इतिहासकार पर होना चाहिए जिसने उसे लिखा है। ... इतिहास के तथ्य मछुआरे की पटरी पर पड़ी मरी हुई मछलियाँ नहीं हैं, वे जीवित मछलियों की तरह हैं जो एक विशाल और अगाध समुद्र में तैर रहीं हैं। इतिहासकार के हाथ में कौन सी मछलियाँ आएंगी यह कुछ तो संयोग पर निर्भर करता है मगर मुख्यतः इस बात पर निर्भर करता है कि वह समुद्र के किस हिस्से में मछली मारने का इरादा रखता है और किस ढंग से काँटों का इस्तेमाल करता है"।[2]

कल्पना एक मानसिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अतीत की अनुभूतियों को पुनर्संगठित करके एक नया रूप दिया जा सकता है। बुद्धि अनुशासित और नियंत्रित करने का काम करती है, लेकिन कल्पना जीवंत शक्ति है जिसके द्वारा 'क्या है' के समानांतर 'क्या हो सकता है' को साकार रूप दिया जा सकता है। कल्पना द्वारा नए विचारों का सृजन संभव है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'कल्पना सिद्धांत' के प्रस्तोता कॉलरिज का कहना है कि - "स्पष्ट रूप से संसार में दो शक्तियां कार्य करती हैं जो एक दूसरे के सम्बन्ध में क्रियाशील और निष्क्रिय होती हैं और कार्य बिना एक मध्यस्थ शक्ति के संभव नहीं है जो एक साथ सक्रिय भी है और निष्क्रिय भी। दर्शन भाषा में इस मध्यस्थ शक्ति को कल्पना की संज्ञा दी गयी है। वस्तुतः कल्पना वह शक्ति है जो बहिर्जगत और अंतर्जगत का सफल संयोजन करती है और प्रतिबोधन और अवबोधन के अंतर को मिटाती है जिसे बुद्धि के सहारे नहीं मिटाया जा सकता। कल्पना पदार्थों और वस्तुओं में चेतना का संचार करती है और उन्हें जीवंत रूप

में सम्मुख पेश करती है"।[3] कॉलरिज के लिए काव्य सृजन के सिद्धांत महत्वपूर्ण हैं। वे कविता के मौजूदा रूप का विश्लेषण न करते हुए सृजनात्मक शक्ति की विवेचना पर जोर देते हैं। कल्पना वह शक्ति है जिसका प्रयोग कलाकार अपनी सर्वोत्तम प्रतिभा को उभारने में करता है। साहित्यकार अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा अमूर्त धारणाओं को अभिव्यक्त करता है। कल्पना के अभाव में किसी छवि को प्रत्यक्ष कर पाना संभव नहीं है। कल्पना कला का पुनः सृजन है, यह सृजन कलाकार की भावना के आधार पर होता है। यदि बाह्य नियमों के आधार पर काव्य-रचना का प्रयास किया जाता है, तो कविता में यांत्रिकता आ जाती है। कल्पना का आश्रय कविता को हृदयग्राही, मर्मस्पर्शी और जीवंत बनाता है। बुद्धि अनुशासित और नियंत्रित करने का कार्य करती है किन्तु कल्पना में जीवन्तता होती है। कल्पना के आधार पर ही कवि जो हुआ उस पर नहीं रुकता है, वह क्या हो सकता है इसका अनुमान भी कर सकता है। कल्पना रचना की सृजन प्रक्रिया में नए आयाम जोड़ने का काम करती है।

साहित्य का वह अंश जो इतिहास की किसी घटना अथवा पात्र को केंद्र में रखकर लिखा जाता है, ऐतिहासिक साहित्य कहलाता है। इतिहास साक्ष्य बद्ध होता है और साहित्य उससे मुक्त। साहित्य लेखन में मानवीय अनुभव साक्ष्य के रूप में मौजूद होते हैं। साहित्यकार, इतिहासकार द्वारा संचित तथ्यों की अनदेखी तो नहीं करता है, लेकिन वह उनसे परे जाकर पुराणों, परंपराओं, किंवदंतियों, लोकस्मृतियों में रक्षित अतीत को भी अपने आख्यान में शामिल कर सकता है। साहित्यकार अपनी संवेदना और कल्पना से एक ऐसे नए संसार की रचना करता है जो कल्पना प्रसूत होते हुए भी सच होता है। साहित्यकार के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का महत्व होता है, ऐतिहासिक तथ्यों का नहीं। साहित्यकार ऐतिहासिक तथ्यों को गौण स्थान देते हुए स्वीकार करता है और एक ऐसे कथा संसार का सृजन करता है, जो अतीत पर आधारित होते हुए भी वर्तमान की वस्तु होता है।

इतिहास सदैव ही तथ्य प्रधान होता है, लेकिन साहित्य की मूल प्रवृत्ति तथ्य परक न होकर कल्पना आधारित होती है। कोई भी काव्य कृति इतिहास नहीं होती है, कवि इतिहास का आश्रय लेकर काव्य की सम-सामयिक उपादेयता को बढाने का प्रयास करता है। रचनाकार, इतिहासकार नहीं होता है जो घटनाओं का यथावत वर्णन करे, वह काव्य प्रयोजन को सिद्ध करने वाली घटनाओं का आश्रय लेकर उसमें कल्पना और काव्यात्मक ऊर्जा का मिश्रण करते हुए रचना का विकास करता है। आदिकालीन तमाम रासो ग्रंथ इतिहास का संस्पर्श लेकर आगे बढ़ते हैं, लेकिन इनमें व्यापकता कल्पना की है। चूँकि आदिकालीन ऐतिहासिक कवितायें पूर्णतः दरबारी कवितायें हैं, इसलिए इनमें अभिव्यंजना और अतिशयोक्ति इतनी प्रचुर मात्रा में पाई जाती है कि यदि उसके भीतर इतिहास के

तथ्य छुपे होंगे तो भी वे संदेहास्पद रहेंगे। उनमें सन् या संवत का वैसा दखल नहीं है जो इतिहास में होता है।

ऐतिहासिकता और काल्पनिकता की बहस में मूल मुद्दा यही है कि क्या साहित्य को इतिहास माना जा सकता है। इतिहास और साहित्य के अलगाव का मूल आधार कल्पना ही है। संस्कृत साहित्य की रचना 'राजतरंगिणी' दसवीं शताब्दी में लिखी गयी पहली इतिहासपरक रचना है। लेकिन काल्पनिकता के अभाव के कारण इस रचना को साहित्य का अंग न मानते हुए साहित्येतर रचना कहा जाता है। काल्पनिकता साहित्य लेखन की महत्वपूर्ण शर्त है। साहित्य, इतिहास और राजनीति से भिन्न होता है। यह न तो तिथियों का निर्जीव संकलन है और न ही राजनीतिक, सामाजिक और बौद्धिक विकास का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब है। वह सांख्यिकी की तरह नियमों या सूत्रों में बंधा हुआ भी नहीं होता है और न ही इतिहास की तरह तिथियों के विभाजन के साथ विभाजित होता है। साहित्य समाज सापेक्ष विधा है, जो सामाजिक गतिविधियों से प्रभावित होकर रचा जाता है और सृजन के पश्चात सामाजिक परिवर्तनों का वाहक होता है।

हिंदी साहित्य के आदिकाल में रासो काव्य धारा, इतिहास को केंद्र में रखकर लिखी गयी है। काव्य की इस प्रवृत्ति के लेखक, राजाओं और सामंतों के आश्रित कवि थे, जिन्होंने अपने संरक्षक राजाओं की वीरता के गीत गाये। आदिकालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ युद्ध प्रधान परिवेश में पनप रही थीं। ऐसे समय में चारण या कवियों के लिए अपने राजनायकों के चरित्र और वीरता का बखान करना आवश्यक था। किसी भी काल खंड की परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियां परस्पर पूरक होती हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध कवि की रचना का मूलाधार होता है। आदिकालीन संक्रमणशील परिस्थितियों, आन्तरिक कलह तथा लगातार हो रहे विदेशी आक्रमणों से उपजी हताशा ने वीर काव्य की पृष्ठभूमि तैयार की। कवियों ने आश्रयदाता राजाओं के कुल गौरव तथा शौर्यगाथा का वर्णन युगीन आवश्यकता के रूप में किया है। पराजय और निराशा के युग में अपने पूर्व पुरुषों की गौरवगाथा गाने के लिए उन्हें इतिहास का सहारा लेना अनिवार्य था। इतिहास के आश्रय में ये कवि अपनी रचनाओं की प्रामाणिकताऔर आयु दोनों को बढ़ाना चाहते थे। इस क्रम में कवियों ने इतिहास को अपने राजा और उनकी प्रशस्ति के अनुरूप मोड़ लिया। यही कारण है कि आदिकालीन ऐतिहासिक काव्यों में इतिहास और कल्पना का द्वंद्व दिखायी देता है।

आदिकालीन हिंदी साहित्य के अंतर्गत प्राप्त होने वाली वीरतापरक रचनायें ऐतिहासिकता का आधार लेकर अवश्य लिखी गयी हैं, लेकिन उनमें ऐतिहासिक तथ्यों के साथ भरपूर छेड़-छाड़ की गयी है। इन रचनाओं में ऐतिहासिकता का निर्धारण करना एक बड़ी समस्या है। आचार्य शुक्ल ने स्वयं जिन बारह रचनाओं के आधार पर आदिकाल को वीरगाथा काल कहा है, उन सभी पर अनैतिहासिकता की छाप है। इन बारह रचनाओं में 'विजयपाल रासो', 'हम्मीर रासो', 'कीर्तिलता',

'कीर्तिपताका', 'खुमान रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'जयचंद प्रकाश', 'जयमयंक जस-चन्द्रिका', 'परमाल रासो' तथा विद्यापति की 'पदावली' शामिल हैं। इन रचनाओं में प्रथम चार रचनाएँ अपभ्रंश भाषा की हैं। 'खुमान रासो' का रचनाकाल 1760 के बाद का सिद्ध हो चुका है। 'बीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो' का रचनाकाल तो विवादित है ही, साथ ही इन रचनाओं की प्रामाणिकता की समस्या है। 'जयचंद प्रकाश' और 'जयमयंक जस-चन्द्रिका' अनुपलब्ध रचनाएँ हैं। 'परमाल रासो' और 'खुसरो की पहेलियाँ' भाषागत दृष्टि से अप्रामाणिक प्रतीत होती हैं। इन बारह रचनाओं में विद्यापति की पदावली ही प्रामाणिक ठहरती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वयं भी इन रचनाओं की संदिग्धता को स्वीकार किया है "पहले कहा जा चुका है कि प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्त भाषा के जो पुराने काव्य - जैसे, बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो, आजकल मिलते हैं वे संदिग्ध हैं। इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर थोड़ा बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें संतोष करना पड़ता है"।[4] ऐतिहासिक रासो काव्य ग्रंथ हैं - 'खुमाण रासो' 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'परमाल रासो', और 'विजयपाल रासो'। इन रचनाओं के चरित नायक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, परन्तु इन ग्रंथों में ऐतिहासिक तथ्यों का ध्यान नहीं रखा गया है। कवियों ने कल्पना का पूरा आश्रय लिया है। इस क्रम में ऐतिहासिक तिथियों की सर्वाधिक अनदेखी की गयी है। कवियों ने कल्पना के अतिरेक में काव्य नायकों के युद्ध उन राजाओं से भी करा दिए हैं जो उनके जीवन काल में मौजूद नहीं थे। इन रचनाओं में प्रयुक्त तिथियों और पात्रों की इतिहास के साथ संगति नहीं बैठती है।

इतिहास केन्द्रित होने के कारण रासो काव्य की साहित्यिकता से ज्यादा इनकी ऐतिहासिकता अथवा प्रामाणिकता की चर्चा की जाती रही है। अधिकतर वीरतापरक रासो काव्यों का मूल्यांकन उसकी ऐतिहासिकता के संदर्भ में किया जाता रहा है। रासो काव्य की इसी कमी के कारण इन रचनाओं के साथ प्रामाणिकता की गंभीर समस्या है। काव्यात्मकता की दृष्टि से ये रचनाएँ अपने नायकों को ऐतिहासिक सिद्ध कर देती हैं, और यही उनकी सार्थकता है। रचना का शेष विस्तार कवियों की कल्पना पर आधारित होकर आगे बढ़ता है। यह सही है कि लगभग सभी रासो या वीर काव्य ऐतिहासिक आधार लेकर लिखे तो गए हैं लेकिन वे इतिहास सम्मत नहीं हैं।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या साहित्यिक रचनाओं से ऐतिहासिकता की मांग करना तर्कसंगत है ? किसी साहित्यिक रचना में इतिहास की मात्रा कितनी हो अथवा होनी चाहिए, यह विवाद का विषय है। भावना, कल्पना और संभावना साहित्य के महत्वपूर्ण अवयव होते हैं, इसलिए उससे तथ्यपरकता की मांग करना साहित्य के साथ ज्यादती है। साहित्य इतिहास आधारित हो सकता है वह स्वयं इतिहास नहीं होता है। ऐतिहासिकता बनाम कल्पना के विवाद में हस्तक्षेप करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि "वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक

अर्थ में कभी नहीं लिया गया । बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की पृवत्ति रही है । कुछ में दैवीय शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है, जैसे - राम, बुद्ध, कृष्ण आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है, जैसे - उदयन, विक्रमादित्य और हाल । जायसी के रतनसेन और रासो के पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का - फैक्ट्स और फिक्शन का - अद्‌भुत योग हुआ है .कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्‌भुत शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्ति-भण्डार होने में दृढ़ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा काल्पनिक रंग में रँगा है । यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा, तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ । अंत तक यह रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं ।"[5] साहित्य तथ्यों का सुस्पष्ट संकलन नहीं है, वह कवि के भाव का प्रस्तुतीकरण है । इस क्रम में यदि वह तथ्य बटोरने बैठेगा तो रचना का लालित्य ही समाप्त हो जायेगा । आदिकालीन वीरकाव्यों में इतिहास साधन है साध्य नहीं, इसीलिए यहाँ इतिहास की रक्षा का कोई प्रयास दिखाई नहीं देता है । कवियों का साध्य उनके शासक के गुणों की अतिरंजनापूर्ण प्रशंसा करना है, जिसमें वे पूरी तरह से सफल रहें हैं । यहाँ इतिहास का आधार भर लिया गया है । इसीलिए इन वीर-काव्यों से ऐतिहासिकता की माँग करना इन रचनाओं के साथ अन्याय करना होगा ।

ख. साहित्यिक आधार

हिंदी साहित्य का आदिकाल, साहित्य के अन्य सभी कालों से अधिक बहुआयामी और बहुविषयी है । इस युग में तीन तरह के साहित्य की रचना हुई है । धार्मिक साहित्य, जिसके तहत सिद्ध, नाथ और जैन मुनियों का साहित्य आता है । वीरगाथात्मक, दरबारी या रासो साहित्य । लोकाश्रित साहित्य, जिसके अंतर्गत विशेष रूप से संदेश रासक, विद्यापति तथा अमीर खुसरो के साहित्य को रखा जाता है । किसी भी कालखंड को समझने के लिए तत्कालीन समय का साहित्य सबसे प्रामाणिक दस्तावेज होता है । जैसे कि आचार्य शुक्ल अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा है कि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है । और जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन के करण को रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा है कि जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है । यह बदलाव और संक्रमण हर दौर में जारी रहता है । इस तरह के आधार बिंदु

साहित्य लेखन की दिशा में आमूल-चूल परिवर्तन लाते हैं । आदिकाल में भी इस तरह की कई राजनैतिक-सामाजिक घटनाएँ हैं जिन्होंने इस युग के साहित्य को प्रभावित-परिवर्तित किया ।

आदिकालीन आलोचकों ने इस काल की विविधता को ध्यान में रखते हुए इस काल का मूल्यांकन किया है, जिसके लिए इन आलोचकों ने अलग-अलग आधार बिंदु अपनाये हैं । आचार्य शुक्ल ने इस काल का मूल्यांकन छायावाद को केंद्र में रखकर किया है । इसीलिए उनके मूल्यांकन में एक आंदोलन सदैव प्रतिध्वनित होता रहता है । इसी संदर्भ में वे आदिकाल को वीरगाथा काल के रूप में देखते हैं, और इन वीरगाथाओं को वे इस्लामिक आक्रमणकारियों की प्रतिक्रिया स्वरूप जन्मी प्रवृत्ति मानते हैं । उनके अनुसार - "बीच-बीच में मुसलमानों के भी हमले होते रहते थे । सारांश यह है कि जिस समय से हमारे हिंदी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लडाई-भिडाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था । और सब बातें पीछे पड़ गयी थीं" ।[6] वीर काव्य परंपरा आचार्य शुक्ल की कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित विधेयवादी दृष्टि की पूरक है । इसीलिए वे वीर गाथाओं को आदिकाल की प्रधान प्रवृत्ति मानते हैं । किन्तु उनके कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित आधार बिंदु का पुनर्मूल्यांकन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया है । उन्होंने परंपरा के अध्ययन पर जोर देते हुए टूटी हुई कड़ियों को सही सन्दर्भों में जोड़ा, रिक्त स्थानों को शोध-परक व्याख्याओं से भरा, साहित्य संबंधी तमाम उलझनों की तर्कसम्मत व्याख्या की । वे आचार्य शुक्ल की इस्लाम के प्रभाव, परिणाम और प्रतिक्रिया वाले तर्कों का उत्तर देते हुए साहित्य के स्वरूप को 'भारतीय चिंता के स्वाभाविक विकास' की तरह ग्रहण करते हैं : आचार्य शुक्ल के तर्क के समानांतर वे घोषित करते हैं कि इस्लाम अगर न भी आया होता तो हिंदी साहित्य का बारह आना स्वरूप ऐसा ही होता जैसा वह आज है । आचार्य शुक्ल की तुर्क आक्रमण की प्रतिक्रिया संबंधी दृष्टि का खंडन रामविलास शर्मा ने भी किया है । "तुर्कों के आक्रमण से यहाँ कोई युग परिवर्तन नहीं होता । तुर्क यहाँ की विभिन्न जातियों द्वारा आत्मसात कर लिए जाते हैं । यह तथ्य स्वयं जातीय निर्माण और जातीय शक्ति का एक प्रमाण है । जिस समय आधुनिक जातियों का निर्माण होता है, उसी समय समाज और साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल की शुरुआत मानी जानी चाहिए" ।[7] आदिकालीन हिंदी साहित्य के मूल्यांकन हेतु विभिन्न आलोचकों के आधार बिंदु भी अलग-अलग हैं ।

किसी समय को देखने परखने का सबसे महत्वपूर्ण आधार साहित्य है । क्योंकि वह ऐतिहासिक पोथियों या अखबार की तरह केवल डाटा प्रस्तुत नहीं करता है, बल्कि वह समाज और व्यक्ति के अंतर्मन के भावों को अपनी रचना का केंद्र बनाता है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "दो प्रकार के साहित्यिक प्रयत्न इस काल में प्रमुख हैं । पहली श्रेणी में बौद्ध और नाथ-सिद्धों की तथा जैन-मुनियों की रुक्ष तथा उपदेश-मूलक और हठयोग या काया-योग की महिमा का प्रचार करने वाली रहस्यमूलक रचनाएँ आती हैं ।...दूसरी श्रेणी में चारण कवियों के चरित-काव्य हैं ।

जिनमें राजस्तुति, युद्ध, विवाह आदि के वर्णन हैं। साधारणतः इनमें परंपरा से प्राप्त काव्य-रुढियों के सांचे में ढली हुई, चिराचरित कथानक रुढियों से पली हुई, और बंधे-बंधाएं मार्ग में चली हुई कविता ही प्राप्त होती है। सिर्फ एक बात में इसमें नवीन प्राणों का स्पन्दन सुनाई देता है, और नवीन वक्तव्य-भंगिमा की ताजगी अनुभूत होती है, वह है इस श्रेणी की रचनाओं की वीर दर्पोक्तियाँ। इस साहित्य के पुरुष स्वामी के लिए हँसते-हँसते प्राण देते हैं, मदमत्त कुंजर-घटा में अवलील या धँस जाते हैं। दुर्धुष शत्रु-वाहिनी से अकेले भी भिड़ जाते हैं और उनकी स्त्रियाँ पति के इस वीरत्व पर अभिमान करती हैं।"[8]

आदिकालीन साहित्य सामग्री या उसके साहित्यिक आधार का अध्ययन करने के क्रम में कालक्रमानुसार सर्वप्रथम धार्मिक साहित्य की चर्चा की जाती है। यह साहित्य सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य और जैन साहित्य की उन रचनाओं पर केन्द्रित है, जिनका आधार धर्म है। इस साहित्य के विकास की परिस्थितियाँ भारतीय समाज में रूढ़िवादी विचार परंपरा के विरुद्ध लोक जीवन के विद्रोह को स्पष्ट करती हैं। भक्तिकालीन संत साहित्य की तरह ही सिद्ध नाथ और जैन साधक कोई दीक्षा प्राप्त कवि या साहित्यकार नहीं थे। वे समाज की प्रचलित रूढ़ियों के खिलाफ एक सहज धर्म का प्रचार कर रहे थे। इस प्रक्रिया में व्यक्त हुए उनके अनुभवों ने साहित्य का रूप ले लिया। आदिकालीन साहित्य का एक बड़ा भाग धर्माश्रित है, जिसको आचार्य शुक्ल ने सांप्रदायिक कहकर ख़ारिज कर दिया था, किन्तु बाद के आलोचकों में राहुल सांकृत्यायन और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस साहित्य की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए बताया कि "धार्मिकता बाधक नहीं है, उसी के प्रभाव से रचनाएँ सुरक्षित रह सकीं। केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य-सीमा से बाहर निकलने लगेंगे, तो हमें आदिकाव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी-रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दंडवत करके विदा कर देना होगा। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्म साधना ही रही है। जो भी पुस्तकें आज संयोग और सौभाग्य से बची रह गयी हैं, उनके सुरक्षित रहने का कारण प्रधान रूप से धर्मबुद्धि ही रही है। काव्य रस की भी वही पुस्तकें सुरक्षित रह सकी हैं, जिनमें किसी न किसी प्रकार धर्मभाव का संस्पर्श रहा है। धार्मिक अनुयाइयों के अभाव में अनेक बौद्ध कवियों की रचनाओं से हमें हाथ धोना पड़ा है"।[9]

महात्मा बुद्ध के काल में बौद्ध धर्म अपने चरम पर था। उनके बाद यह धर्म दो शाखाओं में बँट गया। हीनयान और महायान। आगे जाकर महायान शाखा के दो भाग हुए वज्रयान और सहजयान। सिद्धों का सम्बन्ध वज्रयान शाखा से ही था। ये साधक जादू-टोना, तंत्र-मन्त्र आदि के द्वारा सिद्धि प्राप्त करते थे, इसीलिए सिद्ध कहलाये। इन कवियों ने जनता तक अपनी बात पहुँचाने

के लिए साहित्यिक भाषा को छोड़कर जन भाषा को चुना । सिद्धों की भाषा के संबंध में आचार्य शुक्ल कहते हैं - "वज्रयान शाखा के जो योगी सिद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए थे अपने मत का संस्कार जनता पर भी डालना चाहते थे । इससे वे संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त अपनी बानी अपभ्रंश मिश्रित देशभाषा या काव्य भाषा में भी बराबर सुनाते रहे" ।[10]

सिद्धों ने समाज में प्रचलित आडम्बर, रूढि और बाह्याचार का डटकर विरोध करते हुए सामाजिक संरचना में निचले पायदान पर मौजूद व्यक्ति में भी आशा का संचार किया । राहुल सांकृत्यायन के अनुसार - "सरहपा अपने विचारों का प्रचार करना चाहते थे । ध्यान के साथ करुणा पर उनका बहुत जोर है और करुणा बिना ध्यान या शून्यता-योग को वे व्यर्थ समझते हैं । करुणा से प्रेरित होकर वे लोगों को अँधेरे से बाहर निकालना चाहते थे"।[11] सिद्ध साहित्य के प्रमुख आचार्य सरहपा नैसर्गिक जीवन पर सर्वाधिक जोर देते थे, इसीलिए उनके पंथ को सहजयान कहा जाता है । वे अपने चिंतन दर्शन और योग में जितने सहज हैं, उतने ही सहज वे अपने कविता की भाषा में भी हैं । उन्होंने अपने समय की प्रचलित साहित्यिक भाषा अपभ्रंश में भी लिखा है, और लोक से संपर्क साधने के क्रम में देशी भाषा का सहारा भी लिया है । "सरहपा की रचनाओं में दोनों प्रकार की भाषाओं के नमूने उपलब्ध हैं ।

पंडित सअल सत्त बक्खा णाइ ।
देहाहि बुद्ध बसंत न जाणई ।
अमणागमणण तेन विखंडिअ ।
तेवि णीलज्जई भणई हऊँ पंडिअ ।।

अपभ्रंश भाषा का नमूना है, तो

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नांहिं पवेस ।
तहि बट चित्त बिसाम करू सरेहे कहिअ उबेस' ।

अपभ्रंश मिश्रित देश भाषा काव्य का"।[12] सिद्धों की रचनायें अपभ्रंश और देशभाषा के बीच की रचनाएँ हैं । ये रचनाएँ शुद्ध देशभाषा न होकर भी उनकी प्रतिष्ठा के सुनिश्चित संकेत देती हैं । सिद्धों की रचनाओं को आधार बनाकर यह कहा जा सकता है कि आठवीं सदी से देशभाषा में काव्य लेखन की शुरुआत हो चुकी थी । बहरहाल, सिद्धों की भाषा और उनकी साहित्य दृष्टि दोनों ही जनवादी थी । उन्होंने योग, तंत्र साधना के समानांतर ही समाज में व्याप्त धार्मिक दुरुहता का खंडन किया । सिद्ध साहित्य मानव देह, जीवन और जगत को समरसता का केंद्र बनाने का पक्षधर था । उनकी साहित्यिक दृष्टि समाज के सबसे निचले पायदान पर स्थित व्यक्ति के जीवन में आशा का संचार करने वाली है ।

सिद्ध साहित्य की भोगवादी प्रतिक्रिया के रूप में **नाथ संप्रदाय** का जन्म हुआ। डॉ रामकुमार वर्मा ने नाथ पंथ के चरम उत्कर्ष का समय बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अंत तक माना है। इन कवियों ने सिद्धों की तरह भोग मार्ग न अपनाकर सदाचार का मार्ग अपनाया। नाथ योगियों के लिए मन की शुद्धता ही प्रमुख है। वे नाना तीर्थों में भटकने को व्यर्थ मानते हैं। उनके अनुसार समस्त तीर्थ मनुष्य के भीतर ही हैं "घट ही भीतर अडसठ तीरथ कहाँ भ्रमै रि भाई"।[13] इन योगियों ने ईश्वर प्राप्ति के लिए पतंजलि की हठयोग साधना को अपनाया। नाथ साहित्य की महत्ता प्रतिपादित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि "भले ही कतिपय युगों, उपनिषदों का यहाँ अभाव हो किन्तु 'गोरखसिद्धांत संग्रह' के उद्धृत वाक्य महत्वपूर्ण जान पड़ते हैं। जो हो, परवर्ती साधना साहित्य के अध्ययन के लिए यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है। ग्रंथ के आरम्भ में ही गुरु की महिमा बताई गयी है। एकमात्र अवधूत ही गुरु हो सकता है। 'अवधूत' वह है जिसके प्रत्येक वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद-पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य विराजमान हैं, जिसके एक हाथ में त्याग है, दूसरे में भोग है और फिर भी जो त्याग और भोग दोनों से अलिप्त है"।[14]

नाथ मत में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक् संयम, मानसिक और शारीरिक शुचिता, ज्ञान के प्रति निष्ठां आदि पर विशेष जोर दिया गया है। नाथ साहित्य के हिंदी में पाए जाने वाले पदों में यह स्वर बहुत मुखर है। इसी स्वर ने परवर्ती संत साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार की है। नाथ पंथियों ने नारी को माया कहकर उसकी उपेक्षा की है। उनके अनुसार स्त्री योग मार्ग में बाधक है, इसलिए इस पंथ का स्त्री विषयक दृष्टिकोण उपेक्षा से भरा हुआ है। 'कनक कामिनी भोग विलास, कहे भरथरी कंध विणास' जैसी पंक्तियों में नारी की संगति को विनाशकारी बताया गया है। चरपटनाथ स्त्री निंदा करते हुए कहते हैं कि -

'चरपट कहे सुणो रे अवधू, कामणी संग न कीजै।
जिन्द विन्द नौ नाड़ी सोवैं, दिन रात काया छीजै।।[15]

नारी को मुक्ति के मार्ग में बाधा मानने के बावजूद उसके मातृत्व वाले रूप में इनकी आस्था थी, "जिन नारी संसार दिखाया, ताको लें सूते षोले"।[16] सिद्धों के समानही नाथ भी कोई घोषित या पोषित कवि या रचनाकार नहीं थे। वे बौद्ध धर्म के उपासक योगी थे, उनकी कविता सामाजिक विषमता के नकार से उपजी 'बाईप्रोडक्ट' थी। इनका उद्देश्य अपने पंथ का प्रचार और सहज जीवन की कामना थी, इसीलिए इनके साहित्य का कोई विस्तृत विजन नहीं दिखता है। योग साधना में लीन इन साधुओं को समाज में जो भी खटका उसका उन्होंने मुखर विरोध किया, इस क्रम में उपजी कविता भक्तिकालीन निर्गुण साहित्य की आधार भूमि तैयार करती है। परवर्ती कवि कबीर ने साधना और भावना दोनों स्तरों पर निर्गुण पंथ के इस प्रदेय को ग्रहण किया है।

ईसा की आठवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी के मध्य उपलब्ध साहित्य को **जैन साहित्य** के नाम से जाना जाता है । जैन साहित्य के अंतर्गत आदिकालीन रास काव्यों की रचना हुई है, जिसकी भाषा अपभ्रंश है । आदिकाल में प्राप्त होने वाले सभी तरह के साहित्य की प्रामाणिकता संदिग्ध है, किन्तु जैन साहित्य की सभी रचनाएँ प्रामाणिक और संरक्षित रूप में मिलती हैं। निश्चय ही इसका कारण धार्मिकता ही है । धर्म को केंद्र में रखकर लिखे गए सभी रास ग्रंथों को संरक्षण प्राप्त हुआ । वैसे तो जैन साधु उत्तर भारत में कई जगह फैले रहे, किन्तु गुजरात के काठियावाड़ में इनकी प्रधानता रही। वहां के चालुक्य, राष्ट्रकूट, और सोलंकी राजाओं का संरक्षण इनको प्राप्त रहा।

जैन धर्म हिन्दू धर्म के सर्वाधिक करीब है । यहाँ परमेश्वर, सृष्टि का नियंता नहीं आनंद का स्त्रोत है । जैन साधुओं ने अहिंसा, त्याग, करुणा और दया को जीवन का महत्वपूर्ण अंग माना है। जैन साहित्य की तीन कोटियाँ देखने को मिलती हैं । प्रथम कोटि में पौराणिक रचनाएँ आती हैं, दूसरी कोटि में मुक्तक रचनाएँ और तीसरी कोटि में हेमचन्द्र और मेरुतुंग आदि कवियों की व्याकरण परक रचनाओं को रखा जाता है । जैन साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में धर्म सिद्धांतो का प्रतिपादन किया है साथ ही जैन तीर्थकरों की जीवनियों का वर्णन किया है।

इन रचनाकारों के लिए जैन धर्म का प्रचार करना ही सबसे आवश्यक रहा है । इन्होंने अपने समकालीन महापुरूषों के साथ-साथ, लोक जीवन में रचे-बसे राम, सीता, कृष्ण, राधा, लक्ष्मण, हनुमान जैसे पौराणिक पात्रों को भी अपना काव्य नायक बनाया है । जैन कवि लोक संवेदना के कवि थे। उन्होंने जन संवेदना को पहचानकर ही जैन धर्म में राम कथा या कृष्ण कथा को शामिल किया । जैन साहित्य में राम, लक्ष्मण, रावण को जैन धर्मावलम्बी ही नहीं माना गया बल्कि त्रिषष्ठि महापुरुषों में भी इनकी गणना की गयी है। जैनियों के लिए धर्म का प्रसार प्रमुख रहा है। परिणामस्वरूप इन रचनाकारों ने पौराणिक कथाओं में ऐतिहासिकता का पूर्णत उल्लंघन करते हुए मनमाफिक परिवर्तन किये हैं। इस क्रम में वे पुनर्जन्मवाद का सहारा लेने से भी नहीं चूकते हैं। इन पौराणिक "कथा का अंत जैन धर्म के सिद्धांतों के अनुरूप होता है। बलदेव और वासुदेव के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए दो स्वर्गवासी देवों ने लक्ष्मण को सूचित किया की राम की मृत्यु हो गयी है। लक्ष्मण दुखी होकर मर जाते हैं और नरक को प्राप्त होते हैं। राम लक्ष्मण का क्रियाकर्म करके जैन धर्म में दीक्षित हो जाते हैं और साधनोपरांत मोक्ष को प्राप्त होते हैं" ।[17] जैन साधकों ने भले ही प्रबंध काव्य लिखे हों लेकिन उनके मूल में धर्म प्रसार की धारणा ही प्रमुख रही है। धर्म प्रचार के अंतर्गत ही वे सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार आवश्यक करते हैं, किन्तु उनकी साहित्यिक दृष्टि के मूल में धार्मिकता ही प्रधान तत्व है । जैन साहित्यकारों ने भी सिद्धों, नाथों और जैनों की तरह बाहरी आडम्बर और धार्मिक रूढ़ियों का खंडन करते हुए समाज की विसंगतियों पर चोट की है। उनकी साहित्यिक दृष्टि धर्म केन्द्रित है, वे सामाजिक समरसता के पक्षधर थे और इस क्रम में ही उनकी

साहित्यिक दृष्टि का विकास हुआ है। वे अपने साहित्य के द्वारा सामाजिक बदलाव के आकांक्षी तो हैं, लेकिन धर्म के आवरण के अन्दर ही। उनका साहित्य उनके धर्म प्रचार के क्रम में उपजा हुआ साहित्य है, किसी व्यापक सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन में उनकी कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। बहरहाल, धार्मिक रचनाकारों ने धार्मिक विषमता को मिटाने और सामाजिक सौहार्द बढ़ाने का महत्वपूर्ण दायित्व अवश्य ही निभाया है और इस अर्थ में यह साहित्य आज भी प्रासंगिक है।

आदिकालीन हिंदी **वीरगाथा काव्य** तत्कालीन समाज की आंतरिक कलह और लगातार हो रहे तुर्क आक्रमणकारियों से उपजी राजनीतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में लिखा गया साहित्य है। "घोर विलासिता और आन्तरिक कलह से युक्त उस युग में, ज्ञान-विज्ञान, नीति-शास्त्रार्थ जैसे विषय हाशिये की वस्तु बन गए थे। ऐसे समय में राजाओं या सामंतों के प्रिय विषय दो ही थे - वीरता या श्रृंगार। "राजा भोज की सभा में खड़े होकर राजा की दानशीलता का लम्बा चौड़ा वर्णन करके लाखों रूपये पाने वाले कवियों का समय बीत चुका था। राज-दरबारों में शास्त्रार्थ की वह धूम नहीं रह गयी थी। पांडित्य के चमत्कार पर पुरस्कार का विधान भी ढीला पड़ गया था। उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रुकन्या हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता था या रणक्षेत्रों में जाकर वीरों के ह्रदय में उत्साह की उमंगें भरा करता था, वही सम्मान पाता था। इस दशा में काव्य या साहित्य के और भिन्न - भिन्न अंगो की पूर्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। उस समय तो केवल वीरगाथाओं की उन्नति संभव थी"।[18] आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आदिकाल को वीरगाथाकाल कहा है और रासो काव्यों की अधिकता को देखते हुए स्पष्ट है कि वीरता का बखान करना ही उस काल की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। वीर कविता की बनावट सामंतों के मनोनुकूल है। केन्द्रीय सत्ता के अभाव में सामंतों की क्षेत्रीय ताकतों के बीच होने वाली संघर्ष गाथा ही वीर काव्य की आधारभूमि तैयार करती है।

रासो ग्रंथों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अपने नायक का चरित्र विधान है, युद्ध और प्रेम इस चरित्र चित्रण के प्रमुख अवयव हैं। युद्ध के माध्यम से रचनाकार अपने आश्रयदाता राजा की वीरता, धैर्य और पराक्रम का वर्णन करता है। अधिकतर वीर-काव्य राजाश्रित कवियों द्वारा ही लिखे गए हैं, इसीलिए यह काव्य राज-दरबारों तक ही सीमित रह गए हैं। इन काव्यों की कला 'कला के लिए' है। उनका जीवन की अनुभूतियों से कोई खास लेना देना नहीं है। आदिकाल के साहित्य की विशेषता को लक्ष्य करते हुए मुक्तिबोध कहते हैं कि - "भारतीय लोक भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगा, किन्तु मुख्य विषय केवल तीन ही थे- वैराग्य या नीति, श्रृंगार और युद्ध। राजाओं की स्तुति और प्रशंसा में अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों से युक्त उनके सच्चे और झूठे पराक्रमों के गीत गए जाने लगे। आख्यान काव्य भी लिखे गए, जिनमें राजाओं के युद्धों और उनके विवाहों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाता। इन्हें 'रासो' ग्रंथ कहा गया। इनमें सर्वाधिक श्रेष्ठ और सुंदर पृथ्वीराज

रासो है, जिसमें अजमेर के राजा पृथ्वीराज की जीवनगाथा है। इस ग्रंथ में कई स्थानों पर सुंदर वर्णन हुए हैं। संस्कृत में भी अनेक ग्रंथों की रचना हुई, इनमें विलासितापूर्ण श्रृंगार भावना ही परिलक्षित हुई। मूर्तिकला में भी उत्कट श्रृंगार प्रकट हुआ। नारी केवल उपभोग्या हो उठी"।[19]

आदिकाल में रचित वीरता प्रधान रचनाओं में ऐतिहासिकता, प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के तमाम विवादों के साथ, प्रधानता रासो काव्यों की है। इन वीर काव्यों अथवा प्रशस्ति गाथाओं की विषय-वस्तु बहुत ही सीमित थी। सामंतो के जीवन में दो ही बातों की प्रधानता थी - युद्ध और प्रेम। किसी राजा की रूपवती कन्या का संवाद पाकर, किसी दूसरे राजा का चढ़ाई करना तथा कन्या का हरण कर लेना वीरों के लिए गौरव का विषय था। पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासो में इस तरह के प्रसंग भरे पड़े हैं। राजाश्रित कवियों या चारणों ने राजनीतिक कारणों से होने वाले युद्धों में भी, रूपवती स्त्री को ही युद्ध का कारण परिकल्पित किया है। आदिकालीन रासो-साहित्य का उद्देश्य सामंतो का मनोरंजन था, इसलिए रासो साहित्य में युद्ध और श्रंगार को ही प्रमुख विषय बनाया गया है। आदिकाल को 'वीरगाथाकाल' कहे जाने से अपनी तमाम असहमतियों के बावजूद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी यह स्वीकार करते हैं कि - "परन्तु यह सत्य है कि इस काल की रचनाओं में वीरत्व का एक नया स्वर सुनाई देता है। इस काल में वीररस को सचमुच ही बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है"।[20]

रासो काव्यों के रचनाकारों ने नायकों के अन्दर ईश्वरीय गुणों की सृष्टि की है। वीर-काव्यों में नायकों को बेहद उदात्त गुणों से युक्त करके गढ़ा गया है। वे नैतिकता से युक्त, महावीर और श्रेष्ठ व्यक्तित्व के मालिक है। ऐसे में यदि नायक युद्ध में परास्त भी हो जातें हैं, तो भी उनका व्यक्तित्व धूमिल नहीं होने पाता है। इन नायकों द्वारा युद्ध-भूमि में किया संघर्ष ही महत्वपूर्ण होता है। वीर-काव्यों की नायिकाएँ भी नायक के इसी ओजस्वी रूप पर आसक्त होती हैं। वीरत्व ही इन नायकों की श्रेष्ठता की सबसे बड़ी कसौटी हुआ करती थी। सैन्य गुणों से युक्त सिपाही भी अपनी वीरता के कारण राजा से अधिक श्रेष्ठ बन जाता है, जैसा की हम परमाल रासो के आल्हा खण्ड में देखते हैं। यहाँ आल्हा और ऊदल राजा परमाल से अधिक वीर हैं इसीलिए अधिक श्रेष्ठ और प्रसिद्ध भी हैं।

बहरहाल, आदिकालीन वीर-काव्यों का उद्देश्य सामंतो की वीरता का बखान करना ही था, जिसमें यह पूर्णतयः सफल भी हुए हैं। राजाओं सामंतों के जीवन के दो प्रमुख प्रसंगों - युद्ध और प्रेम पर आधारित ये काव्य, वीरता-वर्णन और विलास-वर्णन के जीवंत उदाहरण हैं। रासो काव्य परंपरा का मूल्यांकन करते हुए नामवर सिंह कहते हैं कि "पुराने रासो, सन्त भक्ति काव्यों की भांति सामान्य जन-जागरण की उत्थानशील भावना का प्रतिबिम्ब न होते हुए भी ह्रासोन्मुखी सामंती शक्तियों के अंतर्विरोध का चित्रण करने वाला महाकाव्य है। निश्चय ही इसकी वीर भावना में न तो

महाभारत का सा शौर्य और पराक्रम है और न इसकी श्रृगार भावना में कालिदास की सी मुग्ध तन्मय भावुकता । ह्रास युग का प्रभाव रासो की वीरता और श्रृंगार दोनों भावनाओं पर पड़ा है, इसलिए रासो की महिमा वीरता और श्रृंगार के उदात्त और उज्ज्वल चित्रण में उतनी नहीं, जितनी अपने युग की वास्तविक वीरता और प्रेम भावना को प्रतिबिम्ब करने में है । कहना नहीं होगा की इस कार्य में चंद ने जितने व्यापक क्षेत्र को समेटा है वह सन्त भक्ति काव्य को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं मिलता । रासो मानव जीवन की विविध परिस्थितियों और भाव दशाओं का महासागर है । यही वह विशेषता है जिसे ह्रास्युग के सभी काव्यों में रासो को सर्वोपरि स्थान दिया गया । निश्चय ही इस युग की सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा पूर्व परंपराओं का एक वृहद कोश और मध्ययुगीन भारतीय समाज का एक काव्यात्मक इतिहास है"।[21]

इन काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता यही है, कि इनके रचयिताओं ने इन्हें एक चारण के रूप में ही लिखा है, उन्होंने कहीं भी उपदेश देने जैसा कोई काम नहीं किया है । वे पूरी मस्ती से राजाओं की शौर्य और प्रेम गाथा का बयान करते हैं, फिर इसके बाद उन्हें दुनिया समाज की कोई चिंता नहीं होती है । यहाँ कला सिर्फ कला के लिए है उसका जीवन से ज्यादा वास्ता दिखाई नहीं देता है । कला यहाँ मनोरंजन का साधन मात्र है, उससे उपयोगिता की कोई मांग नहीं की गयी है । इस प्रकार ये वीर-काव्य अपनी रचना के कारण अर्थात आश्रयदाता की स्तुति, की कसौटी पर बिल्कुल खरे उतरते हैं । आश्रयदाताओं की अतिरंजनापूर्ण प्रशंसा करने में ये काव्य बेजोड़ कहे जा सकते हैं ।

आदिकालीन साहित्यिक आधारों में **लौकिक साहित्य** का महत्वपूर्ण स्थान है । लौकिक साहित्य लोक समाज की वास्तविक चेतना मुखर होती है । 'संदेश रासक', 'ढोलामारू रा दूहा', 'भविष्यत कथा' जैसी रचनाओं में लोक की झलक है, इसलिए इन रचनाओं का उल्लेख सामाजिक सरोकार के अंतर्गत किया जा रहा है । जिसका विस्तृत विवेचन अध्याय के अंतिम भाग में किया गया है ।

ग. भाषिक संरचना

आदिकालीन हिंदी साहित्य की भाषिक संरचना अन्य कालखंडों की तरह सीधी और एक रेखीय नहीं है । आदिकाल की राजनीतिक परिस्थितियों में जितनी विविधता है उतनी ही विविधता और उलझाव इसके साहित्य और भाषा में है । आदिकालीन साहित्य को लेकर इसके अध्येताओं में जो अनिश्चितता या उलझाव है, उसके मूल में इस काल की भाषा है । यह काल दो भिन्न भाषाओं

की संगम स्थली है। इस काल में एक लम्बी संघर्ष प्रक्रिया के बाद हिंदी साहित्य लेखन का माध्यम बनती है। हिंदी से पहले अपभ्रंश भाषा साहित्य का माध्यम थी। "बारहवीं सदी के आसपास भारत में पुराने जनपदों का अलगाव समाप्त होता जाता है और नवीन जातियों का अभ्युदय होता है। इस काल में अपभ्रंश देशी भाषाओं के विकास में बाधक होती है और क्रमशः उसे अपना स्थान छोड़ना पड़ता है"।[22] किन्तु जब भी हिंदी साहित्य के इतिहास की चर्चा की जाएगी तब अपभ्रंश साहित्य का उल्लेख अपेक्षित रहेगा। भारतीय आर्यभाषा परिवार की मध्यकालीन अंतिम भाषा अपभ्रंश से आधुनिक आर्य भाषाएँ अलग होकर आगे बढती हैं। अपभ्रंश ने इस भाषा परिवार की सभी भाषाओं के विकास में अपना समान सहयोग दिया है, किन्तु हिंदी को यह अवदान कुछ अधिक मात्रा में मिला है। इसका कारण है कि अपभ्रंश और हिंदी का रचना क्षेत्र एक ही है, साथ ही अपभ्रंश के प्रमुख भाषिक तत्व हिंदी क्षेत्र से गृहीत हुए हैं। इसी कारण इन दोनों भाषाओं में समानता देखने को मिलती है। हिंदी से पहले अपभ्रंश साहित्य लेखन की भाषा थी। चूंकि हिंदी से पहले अपभ्रंश साहित्य का माध्यम रही है इसीलिए इस भाषा को हिंदी की जन्मदात्री घोषित करने के प्रयास किये गए हैं। "सच तो यह है कि अपभ्रंश के पूर्व में ही अर्थात प्राकृत के प्रथम काल से ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के जन्म की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी। किन्तु उसे पूर्ण स्वरूप मिलता है अपभ्रंश के अवसान के साथ। अर्थात अपभ्रंश समस्त आधुनिक आर्य भाषाओं की जननी है। किन्तु हिंदी से उसका जितना गहरा रिश्ता है उतना किसी अन्य भारतीय आर्य भाषा से नहीं। इसीलिए हिंदी को अपभ्रंश जी जननी कहा जाता है"।[23]

हिंदी भाषा की उत्पत्ति या विकास या अपभ्रंश भाषा से उसके सहसंबंध को लेकर बड़े-बड़े विवाद हैं, जिनका विस्तृत विवेचन चौथे अध्याय के अंतर्गत किया गया है। यहाँ आदिकालीन भाषा संरचना के साहित्यिक और व्याकरणिक दोनों आयामों का अध्ययन किया गया है। आदिकालीन भाषा की पृष्ठभूमि में सर्वप्रथम अपभ्रंश भाषा का आंशिक उल्लेख आवश्यक है। अपभ्रंश भाषा और उसकी रचनाएँ जनवादी रहीं हैं। यद्यपि इससे पहले पालि भाषा के केंद्र में भी जन आंदोलन रहा है, लेकिन राज सत्ता का संरक्षण मिलते ही इसकी जन केन्द्रीयता समाप्त हो गयी। प्रथम शताब्दी से आरम्भ होने वाला अपभ्रंश आंदोलन या साहित्य पांचवी-छठी शताब्दी में मुखर रूप से सामने आता है। अपभ्रंश भाषा ने भारतीय साहित्य की मूल प्राणधारा को आत्मसात किया। इन रचनाकारों ने रामायण, महाभारत, पुराणों, उपनिषदों की कथा को अपनाते हुए उसे युगीन चेतना के साथ अपने धार्मिक सिद्धांतों में लपेटकर पुनः प्रस्तुत किया। डॉ नामवर सिंह ने हिंदी के विकास में अपभ्रंश साहित्य की महत्ता को रेखांकित करते हुए कहा है कि - "स्वयंभू (आठवीं शताब्दी ईस्वी) से लेकर रइधु (15वीं शताब्दी ईस्वी) तक के इस अपभ्रंश साहित्य का संपूर्ण भारतीय साहित्य में बहुत ऐतिहासिक महत्त्व है। यद्यपि जिस व्यापकता और विशालता के साथ इनका आरम्भ हुआ था वह

अंत तक न रही, बल्कि परवर्ती साहित्य के विषय और शैली में एक प्रकार की जड़ता दिखाई देती है, फिर भी समग्र रूप में यह साहित्य उस युग के जातीय नवोन्मेष का प्रतिनिधि होकर ऊपर उठा"।[24]

आदिकालीन साहित्य के तहत आने वाले धार्मिक साहित्य की रचना अपभ्रंश भाषा में हुई है। हालाँकि यह अपभ्रंश लोक-भाषा मिश्रित अपभ्रंश है। इसका स्पष्ट कारण है कि सिद्ध, नाथ साधकों का मूल उद्देश्य अपनी वाणी से उपेक्षित हिन्दू जाति को स्वावलंबी बनाना था। इसीलिए उन्होंने क्लिष्ट अपभ्रंश के स्थान पर लोकोन्मुखी अपभ्रंश का चयन किया। इन साधकों ने अपनी वाणी को अधिकतर मुक्तक छंदों के रूप में प्रस्तुत किया है। धार्मिक साहित्य के अगले क्रम में जैन साधकों की रचनाएँ आती हैं। जैन मुनियों ने लोक कथा को आधार बनाकर चरित काव्यों की रचना की है। जैन रचनाकारों ने पौराणिक पात्रों को देवत्व की श्रेणी से अलग मानवीय धरातल पर उतारा। ये पात्र जीवन की विषम परिस्थितियों से किसी साधारण मनुष्य की तरह जूझते हुए दिखाई देते हैं। जैन साहित्य में जन सामान्य के प्रचलित आख्यानों के माध्यम से जीवन के विभिन्न रंगों को प्रस्तुत किया गया है। जैनियों ने अधिकतर महाकाव्यात्मक ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें संस्कार, रीति-रिवाज, व्रत-त्योहार आदि का चित्रण हुआ है। इन कवियों ने गृहस्थ जीवन का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया है, जिसमें यथार्थ के साथ-साथ सर्वकालीनता भी थी। सास-बहू, ननद-भाभी के सम्बन्ध, सौत की ईर्ष्या, सौतेली माँ का व्यवहार, अनेक वधुओं से सम्बन्ध आदि ऐसे उदाहरण हैं जो आज भी प्रासंगिक हैं। अपभ्रंश भाषा में रचा गया यह साहित्य जीवन के विविध रंगों को समटे हुए है। "इस पुरानी प्रचलित काव्यभाषा में नीति, श्रृंगार, वीर आदि की कविताएँ तो चली ही आती थीं, जैन और बौद्ध धर्माचार्य अपने मतों की रक्षा और प्रचार के लिए भी इसमें उपदेश आदि की रचना करते थे" ।[25]

अपभ्रंश साहित्य की जो रचनाएँ प्रकाशित रूप में आज उपलब्ध हैं, वे इसकी महत्ता को प्रतिपादित करती हैं। सरहपा की अगुवाई में रचा गया सिद्धों और नाथों के साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश ही नहीं हैं अपितु सामाजिक कुरीतियों, विडम्बनाओं, रूढ़ परंपराओं पर करारा प्रहार किया गया है। साथ ही इस साहित्य में एक नई सामाजिक व्यवस्था को साकार करने के प्रयास दिखाई देते हैं। सरहपा के अनुसार शरीर के भीतर ही गंगा-यमुना, सूर्य-चंद्रमा, प्रयाग-वाराणसी सब कुछ है। मुक्ति के लिए भटकने से अच्छा है कि आत्म तत्व की पहचान की जाये। यथा –

ऐत्थु से सुरसरी जमुणा, ऐत्थ से गंगा साअरु।
ऐत्थु पआग बणारसि, ऐत्थु से चन्द दिवाअरु।।[26]

अपभ्रंश की इन रचनाओं ने हिंदी साहित्य में जनवादी साहित्य की नींव डाली । जैन महाकाव्यों और खंड काव्यों की परंपरा ने हिंदी साहित्य की विकास परंपरा में महत्वपूर्ण योगदान किया है, जिसका विस्तृत विवेचन पांचवे अध्याय में किया गया है । हिंदी को अपभ्रंश भाषा से साहित्य की समृद्ध परंपरा मिली है । साहित्यिक भाषा बनने के बाद हिंदी, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की तरह अपनी तात्कालिक परंपरा की भाषा के कुछ तत्वों को छोड़ती और ग्रहण करती हुई आगे बढती है । साहित्यिक भाषा अपभ्रंश के समानांतर हिंदी या अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ लोक भाषा के रूप में मौजूद थीं । लोक भाषा होने के कारण इन भाषाओं का लिखित इतिहास मौजूद नहीं है, इसीलिए इनकी प्राचीनता या इनकी मौजूदगी पर संदेह किया जाता है । जो आलोचक हिंदी को अपभ्रंश से जन्मा हुआ मानकर उसका विवेचन करते हैं, डॉ रामविलास शर्मा उनको जवाब देते हुए कहते हैं कि – "देशभाषा की चर्चा सबसे पहले किसने की, देशभाषाएँ कितनी पुरानी हैं, इन प्रश्नों का विवेचन यह जानने के लिए आवश्यक है कि संस्कृत-प्राकृत के दबाव के कारण आर्य परिवार की जीवंत भाषाओं को साहित्य का माध्यम बनने का काम कितनी शताब्दियों तक रुका रहा । ... अपभ्रंश का उल्लेख छठी शताब्दी से मिलता है । भामह ने इसका उल्लेख किया था । देशभाषा का उल्लेख इससे बहुत पुराना है, उतना पुराना जितना भरत का नाट्यशास्त्र । जिस समय शिलालेखों पर संस्कृत और प्राकृत का व्यवहार होता था, उस समय देशीभाषाएं विद्यमान थीं। ये देशीभाषाएं प्राकृतों से भिन्न थीं । प्राकृत काव्यों के रचनाकारों ने अपनी भाषा को देश भाषा नहीं कहा क्योंकि वे जानते थे कि देश भाषाओं से प्राकृत उतनी ही दूर है जितनी दूर संस्कृत" ।[27]

अपभ्रंश साहित्य और शिष्ट समाज की भाषा थी । ठीक वैसे ही जैसे आज खड़ी बोली साहित्य की मानकीकृत भाषा है, जिसमें सारे सरकारी काम-काज होते हैं । साहित्य के लोक ग्राही स्वरूप और अपभ्रंश भाषा के रूढ़ियों से ग्रसित हो जाने के कारण जन भाषायें साहित्य की माध्यम बनीं । कुछ रचनाकारों ने भी लोक समाज से संवाद स्थापित करने के उद्देश्य से अपनी भाषा को लोकोन्मुख बनाया । उदाहरण स्वरूप आदिकालीन धार्मिक साहित्य को देखा जा सकता है। "सिद्धों की उद्धृत रचनाओं की भाषा देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश या पुरानी हिंदी की काव्य भाषा है, यह तो स्पष्ट है । उन्होंने भरासकउसी सर्वमान्य व्यापक काव्यभाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमंडल से लेकर बिहार तक लिखने-पढने की शिष्ट भाषा थी"।[28] लेकिन इन रचनाकारों ने परिनिष्ठित अपभ्रंश के स्थान पर देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश को अपनी काव्यभाषा के लिए चुना । इस समय देशी भाषाएँ धीरे-धीरे अस्तित्व में आने लगी थीं । "परिनिष्ठित अपभ्रंश में आधुनिक देशी बोलियों के मिश्रण का आभास हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण के रचना-काल से ही

मिलने लगता है । उनकी देशी नाममाला में भी ऐसे अनेक देशी शब्दों का संग्रह है जो प्राकृत ही नहीं बल्कि अपभ्रंश साहित्य में भी अप्रयुक्त हैं । ऐसे शब्दों का प्रयोग बोलचाल में ही होता रहा होगा, यह बात सहज ही सोची जा सकती है । इसके अतिरिक्त 'काव्यानुशासन' में हेमचन्द्र ने स्वयं ही शिष्ट अपभ्रंश से भिन्न 'ग्राम्य अपभ्रंश' का अस्तित्व स्वीकार किया है । स्पष्ट है कि यह ग्राम्य अपभ्रंश सामान्य लोक जीवन में व्यवहृत होने वाली परिनिष्ठित अपभ्रंश का कोई न कोई रूप थी जिसमें संभवतः स्थानीय बोलियों का मिश्रण हो गया होगा" ।[29]

इस 'देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश' या 'ग्राम्य अपभ्रंश' अथवा अपभ्रंश और हिंदी के मध्य की भाषा की संक्रमणशील अवस्था को विद्वानों ने 'पुरानी हिंदी' कहा है । "इस पुरानी हिंदी के कुछ पुराने नमूने शिलालेखों में मिल जाते हैं । बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिंदी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नए तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया था ।"[30] हालाँकि हिंदी भाषा पर अपभ्रंश का यह प्रभाव कमोबेश चौदहवीं शताब्दी तक बना रहा । यही कारण है कि आदिकाल की भाषा संरचना को अपभ्रंश से काटकर नहीं देखा जा सकता है । इस काल की भाषा हिंदी और अपभ्रंश के सहसंबंध पर आधारित है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - "अब, सही बात यह है कि चौदहवीं शताब्दी तक देशी भाषा के साहित्य पर अपभ्रंश-भाषा के उस रूप का प्राधान्य बना रहा है, जिनमें तद्भव शब्दों का ही एकमात्र राज्य था । इस बीच धीरे-धीरे तत्सम बहुल रूप प्रकट होने लगा था । नवीं-दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश के प्रमाण मिलने लगते हैं और चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे ... तत्सम शब्दों के एकाएक प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई, यद्यपि वह उतनी नवीन थी नहीं । दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के काल का साहित्य अपभ्रंश-प्रधान साहित्य है" ।[31] ज्योतिरीश्वर के 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति की 'कीर्तिलता' में तत्सम शब्दों के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं । इन दोनों पुस्तकों का रचना क्षेत्र मिथिला है । विद्यापति पद्य में तो अपभ्रंश के समान तद्भव रूपों का व्यवहार करते हैं, लेकिन उनकी गद्य की भाषा में तत्सम शब्दों की भरमार होती है । इस बात से सहज अंदाजा लगाया जा सकता है कि पद्य की भाषा में अभी भी थोड़ा-बहुत पुरानापन था, पर बोलचाल के गद्य में तत्सम शब्दों का प्राचुर्य बढ़ रहा था । "इन कुछ शताब्दियों में अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा पद्य की वही बनी रही और गद्य की भाषा तत्सम बहुल होती गई । कीर्तिलता में इसकी स्पष्ट सूचना मिलती है । धीरे-धीरे तत्सम शब्दों और उनके नए तद्भव रूपों के कारण भाषा बदली सी जान पड़ने लगी और चौदहवीं शताब्दी के बाद वह बदल ही गयी । इसके पूर्व अपभ्रंश और देश्य-मिश्रित अपभ्रंश की प्रधानता बनी रही । इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिंदी का आदिकाल

कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है । इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिंदी" ।[32]

आदिकालीन भाषा संरचना का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट होती है कि यह समय दो भिन्न भाषाओं की संक्रमणशील अवस्था है, जिसको अलग-अलग नामों से अभिहित किया गया है। यहाँ साहित्य की शिष्ट भाषा 'अपभ्रंश' के समानांतर लोक बोलियों के संघर्ष की गाथा है। "भाषा के रूप भेद को भुलाकर तात्विक परिवर्तन के आधार पर ही एक भाषा के अंत और दूसरी भाषा के आरम्भ का स्वीकार करना समीचीन है। इसी दृष्टि से अपभ्रंश को एक अलग भाषा मानकर, उसके समानांतर तात्विक आधार पर भिन्न भाषा को पृथक नाम देने की आवश्यकता है। यद्यपि अपभ्रंश अपने मूल रूप में ही पंद्रहवी शताब्दी तक साहित्य की भाषा बनी रही, तथापि आठवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा पृथक होकर उसके समानांतर साहित्य रचना का माध्यम बन गयी थी। इसी भाषा को कुछ विद्वानों ने 'उत्तर अपभ्रंश' या 'पुरानी हिंदी' कहा है और कुछ विद्वानों ने 'अवहट्ठ' नाम दिया है। परन्तु वास्तविकता यह है कि वह भाषा 'हिंदी' है उसे 'उत्तरअपभ्रंश' या 'अवहट्ठ' नाम देना भ्रम उत्पन्न करता है। जिन विद्वानों ने ये नाम दिए हैं, उसे वे भी अपने मत के अन्तर्गत प्रायः उक्त तथ्य का समर्थन करते रहे हैं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी पहले विद्वान हैं, जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि 'उत्तर अपभ्रंश' ही पुरानी हिंदी है। यहाँ 'उत्तर' शब्द काल का बोधक न होकर साहित्यिक अपभ्रंश से इतर बोलचाल की उस भाषा का बोधक है, जो साहित्यिक अपभ्रंश के एक रूप की स्वीकृति के पश्चात उसके बाद के रूप में स्थापित होती जा रही थी" ।[33]

इस काल में लोक भाषाएँ स्पष्ट रूप से प्रकट न होकर तत्कालीन शिष्ट भाषा में शामिल होकर सामने आती हैं, यही कारण है कि आदिकालीन भाषा संरचना में इतना अधिक मिश्रण है कि इनमें सीमा रेखा खींचना मुमकिन नहीं है। भाषाओं का यह उलझाव आदिकाल के आरम्भ से लेकर अंत तक लगातार बना रहता है। इसके साथ ही आदिकाल में भाषाओं की विविधता के ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जो यह साबित करने के लिए पर्याप्त हैं कि इस काल में अपभ्रंश के साथ-साथ लोक बोलियाँ विद्यमान थीं । आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार - "अपभ्रंश के जो नमूने हमें पद्यों में मिलते हैं वे उस काव्य भाषा के हैं जो पुराने पन के कारण बोलने की भाषा से कुछ अलग बहुत दिनों तक - आदिकाल के अंत तक क्या उसके कुछ पीछे तक - पोथियों में चलती रही। अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी में रचना होने का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी में मिलता है । उस काल की रचना में बौद्धों की वज्रयान शाखा के सिद्धों की कृतियों के बीज मिलते हैं। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के मध्य में (अर्थात ईस्वी सन की 14वीं शताब्दी के प्रारंभ में) एक ओर तो पुरानी परंपरा के कोई कवि - संभवतः शारंगधर हम्मीर की वीरता का वर्णन ऐसी भाषा में कर रहे थे -

चलिय वीर हमीर पाअभर मेइणि कंपइ ।

दिगमण णह अंधार धूलिसुररह आच्छाइहि ।।

दूसरी ओर खुसरो मियाँ दिल्ली में बैठे ऐसी बोलचाल की भाषा में पहेलियाँ और मुकरियाँ कह रहे थे –

एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिंजरे में दिया" ।।[34]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रस्तुत ये दोनों उदाहरण आदिकाल की भाषा गत विविधता को रेखांकित करते हैं। प्रथम पंक्तियाँ क्लिष्ट अपभ्रंश हैं और दूसरी बोलचाल की ठेठ खड़ी बोली। यह संभव है की जन सामान्य में प्रचलित होने के कारण खुसरो की मुकरियों की भाषा में परिवर्तन आया हो, किन्तु यह भी सत्य है कि समय के साथ भाषा में शब्दों के परिवर्तन होते रहते हैं, लेकिन कभी भी यह परिवर्तन आमूल-चूल नहीं होता है। अमीर खुसरो और विद्यापति की भाषा आदिकाल में लोक बोलियों की प्रतिष्ठा की सूचना देती है। आचार्य शुक्ल ने इनकी भाषा को 'असली बोलचाल' की भाषा कहा है। "वीरगाथाकाल समाप्त होते-होते हमें जनता की बहुत कुछ असली बोलचाल और उसके बीच कहे-सुने जाने वाले पद्यों की भाषा के बहुत कुछ असली रूप का पता चलता है। पता देने वाले हैं, दिल्ली के खुसरो मियां और तिरहुत के विद्यापति। इनके पहले की जो कुछ संदिग्ध सामग्री मिलती है, उस पर प्राकृत की रूढ़ियों का थोड़ा या बहुत प्रभाव अवश्य पाया जाता है। लिखित साहित्य के रूप में ठीक बोलचाल की भाषा या जनसाधारण के बीच कहे-सुने जाने वाले गीत, पद्य आदि रक्षित रखने की ओर मानों किसी का ध्यान ही नहीं था। ... पश्चिम की बोलचाल, गीत, मुख प्रचलित पद्य आदि का नमूना जिस प्रकार हम खुसरो की कृति में पाते हैं, उसी प्रकार बहुत पूरब का नमूना विद्यापति की पदावली में" ।[35] आदिकालीन भाषा संरचना का भावात्मक ढांचा सिद्ध साहित्य में प्रयुक्त देशी मिश्रित अपभ्रंश से आरम्भ होता हुआ अमीर खुसरो और विद्यापति द्वारा प्रयुक्त देशी भाषा पर समाप्त होता है। हिंदी जब तक लोक के बीच की भाषा बनी रही तब तक उसके मानकीकरण या उसकी संरचनात्मक पड़ताल के कोई प्रयास नहीं हुए। किन्तु तेरहवीं शती के आस-पास जब हिंदी साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित होती है, तब इस भाषा की संरचनात्मक पड़ताल करने की आवश्यकता हुई।

संरचनात्मक रूप में हिंदी ने संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के तत्वों को ग्रहण किया है जिनको इस भाषा में आसानी से खोजा जा सकता है, अपभ्रंश भाषा के योगदान को महत्वपूर्ण इसलिए माना जाता है, क्योंकि यह हिंदी के ठीक पहले की भाषा है। चूंकि आदिकाल से पहले जब हिंदी भाषा लोक भाषा के रूप में समाज में विद्यमान रही होगी, उस समय यदि इस

भाषा में साहित्य लिखा गया होगा तो इसके कोई प्रमाण या रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं है। इसलिए यह अंदाजा लगा पाना मुश्किल है कि उस समय प्रचलित हिंदी भाषा का स्वरूप कैसा था। लेकिन इतना अवश्य है कि हिंदी भाषा को केंद्र में आने के लिए केन्द्रीय भाषा के आधार की जरूरत थी और उसने यह आधार ग्रहण किया, यही कारण है कि भाव संवेदना के रूप में पृथक होने के बावजूद संरचनात्मक रूप से हिंदी अपभ्रंश भाषा के बहुत करीब है।

मध्यकालीन भाषाओं में घटित ध्वन्यात्मक परिवर्तन अपभ्रंश में अपनी पूर्णता पर थे। ह्रस्व ए, ओ तथा मूर्धन्य ड्, ढ् अपभ्रंश में नई ध्वनियों के रूप में आ चुकी थीं। अपभ्रंश की लगभग ध्वनियों को हिंदी में स्वीकार किया गया है। ऋ तथा विसर्ग के लोप की अपभ्रंश की प्रवृत्ति हिंदी में आज भी विद्यमान है, जैसे – घृत से घी का विकास। औ से ओ तथा ऐ से ए का विकास अपभ्रंश से सीधे हिंदी में होता है, जैसे – चौर से चोर। संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर द्वित्व व्यंजनों का प्रयोग अपभ्रंश की प्रधान विशेषता रही है। द्वित्व शब्दावली वीर काव्य के लिये सर्वाधिक उपयुक्त शब्दावली थी। आदिकालीन तथा मध्यकालीन काव्य में इस शब्दावली का प्रयोग हुआ है। परवर्ती अपभ्रंश में द्वित्व का लोप और क्षतिपूरक दीर्घीकरण तथा आनुनासिकीकरण के द्वारा द्वित्व व्यंजन का समीकरण हुआ। जैसे अर्द्ध से आधा, कर्म से काम, स्वर्णकार>सुण्णार>सुनार। हिंदी की अधिकाँश तद्भव शब्दावली इसी नियम के अनुसार निर्मित हुई है।

मध्यग क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प् के लोप के कारण प्राकृत तक अवशिष्ट स्वरों की संधि नहीं की जाती थी, पर अपभ्रंश में संधि प्रक्रिया प्रारंभ हुई है। और हिंदी में भी यह प्रक्रिया यथावत प्रचलित है। जैसे - अंधकार>अंधआर>अंधार। अपभ्रंश में संयुक्त स्वरों का स्थान 'य' श्रुति ने लिया है। हिंदी की निर्मिति में यह प्रक्रिया क्रियाशील है, जैसे – राजन्>राअअ>राय। ध्वनियों के उच्चारण स्थान में परिवर्तन की प्रक्रिया अपभ्रंश में दिखाई देती है। हिंदी में भी इस प्रक्रिया का विकास नजर आया है। क वर्गीय कंठ्य ध्वनियाँ अपभ्रंश में कोमल होकर तालव्य में परिवर्तित हुईं। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में व्याकरणिक रूपों के सरलीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी। अपभ्रंश में प्रवाहित होते हुए इस प्रक्रिया का विकास हिंदी में होता है। इसमें अपभ्रंश में विभक्ति रूप केवल तीन वर्गों तक सीमित रहा गए, जिनका विकास हिंदी में जस का तस हुआ। प्रथम एकवचन में 'उ' का प्रयोग परवर्ती हिंदी की प्रमुख बोलियों ब्रज, अवधी में बहुत दिनों तक प्रचलित रहा। जैसे – रामु, कामु, काजु, आजु आदि।तृतीय सप्तमी इ, ई, ए, ऐ तथा हि प्रारंभिक हिंदी में प्रयुक्त हैं। अपभ्रंश में एक विभक्ति चिन्ह दो विभक्तियों के लिए प्रयुक्त होता था जबकि हिंदी में इनका प्रयोग कई विभक्तियों के लिए होने लगा। 'हि' ऐसी ही विभक्ति है, जिसका प्रयोग प्रायः सभी कारकों के लिए होता है।

वाक्य संरचना में निर्विभक्तिकरण अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है । इस धरातल पर आधुनिक भारतीय आर्यभाषायें प्राचीन भाषाओं से अलग खड़ी हैं । इसके कारण अर्थ प्रतीति में अस्पष्टता आ जाना स्वाभाविक था । फलस्वरूप परसर्गों का प्रयोग प्रारंभ हुआ । अपभ्रंश में परसर्गों की संख्या सीमित थी किन्तु अवहट्ट तक इनमें काफी वृद्धि हुई । कर्ता - ने, करण – सम, सन्न, सउं, सऊँ, से, तण, सम्प्रदान – केहि, रेसि, लागि, अपादान – हुंतउ, हुंते, सऊँ, सम्बन्ध – केरए, केरा, केर-कर, क, का । अधिकरण – महि, माँझ, उप्परि, ऊपर अपभ्रंश के प्रमुख उपसर्ग हैं । इनमें से अधिकांश का विकास हिंदी में हुआ है, जिनमें कुछ लोक बोलियों के अंग बने, और कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ हिंदी में उपस्थित हैं । जैसे – न्ने से ने, सम से सउं, सई से से, केरअ से का, की, के, उप्परि से पर ।

आधिकांश हिंदी सर्वनाम रूपों की निर्मिति अपभ्रंश में ही पूरी हो चुकी थी । अपभ्रंश – हऊँ>ब्रज - हौं । अपभ्रंश मइं> खड़ी, अवधी – मैं । सम्बन्धसूचक जो, जे, प्रश्नवाचक को, के, कवन (कौन) हिंदी में यथावत हैं । अपभ्रंश के सार्वनामिक विशेषण हिंदी में यथावत हैं । जैसे – जइस, कइस, तइस, अइस । किन्तु परिनिष्ठित हिंदी में अइ का ऐ हो गया । फलस्वरूप ये विशेषण हिंदी में जैसा, कैसा, ऐसा, तैसा हो गए । अपभ्रंश के केत्तिउ, जेत्तिउ रूप परिनिष्ठित हिंदी में कितना, जितना हो गए । शब्द निर्मिति प्रक्रिया की भांति अपभ्रंश के क्रिया रूपों की निर्मिति प्रक्रिया भी सरलीकरण की प्रवृत्ति से प्रभावित है, हिंदी भी इसी क्रम की ओर उन्मुख है। परिणामस्वरूप अपभ्रंश और हिंदी क्रिया रूपों में पर्याप्त समानता है । जैसे -

काल	अपभ्रंश	हिंदी
वर्तमान	करइ, करहु, करऊँ	> करैं, करहु, करौं
भविष्यकाल	हसिहइ, हसिहिहि, हसिहिऊँ	> हसिहै, हसिहैं, हसिहौं
आज्ञार्थ	करू, मारहु, करहु	> करू, मारहु, करहु
प्रेरणार्थक	करावइ, बैठाव, पढाव	> करावो, बैठाओ, पढाओ

अपभ्रंश के अनुकरण के आधार पर निर्मित तथा देशी धातुओं के पुनःप्रयोग के फलस्वरूप अपभ्रंश में प्रचलित चख, कढ, लुक्क, जैसी धातुएं हिंदी की समपत्ति बन गयी । अपभ्रंश में क्रिया तिडन्तीय रूपों की अपेक्षा कृदंतीय रूपों का प्रयोग अधिक हुआ । तिडन्तीय का प्रयोग भूतकाल तक सीमित रहा । हिंदी भाषा की भी ठीक यही स्थिति रही है । परवर्ती अपभ्रंश के संयुक्त क्रिया प्रयोग हिंदी में भी समानरूप से प्रचलित हैं ।

बहरहाल आदिकालीन साहित्य की भाषिक संरचना भावात्मक और संरचनात्मक दोनों रूपों में अपभ्रंश और हिंदी साहित्य के परस्पर सम्बन्ध पर आधारित है। "भाषा के इतिहास में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। बड़ी से बड़ी ऐतिहासिक क्रांति भी भाषा के ढांचे में सहसा परिवर्तन नहीं ला सकती। अक्सर धीरे-धीरे होने वाले छोटे-छोटे परिवर्तन शताब्दियों के बाद जब एकत्र हो जाते हैं तो भाषा एकदम बदली हुई दिखाई पड़ने लगती है। गुजराती, मराठी, बंगला तथा हिंदी बोलियों के उदय के बारे में भी यही नियम लागू होता है। इन आधुनिक भाषाओं का उदय और विकास अपभ्रंश के ही गर्भ में धीरे-धीरे सैकड़ों वर्षों से होता आ रहा था। एक ओर साहित्यिक अपभ्रंश के रूप में धीरे-धीरे अप्रचलित और दूसरी ओर आधुनिक भाषाओं के नए रूप प्रचलन में आते रहे। क्रमशः रूपों के ह्रास और नवीन रूपों के विकास की प्रक्रिया से ही आधुनिक भाषाओं उदय हुआ" ।[36] भाषा परिवर्तन की प्रक्रिया भाषा के संरचनात्मक निर्माण की भी प्रक्रिया होती है। इस अर्थ में वह निश्चय ही पूर्ववर्ती भाषा से अपनी आधार सामग्री ग्रहण करती है। यह अनुग्रहण भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से होता है। हिंदी ने अपनी पूर्वकालिक भाषा अपभ्रंश की टेक पर अपनी संरचना का विकास किया, इसी अर्थ में इन दोनों भाषाओं का संरचनात्मक रूप काफी हद तक समान है।

घ. सामाजिक उपादेयता

साहित्य समाज सापेक्ष विधा है, उसका सृजन समाज से प्रभावित होकर किया जाता है और उत्पादन के बाद वह स्वयं सामाजिक परिवर्तन का वाहक बनता है। इस अर्थ में साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है' और साहित्य मनुष्य की 'चित्तवृत्तियों का समूह' है। साहित्य की किसी भी रचना में उसका युग प्रतिबिंबित होता है। साहित्य की सामाजिक उपयोगिता ही उसको ग्राह्य बनाती है जिसे उसकी प्रासंगिकता कहा जाता है। डॉ नगेन्द्र के अनुसार "कला और समाज के परस्पर सम्बन्ध की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि कला स्वयं ही एक सामाजिक घटना है" ।[37] 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' की मंगलकामना साहित्य की आत्मा है। प्राचीन साहित्य से लेकर समसामयिक साहित्य में समाज का अंकन प्रमुखता से हुआ है। साहित्य जब-जब समाज से विमुख हुआ है, उसकी प्रासंगिकता पर सवाल उठाये जाते रहे हैं। "साहित्य का मानव जीवन से चिरंतन सम्बन्ध होता है। साहित्य का स्रष्टा मनुष्य है, मनुष्य के लिए ही साहित्य की सृष्टि है" ।[38] सामाजिक उपादेयता के दायित्व का निर्वहन करने के कारण ही भक्तिकाल को हिंदी का 'स्वर्ण काल' कहा गया है। दरबारी आग्रह से युक्त होने के कारण रीतिकालीन कविता समाज से विरक्त हो गयी, इसीलिए इसकी सामाजिकता

को लेकर तमाम सवाल उठाये जाते रहे हैं। आधुनिक काल में आकर साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी ही उसकी सामाजिक उपादेयता है। आधुनिक रचनाकारों ने अपने साहित्य के माध्यम से मानवीय संवेदनाओं को अभिव्यक्ति दी है। हिंदी साहित्य के आरंभिक कालखंड का मूल्यांकन कई बार उसके एक हिस्से को लेकर किया जाता है। चारण कवियों द्वारा लिखी गयी दरबारी कविता को लोक समाज से विमुख होने के कारण ही आलोचकों ने इस काल को 'अन्धकार काल' घोषित कर दिया है। ऐसे समय में इस बात की पड़ताल आवश्यक है कि आदिकाल में जो रचनाएँ हुई हैं उनकी सामाजिक बदलाव में कोई भूमिका है अथवा नहीं। इन रचानाओं के सामाजिक सरोकार क्या हैं? साहित्य और समाज दो तरीकों से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। पहला तरीका है साहित्य द्वारा सामाजिक बदलावों की बात करना, जैसे भक्तिकाल अथवा समकालीन विमर्श परक साहित्य। दूसरा तरीका है सामाजिक गतिविधियों के आधार पर साहित्य का रचा जाना। जैसे राष्ट्रवादी साहित्य ने अपने समकालीन तमाम साहित्यकारों की लेखनी को देशभक्तिपरक साहित्य लिखने के लिए प्रेरित किया। आदिकालीन साहित्य में दोनों तरह की सामाजिक उपादेयता मौजूद हैं। यहाँ धार्मिक साहित्य के जरिये समाज में बदलाव हो रहे हैं और विषम राजनीतिक परिस्थितियाँ कवि को एक खास ढंग से रचना करने के लिए प्रेरित कर रही हैं।

पहले क्रम में आदिकालीन हिंदी का धार्मिक साहित्य आता है, किन्तु सिद्ध नाथ और जैन साहित्य की सामाजिक उपादेयता पर बात करते हुए इसकी परिस्थितियों को समझने की आवश्यकता है। हिंदी भाषा और साहित्य का निर्माण तथा भारत में इस्लाम का प्रवेश लगभग एकसाथ होता है। इस्लाम आगमन की घटना के परिणामस्वरूप हिंदी साहित्य जगत में भाषा, विचार, दर्शन आदि क्षेत्रों में एक हलचल और परिवर्तन हुआ। इस काल में साहित्य शास्त्र और पांडित्य से ऊबकर लोक की ओर उन्मुख होने लगता है। कई परंपराएँ शास्त्र से इतर लोक भाषा में समाहित हो रही थीं। लघु परंपराएँ साहित्य में प्रतिष्ठित परंपराओं को विस्थापित कर रही थीं। बौद्ध, जैन विचार और दर्शन पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से गुजरकर पुरानी हिंदी में अभिव्यक्ति पा रहे थे। वस्तुतः भारतीय समाज में रूढ़िवादी विचार परंपरा के विरुद्ध समय-समय पर व्यापक लोक जीवन विद्रोह करता रहा है और नए विचारों को प्रस्तावित करता रहा है। सिद्ध, नाथ और जैनियों का धार्मिक विद्रोह इसी बात को प्रमाणित करता है। यदि यह विद्रोह मात्र धार्मिक होता तो 'सांप्रदायिक साहित्य' की घोषणा के बाद उपेक्षित हो गया होता और साहित्य के इतिहास में उसकी चर्चा भी नहीं मिलती। किन्तु इस विद्रोह के व्यापक सामाजिक आधार और सरोकार थे। कविकर्म इन कवियों का पेशा नहीं था और न ही कविता रोजी कमाने का जरिया थी। वे सामाजिक विषमता से व्यथित होकर उसके खिलाफ अपनी आवाज उठा रहे थे, इसी प्रक्रिया में वे अपने अनुभवों की अभिव्यक्त कर रहे थे।

वज्रयानी संप्रदाय के चौरासी सिद्धों की संख्या उपलब्ध है, जिनके आदि सिद्ध सरहपा हैं। इन साधकों का समाज तमाम विषमताओं से भरा हुआ था। यह युग सामंतों के वर्चस्व का युग था। वेद अध्ययन की सुविधा समाज के उच्च वर्ग के लिए आरक्षित थी, स्त्रियों और शूद्रों का उसपर कोई अधिकार नहीं था। यह सर्वविदित है कि धर्म साधना का विकास सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर होता है। यदि शूद्रों या महिलाओं के लिए मंदिरों के दरवाजे बंद किये जाते हैं तो लोक समाज में मंदिर की उन अट्टालिकाओं के समानांतर 'बरगदहा बाबा', 'बरम बाबा','चमरिया माई', 'औघढ बाबा' जैसे न जाने कितने देवता उभरकर सामने आ जाते हैं। यही हाल तत्कालीन समाज का भी था। वेदों के देवता जब आम जनता से दूर हो गए, तब तंत्र-मन्त्र साधना पर आधारित बौद्ध धर्म की सहज साधना पद्धति ने समाज के तथाकथित निम्न वर्ग को सर्वाधिक आकर्षित किया। सहज साधना ने बौद्ध धर्म के साथ-साथ जैन और हिन्दू धर्म में भी प्रसार पाया। यह परंपरा वस्तुतः अनुभव की परंपरा थी, जिसमें पोथी के ज्ञान का कोई महत्व नहीं था। अनुभव आधारित ज्ञान ने खंडन की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। वे धार्मिक रूढ़ियों का खुला विरोध करने लेगे। सरहपा घर में बैठकर हवन करके आँखे लाल करने वालों की हंसी उड़ाते हैं। कण्हपा ने अपनी रचना में कहा है –

आगम वेअ पुराणहिं पंडीअ मान वहन्ति।
पक्क सिरीफले अलिय जिम बाहेरी अभ्यति ।।[39]

सिद्ध योगियों में सर्वाधिक संख्या उन जातियों की थी जिन्होंने वर्षों से जातिगत विषमता झेली थी। इस अर्थ में ये साधक जातिगत हीनता से पूरी तरह से मुक्त थे। सरहपा जातिगत ब्राह्मण थे, और उन्होंने तथाकथित निम्न जाति की स्त्री से विवाह करके सामाजिक विषमता पर तीखा प्रहार किया था। अपने प्रसिद्ध 'दोहाकोश' के पहले ही दोहे में वे ब्राह्मणों पर प्रहार करते हैं –

ब्रह्मणेहि म जानन्त हि भेउ। एवइ पढिअउ ए चउबेउ।
भट्टी (पाणी कुस, लइ पढन्ते। धरहिं बइसी) अगिग हुणन्त ।।[40]

सिद्धों के साहित्य में परंपरागत सामाजिक अनुशासन के प्रति उपेक्षा का भाव है। तत्कालीन समाज जातिवाद के दुष्चक्र से पीड़ित समाज था। सिद्धों ने वर्णाश्रम धर्म का जमकर विरोध किया, और कबीरदास के शब्दों में कहें तो 'पंडित वाद वदंते झूठा' की घोषणा कर दी। ऐसी जटिल सामंती समाज व्यवस्था के समानांतर सिद्धों ने नए शोषण मुक्त समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की है।

नाथ पंथ के योगियों ने खुद को योगी कहकर संबोधित किया है। लोक समाज में योगियों को लेकर एक कहावत है कि 'रमता जोगी बहता पानी' मतलब इनकी दिशा का कोई एक आयाम नहीं होगा। नाथों का प्रभाव पूरे भारत में व्याप्त था। इस पंथ के गुरुओं में गोरखनाथ का नाम अहम है, इनकी संगठन शक्ति अपूर्व थी। स्थानीय संस्कृति में रच-बस जाना नाथों की प्रधान विशेषता थी।

इन चिंतकों ने समाज में मिश्रित संस्कृति को और तीव्रता प्रदान की। अपने दृष्टिकोण में यह पंथ बेहद समरसतावादी था। इसी कारण यह पंथ मुसलमानों में भी आकर्षण का केंद्र था। ईश्वर से मिलाने वाली योग साधना ने हिन्दुओं और मुसलमानों को समान धरातल पर ला दिया। मुसलमान योगियों को भरथरी के गीत गाते हुए आसानी से देखा जा सकता है। इन योगियों ने हर धर्म और संस्कृति से अपना संवाद स्थापित किया। सिद्धों के समान"नाथ पंथ में भी जाति का कोई बंधन नहीं था, अतः निम्न जाति के लोगों ने इस संप्रदाय को ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक आश्रय दिया। क्योंकि यह पंथ एकेश्वरवाद की धुरी पर खड़ा था, इसलिए मुसलमानों के लिए भी आकर्षक रहा। अतः इस पंथ को अपनाने वाले हिन्दू मुसलमान दोनों थे। भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों में सम-भावना और समान भक्ति मार्ग आदिकाल की ही देन है। भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों में सम-भावना और समान भक्ति मार्ग आदिकाल में नाथपंथ की ही देन है, जो आगे चलकर निर्गुण भक्तिधारा का रूप लेती है। नाथ पंथ खुले मन से वैचारिक बहस के लिए आमंत्रित करता है, लेकिन उसमें संवाद है विवाद नहीं। गोरखनाथ जोगी को संबोधित करते हुए कहते हैं कि –

कोई वादी कोई विवादी जोगी कौं वाद न करना।
अड़साठे तीरथ समंद समानें यूं जोगी को गुरु मसि जरनो" ।।[41]

नाथ साहित्य का उद्देश्य लोक समाज से संवाद करना था। उनको ज्ञान की पोथियाँ लिखकर समाज में अमरत्व की इच्छा नहीं थी। वे मनुष्य के विवेक को जीवन की कसौटी मानते हैं, और उसी आधार पर पाखंड का विरोध करते हैं। अपने वृहत्तर सामाजिक सरोकारों का निर्वाह करते हुए इन साधकों ने भारत के विभिन्न भागों की यात्रा की। यायावरी प्रवृत्ति के कारण इन साधकों ने एक संपर्क भाषा का विकास किया जिसमें पूर्वी, ब्रज, खड़ी बोली, राजस्थानी और पंजाबी के शब्द हैं। "उन्हें मुसलमानों को भी अपनी बानी सुनानी रहती थी जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आस-पास की खड़ी बोली थी। इससे उनका मेल भी उनकी बानियों में अधिकतर रहता था। इस प्रकार नाथ पंथ के उन जोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्य भाषा से, जिसका ढांचा नागर अपभ्रंश या ब्रज था, अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया जिसका ढांचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था"।[42] नाथ साधकों के सामाजिक सरोकारों का विस्तृत और निखरा रूप भक्तिकालीन निर्गुण संतों के साहित्य में दिखाई देता है।

जैन लेखकों ने धर्माधारित विधिवत साहित्य की रचना की है। इन धार्मिक ग्रंथों में यह तलाश करने की आवश्यकता है कि उनमें मानवीय संवेदना और सामाजिक अनुभूतियों का कितना गहरा स्पर्श है। इस साहित्य से यदि धार्मिकता की परत को हटाकर देखा जाये तो इसमें जीवन का अद्भुत सौन्दर्य दिखाई देता है। यहाँ समाज की मूल्यवान मर्यादा की झांकी है। जैसे 'भरतेश्वर

बाहुबली रास' में रचनाकार ने मानवीय महत्वाकांक्षा के गलत परिणामों को दिखाया है। किसी व्यक्ति की महत्वाकांक्षा का असीमित विकास समाज के किन मानवीय मूल्यों की हत्या के द्वारा अपना मार्ग तैयार करता है, इसका बड़ा मार्मिक वर्णन इस रचना में दिखाया गया है। जैन काव्य अपनी रचनाओं में धार्मिकता का आवरण ओढे हुए है, लेकिन उसके मध्य भी इस साहित्य में लौकिकता और सामाजिकता के दर्शन होते रहते हैं। विचारधारा की प्रबलता की वजह से रचना के अंत में मोक्ष और वैराग्य का पक्ष प्रधान है, लेकिन कवि ने सामाजिक जीवन की जटिलताओं का भी भरपूर वर्णन किया है।

कवि धनपाल रचित 'भविसयत्त कहा' में सामंती समाज में प्रचलित बहुपत्नी प्रथा के परिणामों और विषमताओं को उजागर किया गया है। इस कथा में आदर्श और यथार्थ का मिश्रित चित्रांकन हुआ है। भविष्यदत्त के व्यक्तिगत स्वभाव को उभारते हुए कवि ने कहीं भी उसके जातिगत स्वाभाव की उपेक्षा नहीं की है। इस कथा में न तो नायक प्रेमासक्त है और न ही भक्त। यहाँ लेखक ने नायक को कर्म के प्रति सजग व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया है। रचना में समाज की हर मनोदशा का बारीक अंकन हुआ है। समाज में माता और पुत्र का रिश्ता बेलौस है। पुत्र-वियोग में माता की हृदयानुभूति का बेहद बारीक चित्रण इस रचना में हुआ है। रचनाकार का द्वारा वर्णित यह विरह उनकी कुशलता के साथ-साथ सूक्ष्म सामाजिक दृष्टि का भी परिचायक है। धनपाल माँ के हृदय में गहरे पैठकर उनके मनोभावों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं –

हा हा पुत्त उक्कंठियइं घोरंत रीकालिशरिट्ठीयइं
को पिक्खीवि मणु अभुद्दराभि महि विवरू देहि जिबइसरभि
हा पुव्वजम्मि किउ काइं मइं णिहि दंसहि जं णयणइं हथइं।[43]

इस कृति में कवि ने नायक के सद्गुणों का विकास प्रेमजन्य या भक्तिजन्य रूप में न दिखाकर उसकी कर्मभावना में प्रदर्शित किया है।

स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' में राम कथा को आधार बनाया है। वस्तुतः रामकथा भारतीय जन मानस का अंग रही है। समय के साथ इसके स्वरूप अवश्य बदलते रहे हैं। जैन कवि सामाजिक संवेदना के कवि थे इसीलिए उन्होंने भारतीय जन मानस में बसी रामकथा को अपना आधार बनाया। अन्य जैन कवियों की तरह उन्होंने भी काव्य के आरम्भ में ही ब्राह्मण मत की आलोचना की है। यह आलोचना धार्मिक आग्रह का परिणाम न होकर सामाजिक आग्रह का परिणाम है। सिद्धों नाथों की तरह जैन साधक भी सामाजिक वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे। 'पउमचरिउ' के राम साधारण मनुष्य हैं, जिनमें उल्लास और अवसाद के भाव समान रूप से वर्णित हुए हैं। कथा के सभी प्रधान पात्र जिन भक्त हैं। स्वयंभू का उद्देश्य धर्म प्रचार के साथ-साथ सुंदर काव्य-भावना से प्रेरित था। इसीलिए इस ग्रंथ में मार्मिक प्रसंगों में बाधक कथाएं छोड़ दी गयी हैं। रचना में राम का

वनवास, माता की चिंता, वनगमन आदि का करुण वर्णन हुआ है। राम और सीता के वन गमन का वर्णन सबसे अधिक करुणाजनक है –

णिय मन्दिर हो विणिग्गय। जाणइ ण हिमवत हो गंग महावइ।
ण छन्दहो णिग्गय गायत्री ण सद्दहो णिसरिय विहात्ति।[44]

अर्थात राम के साथ जानकी मंदिर से ऐसे निकलीं जैसे हिमालय से गंगा निकल पड़ी, छन्दस से गायत्री और शब्द से विभक्ति निकल पड़ी हो। स्वयंभू कवि कर्म में एक कुशल शिल्पी थे। अपने काव्य में एक ओर इन्होंने अपनी धार्मिक प्रतिबद्धता प्रस्तुत की वहीं दूसरी ओर काव्य को लोक जीवन से संपृक्त किया। लोक की अनुभूति, संवेदना और लोकमन का जीवंत चित्रण इनकी रचनाओं में दिखाई देता है। इस अर्थ में इन रचनाओं की सामाजिक उपादेयता बहुमूल्य है।

समाज में फैली तमाम बुराइयों का अपनी बुद्धि के आधार पर नकार यदि आधुनिकता का परिचायक है तो हिंदी की प्रारंभिक संवेदना का विकास सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य की विद्रोही चेतना से ही माना जाना चाहिए। इस धारा के रचनाकार एक खास वर्ग के वर्चस्व के खिलाफ खड़े हुए। भक्तिकालीन दो बड़े कवियों के माध्यम से परवर्ती हिंदी में सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य का प्रभाव तुलनात्मक रूप में देखा जा सकता है। सिद्धों नाथों की विद्रोही परंपरा का सीधा विकास कबीर आदि संतों में हुआ है तो तुलसीदास ने जिस कड़वक शैली में रामचरितमानस को रचा है वह जैन अपभ्रंश साहित्य का अपना आविष्कार थी।

आदिकाल में धार्मिकता के समानांतर साहित्य का एक बड़ा हिस्सा दरबारी काव्य परंपरा का भी है। साहित्य का आदिकालीन युग, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक लगभग हर दृष्टि से गहन विचलन का युग था। राजपूताना-सामंती वर्ग अपनी आन-बान-शान में चूर घोर विलासी वर्ग बन चुका था। अहम् में डूबे ये हिन्दू राजा या तो अपनी वीरता का बखान सुनना चाहते थे या फिर श्रृंगार का। इन दो विषयों के अतिरिक्त इस साहित्य की सामाजिक उपादेयता लगभग समाप्त-सी हो गयी थी। आश्रयदाताओं की रुचि का ध्यान रखते हुए ही कवियों ने श्रृंगारयुक्त वीर-काव्यों का सृजन किया। उस युग में रचे गए तमाम वीर-काव्य युद्ध-वर्णनों और श्रृंगार-वर्णनों का साझा कोलाज हैं। अधिकतर युद्धों का कारण स्त्री की प्राप्ति होती थी और स्त्री को प्राप्त करने के बाद प्रेम, श्रृंगार और विवाह आदि के वर्णन आरम्भ होते थे। इन समस्त वीर-काव्यों में कीर्तिलता एकमात्र ऐसा काव्य है जिसे विशुद्ध वीर-काव्य कहा जा सकता है। इसमें श्रृंगार का पुट बिलकुल नहीं है। यहाँ युद्ध का मूल कारण पिता की छल से हुई हत्या है। कीर्तिलता में राजा कीर्तिसिंह की राजा असलान से मिलने हेतु की जाने वाली यात्रा के समय विद्यापति ने हाट, बाजार, स्त्रियों आदि के वर्णन के रूप में सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन किया है। विद्यापति

द्वारा तत्कालीन समाज में बाजार की भूमिका और भारतीय संस्कृति में यवनों के प्रवेश का बखूबी वर्णन किया है । विद्यापति के अनुसार व्यापारी नगर के बाजार में कपूर, कुमकुम, धूप, चामर, काजल, कपड़े आदि उचित मूल्य पर बेचते थे जिन्हें बर्बर यवन खरीद कर ले जाते थे । अर्थात बाजार में समानका उचित मूल्य होने पर भी आम जनता उसे खरीद नहीं पाती थी, क्योंकि यह सारा सामान सत्ता वर्ग के हाथों में चला जाता था। बाज़ार की भीड़ का वर्णन करते हुए विद्यापति कहते हैं, कि भयंकर भीड़ के कारण लोगों के सिर आपस में टकरा जाते थे, जिससे एक का टीका दूसरे को लग जाता था। स्त्रियों के हाथों की चूड़ियाँ टूट जाती थीं। ब्राह्मण का जनेऊ 'चांडाल' से टकराकर हिल उठता था। हाथी-घोड़ों के चलने से मनुष्यों के इस समुद्र में न जाने कितने लोग पिस जाते थे।

विद्यापति के अनुसार –

"मानुस क मीसि पीस बर आँगे आँग,
ऊंगर आनक तिलक आनका लाग।
यात्राहुतह परस्त्रीकवलय भाँग।
ब्राह्मण क यज्ञोपवीत चाण्डाल के आँग लूर,
वेश्यान्हि करो पयोधर जती के ह्रदय चूर।"[45]

कीर्तिलता में आश्रयदाता राजा की अतिरंजनापूर्ण व्याख्या के समानांतर तत्कालीन समय, समाज और सांस्कृतिक परिवर्तनों को वाणी दी गयी है, इसीलिए यह रचना अन्य दरबारी रचनाओं से भिन्न और विशिष्ट है । यहाँ काव्य के नायक ही आम जन सामान्य की तरह जीवन के तमाम संघर्षों का सामना करते हुए उनपर विजय प्राप्त करते हैं। विद्यापति के अनुसार पुरुष के अस्तित्व की प्राप्ति पुरुषार्थ से होती है। पुरुष योनि में जन्म लेने मात्र से कोई पुरुष नहीं हो जाता है। पुरुष जन्म की सार्थकता व्यक्ति को अपने कर्म और श्रम से अर्जित करनी पड़ती है । बादल जब पानी बरसाता है, तभी वह जलद कहलाता है, अन्यथा वह धुंए से बने पुंज के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कर्म करने की शक्ति से युक्त व्यक्ति ही जगत में सम्मान पाता है और कर्मशील तथा जगत में सम्मानित व्यक्ति ही वास्तव में पुरुष कहे जाने योग्य होता है। अकर्मण्य पुरुष पूँछ विहीन पशु से अधिक कुछ नहीं है। विद्यापति ऐसे ही एक सुपुरुष की कहानी कहकर पुण्य प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसी कथा कहने से सुभवन और सुभोजन दोनों की प्राप्ति होती है और स्वर्ग के द्वार खुलते हैं—

सुपुरिस कहानी हौं कहऊँ जसु पत्थावे पुन्न।
सुक्ख सुभोजन सुभ वअन देवहा जाइ सपुन्न ।।[46]

पुरुषत्व के गुणों से युक्त होने के कारण ही विद्यापति ने कीर्तिसिंह को राजा बलि, राजा रामचंद्र, राजा भागीरथ और परशुराम के समकक्ष रखा है। ये चारों महापुरुष क्रमशः महादानी, महाबली, कुल के रक्षक और शत्रु के संहारक हैं। कीर्तिसिंह उपर्युक्त चारों गुणों से युक्त हैं, उन्होंने अपने पुरुषत्व के बल पर युद्धभूमि में पिता की हत्या का बदला लेकर अपना प्रतिशोध पूरा किया। कीर्तिलता की ये लोक केन्द्रित खूबियाँ इस रचना की सामाजिक उपादेयता को उजागर करती हैं।

वीर काव्यों के लेखक अधिकतर दरबारी कवि हुआ करते थे, इसीलिए उनकी काव्य रचना का कोई वृहत्तर सामाजिक सांस्कृतिक आधार नहीं था। वे बस अपने सामंतों को खुश करके अधिक से अधिक लाभ क माना चाहते थे। यदि इन काव्यों में नायकों के विवाहों आदि में लोक समाज का वर्णन हुआ भी है तो राजदरबारों के सापेक्ष ही हुआ है। इन काव्यों की नायिकाओं की हर भंगिमा सामंतों के अनुकूल है। वीरगाथात्मक साहित्य सामाजिक परिवर्तन का वाहक न होकर तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल स्वयं को ढालता है। चारण कवि अपने साहित्य के माध्यम से राजाओं को कर्तव्य परायणता का संदेश न देकर उनको युद्ध अथवा भोग विलास की ओर प्रेरित करते रहते थे। 'जहाँ देखि सुंदरा डारि देई तलवार' जैसी पंक्तियाँ इन काव्यों में भरी पड़ी हैं। इन रचनाओं के सामाजिक सरोकार आश्रयदाता सामंतों के इर्द-गिर्द ही केन्द्रित और सीमित थे। समाज की व्यापक समस्याओं या उनकी आकांक्षाओं से इनका कोई वास्ता नहीं था।

आदिकाल के सामाजिक सरोकार की वास्तविक झलक लोकाश्रित काव्य में देखने को मिलती है। इस काव्य की सहजता अभीर, कृषक और युद्ध प्रिय जातियों के वर्णन से मिलकर बनी थी। प्रबंध चिंतामणि के एक दोहे में एक कृषक का चित्र आता है, जिसके घर में चार बैल हैं, दो गायें हैं और मीठा बोलने वाली स्त्री है उसको हाथी पालने की क्या जरूरत है।

चारि बैल व् धेनु द्वि, मिट्ठा बोल्ली नारि।
काहू मूल्लि कुरुविया गैवर गज्जू बारि।।[47]

मुक्तक काव्य में जीवन के विभिन्न चित्र उभरते हैं, उन चित्रों से जब आदिकालीन साहित्य को देखते हैं तो लोक समाज के विविध रंग दिखाई देते हैं। जिसको मूल्यांकन का आधार बिंदु नहीं बनाया गया है। तथाकथित 'संभ्रांत' परंपराओं का सम्बन्ध समाज के सुशिक्षित, चिंतनशील, विशिष्ट जन के साथ होता है, किन्तु लघु परंपराएँ, महत्परंपराओं से जुडी होने के साथ-साथ साहित्य को लोककथाओं, लोकविश्वासों, कहावतों, पहेलियों, किस्सों, मिथकों, किंवदंतियों आदि से भी समान रूप से जोड़ती हैं। इस नजरिये से आदिकाल को एक पुष्ट और प्रौढ़ लोक साहित्य के रूप में देख जा सकता है, जो शिष्ट साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित होने की राह पर है।

लोक समाज की सहज भावनाओं को 'संदेश रासक' में बहुत बारीकी से उकेरा गया है। इस काव्य की नायिका एक साधारण स्त्री है जो अपने पति के वियोग में व्याकुल होकर तमाम संदेश

वाहकों से पति तक संदेसा भिजवाती है। यह खंड काव्य संस्कृत काव्य के लालित्य से भरपूर है। कालिदास द्वारा रचित 'मेघदूत' काव्य में मेघ संदेश वाहक और विरही पुरुष है जबकि संदेश रासकमें कवि ने नारी को विरहणी के रूप में उतारा है। इसी काव्य में सर्वप्रथम बारहमासा का वर्णन किया गया है, जहाँ लोक जीवन के उपादानों पर पड़ने वाले ऋतुओं के प्रभाव को उकेरा गया है। विरहणी नायिका की अवस्था को अभिव्यंजित करते हुए कवि कहता है कि –

संदेशउ सबित्थरउ, पर मइ कहण न जाइ।
जो काणगुलि मुंदडउ, सो बाहडी समाइ।।[48]

संदेश रासक में प्रिय से बिछड़ी नायिका के हर मनोभाव का मार्मिक चित्रण मिलता है। लोक संवेदना की गहनता इतनी घनिष्ठ है कि ऐसा लगता है जैसे नायिका के साथ प्रकृति का हर जर्रा रो रहा हो। परवर्ती भक्तिकालीन साहित्य में जायसी की रचना 'पद्मावत' के नागमती वियोग खंड में संदेश रासक की विरहानुभूति का जीवंत विकास हुआ है।

'ढोलामारू रा दूहा' संदेश रासक के समान विरह काव्य है, जिसमें नायिका मारवाणी की विरह संवेदना की गहनता का वर्णन किया गया है। वस्तुतः यह कथा एक बहुपत्नी प्रथा के दोषों को उजागर करती है, तो दूसरी ओर अत्यंत करुणा के भावों को अभिव्यक्ति देती है। इस काव्य में न तो परंपरागत रूढ़ियाँ हैं और न ही अनावश्यक विस्तार। ढोला का वर्णन स्थानीय रंगत से भरा हुआ है। भविसयत कहा या ढोला जैसे लोक काव्य, सिर्फ मनोरंजन या स्वान्तः सुखाय के लिए नहीं लिखे गए हैं। इन काव्यों का वृहत्तर नैतिक सामाजिक दायित्व यह है कि वे समाज में बहुपत्नी प्रथा के दुष्प्रभावों के प्रति भी जनता में जागृति ला सकें। लौकिक काव्यों में न तो धार्मिक साहित्य की तरह ज्ञान की शुष्कता है और न ही दरबारी काव्यों की तरह श्रृंगार की मांसलता। यहाँ प्रेम और मिलन के क्षणों में मांसलता का लेश मात्र भी नहीं है और न ही अपनी सामाजिक उपादेयता को दर्शाने के लिए खंडन-मंडन की प्रक्रिया। लौकिक साहित्य लोक में लोक के लिए जन्मा साहित्य है।

हिंदी साहित्य के आदिकाल में कई परंपराएँ शुरू हुई। इन सभी परंपराओं के अपने-अपने सामाजिक सरोकार हैं। यह काल खंड विभिन्न परंपराओं के सहअस्तित्व का साहित्य है, जो जन भाषा में जन भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। इस काल की सामाजिक प्रतिबद्धता इस बात में निहित है कि इन रचनाकारों ने साहित्य की अभिजात्य परंपरा से अलग हटकर लोक भाषा को चुना। इन कवियों ने अपना परिचय बोलियों के कवि के रूप में न देकर भाषा के कवि के रूप में दिया है। विद्यापति के अनुसार -

सक्कय वाणी बुहअन भावइ।
पउंस रस को मम्म न पावइ।।
देसिल वझना सब जन मिट्ठा।

तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा ।।[49]

अर्थात संस्कृत भाषा की पहुँच आम जनता तक नहीं है, वह केवल विद्वानों और पंडितों को ही अच्छी लगती है । प्राकृत भाषा इतनी शुष्क है कि इस भाषा से रस की प्राप्ति नहीं हो सकती है । कवि का मानना है कि देशी भाषा अथवा लोकभाषा ही सबसे ज्यादा ग्राह्य है। इसलिए विद्यापति ने कीर्तिलता की सर्जना के लिए अवहट्ठ भाषा का चयन किया है । संस्कृत की भाषाई संप्रभुता से युक्त समाज में जन-भाषा का चयन कवि विद्यापति की जन-पक्षधरता को दिखाता है। दरबारी कवि होने के बाद भी भाषा के स्तर पर वे जनता को संबोधित करना चाहते हैं । ऐसा करके उन्होंने अपना पाठक वर्ग भी निर्धारित कर दिया है, कि साहित्य केवल पंडितों और विद्वानों के लिए ही नहीं है । साहित्य को आम-जन की रुची का विषय होना चाहिए । यह भाषा हिंदी जाति की सामासिक संस्कृति की प्रतिनिधि भाषा है।

आदिकाल की सामाजिक उपादेयता उसके समन्वयकारी स्वरूप में झलकती है । इन रचनाकारों ने अलग-अलग धुरी पर रहने के बावजूद समाज में समरसता का संचार किया । आदिकाल में ब्राह्मण, बौद्ध, जैन रचनाकारों ने समाज में धार्मिक सहिष्णु वातावरण का निर्माण किया है । पूरब में सिद्धों, नाथों की विद्रोही वृत्ति, सामान्य जनता के असंतोष को लेकर सामने आयी । सिद्ध-नाथ योगी सामाजिक दार्शनिक थे । वे लगातार सामाजिक सौहार्द और वर्ग भेद मिटाने की कोशिश करते रहे । हिन्दू मुसलमानों के बीच बढ़ते तनाव को कम करने के लिए गोरखनाथ ने हिन्दू धर्म, योग मार्ग और इस्लाम की कट्टरता को ख़त्म करने के लिए तीनों धर्मों का अंतर्भाव दिखाने का प्रयास किया । योगियों ने सामाजिक सांप्रदायिक सौहार्द के साथ-साथ आर्थिक वैमनस्य मिटाकर भी सौहार्द लाने की कोशिश की । आदिकाल शौर्य और प्रेम, प्रेम और भक्ति, सामान्य जनता और उच्च वर्ग, ब्राह्मण, जैन, बौद्ध और इस्लाम के बीच सामंजस्य का काल है । विद्यापति के साहित्य में शैव और वैष्णव मतों का एकीकरण होता है । उन्होंने कीर्तिलता में हिंदू-तुर्क संस्कृतियों के पारस्परिक प्रभाव का बहुत ही सूक्ष्म अध्ययन किया है । एक तरफ जहाँ उन्होंने बर्बर और जालिम तुर्कों का वर्णन किया है, वहीं दूसरी ओर रहमदिल और नेक बादशाह इब्राहिम शाह का महिमामण्डन भी किया है । तुर्कों द्वारा हिन्दुओं पर किये गए अत्याचारों का वर्णन करते हुए विद्यापति में कहीं भी साम्प्रदायिकता का भाव नजर नहीं आता है । अमीर खुसरो नवागत इस्लाम धर्म के अनुयायी थे, उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की दूरी को कम करने का प्रयास किया । उन्होंने पहेलियाँ और मुकरियां लिखकर हिन्दुओं और मुसलमानों में संवाद की स्थिति बनायी । चंदवरदाई ने हिन्दू राजा पृथ्वीराज रासो की शौर्यगाथा लिखते समय कहीं भी सांप्रदायिक द्वेष का प्रदर्शन नहीं किया है । उनके द्वारा वर्णित लड़ाइयां हिन्दू और तुर्कों के बीच की नहीं, दो वीरों के बीच की हैं । वे अपने काव्य में अरबी-फारसी के शब्दों का बखूबी प्रयोग किया है ।

आदिकालीन समन्वयकारी प्रवृत्ति इस काल खंड की सामाजिक उपादेयता को महत्वपूर्ण ढंग से उजागर करती है।

संदर्भ

1. कार, ई. एच., 'इतिहास क्या है', पृ. सं. - 16
2. वही, पृ. सं. – 14-15
3. जैन, निर्मला, 'पाश्चात्य साहित्य चिंतन', पृ. सं. – 49
4. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 33
5. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं.- 44
6. शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं. – 46
7. टंडन, प्रो. पूरनचंद, संपादक, 'प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य', पृ सं. - 47
8. वर्मा, धीरेन्द्र, सं., 'हिंदी साहित्य', द्वितीय खंड, पृ. सं. - 189
9. सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं.-191
10. सिंह, सुधीर प्रताप, सं., 'आदिकालीन और भक्तिकालीन काव्य', पृ. सं. - 20
11. टंडन, प्रो. पूरनचंद, संपादक, 'प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य', पृ सं. - 63
12. सिंह, सुधीर प्रताप, सं., 'आदिकालीन और भक्तिकालीन काव्य', पृ. सं. – 20
13. शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं. – 53
14. टंडन, प्रो. पूरनचंद, संपादक, 'प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य', पृ सं. 44
15. सहगल, डॉ मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 84
16. शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं. – 44
17. सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं. – 228
18. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 210
19. सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 191
20. वही, पृ. सं.- 21
21. सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 128
22. शर्मा, रामविलास, 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं', पृ. सं.- 145
23. शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं. – 42
24. सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं. – 217
25. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 19

26.शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं. – 44
27.शर्मा, रामविलास, 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं', पृ. सं.- 86-87
28.शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 21
29.सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं.- 60
30.द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं.- 38
31.वहीं, पृ. सं.- 33
32.वहीं, पृ. सं.- 38
33.सहगल, डॉ मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 191
34.शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 18
35.वही, पृ. सं.- 48
36.सहगल, डॉ मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 192
37.नगेन्द्र, 'साहित्य का समाजशास्त्र', पृ. सं. 63
38.बाजपेयी, नंददुलारे, 'नया साहित्य : नए प्रश्न', पृ.सं. – 3
39.शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं. – 46
40.सांकृत्यायन, राहुल, 'हिंदी काव्य-धारा', पृ. सं. – 9
41.सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 191
42.वर्मा, धीरेन्द्र, संपादक, 'हिंदी साहित्य', द्वितीय खंड, पृ. सं. - 204
43.शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं. – 108
44.सिंह, डॉ० शिवप्रसाद, 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा', पृ. सं - 226
45. वही, पृ.सं. – 231
46.सिंह, सुधीर प्रताप, संपादक, 'आदिकालीन और भक्तिकालीन काव्य', पृ. सं. – 19
47.टंडन, प्रो. पूरनचंद, संपादक, 'प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य', पृ सं. - 45
48.सिंह, डॉ० शिवप्रसाद, 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा', पृ. सं – 228-229

अध्याय-3

आदिकालीन हिंदी साहित्य के प्रमुख आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि

क. आरंभिक हिंदी आलोचना और आदिकाल

ख. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

ग. आदिकाल और परवर्ती हिंदी आलोचना

आदिकालीन हिंदी साहित्य के प्रमुख आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि

आदिकाल की रचनाओं में पूर्वमध्यकाल जैसी भक्ति की टेक नहीं है और न ही उत्तर मध्यकाल जैसा दरबारी आग्रह। यह हिंदी कविता या साहित्य का आरंभिक युग है। इस समय में हिंदी भाषा और साहित्य का स्वरूप निर्मित हो रहा था। यहाँ धार्मिक मनोवृत्तियों का सात्विक चित्रण, श्रृंगार की सहज सरसता और वीर रस की ओजपूर्ण गाथाओं के तमाम चित्र एक साथ उभरते हुए दिखायी देते हैं। इस काल कीसाहित्यिक विविधता इसकी विशेषता के साथ-साथ इसके अध्ययन और आलोचना के लिए बड़ी समस्या भी है। आदिकाल के हर आलोचक ने इन समस्याओं से गुजरते हुए इस काल का मूल्यांकन अपनी-अपनी आलोचना दृष्टि के आधार पर किया है। किसी कालखंड विशेष का अध्ययन या उसकी आलोचना करने के लिए आलोचक जिन आलोचना-पद्धतियों का सहारा लेता है वह उसकी आलोचना-दृष्टि से निर्मित होती हैं।

इतिहास-लेखन में तटस्थ भाव से चयन करना संभव नहीं होता है। इतिहास स्वयं भी तटस्थ नहीं होता है। मूल्यगत निर्णय, सामग्री के चयन में ही देखा जा सकता है। यह सवाल वहीं से शुरू होता है जहाँ से हम अपनी पसंद की पुस्तक या लेखक का चयन करते हैं, उसके समानांतर ही हम बाकी लेखकों का वर्णन-विश्लेषण करते हैं। जैसा की हम शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि में विशेष रूप से देखते हैं। लाखों पुस्तकों और घटनाओं के बीच से किसी विशेष रचना या घटना का चयन आलोचक या लेखक की आलोचना दृष्टि विशेष का ही परिणाम होता है। इस अध्याय में आदिकालीन हिंदी आलोचना संबंधी विभिन्न आलोचक की आलोचना-दृष्टि, इन दृष्टियों में अभिव्यक्त समता-विषमता का अध्ययन किया जायेगा। यहाँ आदिकालीन आलोचकों की आलोचना-दृष्टि का अध्ययन उनके काल क्रमानुसार किया गया है। यूँ तो 'हिंदी साहित्य का इतिहास' लिखने वाले हर आलोचक ने इस काल की आलोचना की है, लेकिन आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त किसी भी आलोचक ने इस काल का सम्यक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है। लगभग हर आलोचक ने अपनी इतिहास दृष्टि के अनुरूप इस काल की काट-छाँट की है।

इतिहास-लेखन में आलोचनात्मक दृष्टि की जरूरत वहीं से शुरू हो जाती है जहाँ से इतिहास लेखन का कार्य आरम्भ होता है। आलोचक जब किसी रचना या युग विशेष की आलोचना करता है तो उसकी एक आलोचना-दृष्टि होती है। आलोचना दृष्टि की विभिन्नता के कारण ही एक रचना के अलग-अलग पाठ होते हैं। यहाँ आलोचना दृष्टि से हमारा तात्पर्य इतिहास-लेखन की दृष्टि से नहीं बल्कि आलोचक के उस विजन से है जो उसकी आलोचना का दायरा तय करती है। आलोचक की

आलोचना-दृष्टि ही रचना को समाज तथा व्यक्ति के संपूर्ण सामाजिक वातावरण में संदर्भित करती है, तथा उसका समय-सापेक्ष तथा युग-सापेक्ष मूल्यांकन प्रस्तुत करती है। साहित्यिक रचना यदि जीवन का अर्थ विस्तार करती है, तो आलोचना-दृष्टि रचना के अर्थ को विस्तारित करती है। वह जीवन के अंतर्द्वंद्व को देखने समझने की दृष्टि प्रदान करती है। सुसंगत आलोचना-दृष्टि ही साहित्य के काल विशेष की सीमाओं और संभावनाओं को खोजने का सही नजरिया प्रदान करती है। इस दृष्टिकोण विशेष के कारण ही एक रचना के अलग-अलग पाठ होते हैं। हिंदी साहित्य के आरंभिक काल का मूल्यांकन करने वाले आलोचकों का नजरिया भी भिन्न-भिन्न है, इस नजरिये से ही आलोचक की आलोचना-दृष्टि विकसित होती है।

(क) आरंभिक हिंदी आलोचना और आदिकाल -

आदिकालीन हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन में इतिहास का लिखा जाना जितना महत्वपूर्ण है, इस काल के सूत्र खोलने में आलोचना की भूमिका भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। इतिहास और आलोचना की सहभागिता से ही आदिकालीन साहित्य का विश्लेषण समग्रता में किया जा सकता है। इस कालखंड के व्यापक मूल्यांकन में सुसंगत आलोचनात्मक दृष्टि का आग्रह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। ध्यातव्य है कि आलोचकों और उनकी आलोचना दृष्टि का अध्ययन करने के क्रम में इन आलोचकों के आदिकाल संबंधी चिंतन को ही केंद्र में रखा गया है।

हिंदी की अन्य गद्य विधाओं की तरह आलोचना का विकास भी आधुनिक काल की देन है। आलोचना के विकास की प्रधान शर्त यही है कि वह रचनात्मक साहित्य और समकालीन साहित्य से एक साथ जुडती हो। हिंदी आलोचना आरंभ से ही इन दोनों निकषों पर खरी उतरती है। आधुनिक काल से पूर्व की आलोचना संस्कृत काव्य शास्त्र की पुनरावृत्ति हुआ करती थी। आज की आलोचना का स्वरूप साहित्य की आधुनिक दृष्टि के साथ विकसित हुआ है। आज की आलोचना संस्कृत काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि अपनाते हुए नवीन सृजन, नवीन विचारधाराओं, और नवीन सामाजिक सरोकारों के साथ विविध दृष्टियों, प्रतिमानों और प्रवृत्तियों से युक्त होती चलती है। गद्य की अन्य विधाओं की तरह व्यवस्थित आलोचना का जन्म आधुनिक काल में ही होता है। हिंदी आलोचन हिंदी साहित्य के विकास के समानांतर विकसित हुई है। हिंदी आलोचना पाश्चात्य की नक़ल पर नहीं, बल्कि अपने साहित्य को समझने-बूझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्यकता के कारण जन्मी और विकसित हुई है। यही कारण है कि आलोचना, रचनाशीलता की समधर्मी रही है।

आलोचना का आरम्भ रीतिकाल से दिखाई देने लगता है । रीतिकाल की आलोचना में काव्यशास्त्रीयता तो है लेकिन वह जीवन के सामाजिक सन्दर्भों से नहीं जुड़ती है । इस काल की आलोचना लक्षण ग्रंथों की व्याख्या करने से अधिक नहीं है । अधिकतर रीतिकालीन सहित्य जब दरबारों की चाकरी करने में लगा हुआ हो, तब आलोचना से ज्यादा की उम्मीद भी नहीं की जा सकती है । रीतिकाल से कुछ पहले के समय को आलोचना का आरंभिक काल कहा जा सकता है। कई विद्वानों ने हिततरंगिणी के लेखक कृपाराम को हिंदी का पहला काव्यशास्त्री माना है । लेकिन हिंदी साहित्य में काव्यरीति का सम्यक समावेश सर्वप्रथम आचार्य केशव के यहाँ दिखाई देता है । वार्ता-ग्रंथों, भक्तमाल और टीकाग्रंथों को हिंदी आलोचना का प्रवेश द्वार का जा सकता है, लेकिन इस दौर की आलोचना लक्षण, उदाहरण और टीकाओं तक ही सीमित थी ।

आधुनिक युग में पहुंचकर साहित्य, रीतिकालीन लीला-विनोद से निकलकर जन-मानस की चेतना की ओर मुड़ता है । इस समय हिंदी आलोचना भी समय और समाज की उपादेयता के अनुरूप 'नई चाल में ढली' । हिंदी आलोचना ने इस समय जो दबाव या बदलाव महसूस किया उसका सीधा सम्बन्ध युग की बदलती मनोरुचि के अनुरूप था । बालकृष्ण भट्ट के सूत्र 'साहित्य जनसमूह के ह्रदय का विकास है' को हिंदी आलोचना ने आत्मसात कर लिया । परिणाम स्वरूप आलोचना ने अपना पुराना कलेवर बदला । "आलोचना के इतिहास की बात करते हुए इस तथ्य को ध्यान में रखना बहुत जरूरी है कि आधुनिक युग में जो खास बात घटित हुई वह यह थी कि साहित्य व्यक्ति-सत्ता या वर्ग सत्ता से हटकर समाज सत्ता की वस्तु हो गया । इस युग में पत्र-पत्रिकाओं का निकलना एक बहुत बड़ी बात है । यह बात इसलिए और महत्वपूर्ण है कि ये पत्रिकाएं जिस पाठक समुदाय के लिए निकली वह राज-दरबार का सहृदय रसिक नहीं, बल्कि मध्य-वर्ग का शिक्षित पाठक था इसलिए सवाल दरबारों और गोष्ठियों में वाहवाही लूटने का नहीं रह गया, बल्कि जन-मानस की रुचि का ध्यान रखते हए उसके संदर्भ में अपनी सार्थकता सिद्ध करने का हो गया । यह साहित्य का जनतंत्रीकरण था । जाहिर है, आलोचना का दायित्व भी इसी पाठक समुदाय की रुची से सम्बद्ध हो गया"।[1] इस बदलाव का सम्बन्ध उस नए ढंग की सामाजिकता से भी है जो साहित्य के नए रूप में सामने आ रही थी । किन्तु यह बदलाव रचना के स्तर पर अधिक दिखता है, आलोचना के स्तर पर कम । आलोचना अभी भी परंपरा का मोह पूरी तरह से छोड़ नहीं पायी थी । इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी को आलोचना का संक्रमण काल कहना गलत नहीं होगा ।

आदिकाल हिंदी साहित्य के इतिहास का आरंभिक कालखंड है । आरंभिक युग की आलोचना में किसी भी आलोचक ने इस काल का स्वतंत्र मूल्यांकन नहीं किया है । आदिकालीन आलोचना के आरंभिक युग में साहित्य के इतिहास लेखन के माध्यम से ही आदिकाल का मूल्यांकन किया गया है ।

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का प्रथम प्रयास फ्रेंच विद्वान गार्सा द तासी ने किया है, इनका इतिहास ग्रंथ 'इस्त्वायर द ला लितरेत्योर हिन्दुई ए हिन्दुस्तानी' मूलतः फ्रेंच भाषा में लिखा गया है। जिसका हिंदी में अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' नाम से किया है। दो भागों में विभक्त इस पुस्तक का प्रकाशन क्रमशः 1839 ई 1847 ई में हुआ था। इस ग्रंथ में कुल 738 कवियों का संकलन किया गया है जिनमें से 72 कवि हिंदी के तथा शेष कवि उर्दू के हैं। इस ग्रंथ में लेखकों और कवियों का विवरण अंग्रेजी के वर्णक्रमानुसार किया गया है। इस ग्रंथ में न तो काल-विभाजन का कोई प्रयास है और न ही कवियों के आलोचनात्मक मूल्यांकन का कोई प्रयास किया गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस ग्रंथ को 'कवि वृत्त-संग्रह' कहकर इसका सही परिचय दिया है। इस ग्रंथ की उपयोगिता और उपलब्धि इसी बात में निहित है कि इसने हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन का प्रथम प्रयास किया है, और परवर्ती इतिहासकारों के लिए प्राथमिक सामग्री एकत्र करने का बहुमूल्य कार्य किया है।

'शिव सिंह सरोज' किसी भारतीय द्वारा लिखा गया हिंदी कविता का पहला, तथा हिंदी भाषा का दूसरा इतिहास ग्रंथ है। शिव सिंह सेंगर ने 1883 ई. में इस महत्वपूर्ण इतिहास ग्रंथ को लिखा था। इस ग्रंथ में 838 भाषा-कवियों का जीवन-परिचय तथा उनकी कविताओं के उदाहरण दिए गए हैं। गार्सा द तासी के ग्रंथ के समान इस ग्रंथ में भी कवियों के जीवन-वृत्त का संग्रह किया गया है। काल-विभाजन या काल के नामकरण का कोई प्रयास नहीं किया गया है। आलोचनात्मक मूल्यांकन के अभाव में यह ग्रंथ कवियों का जीवन संग्रह या जीवन परिचय मात्र ही बन पाया है। काल विभाजन के अभाव में इस ग्रंथ में आदिकाल केन्द्रित आलोचना या उसका मूल्यांकन जैसी कोई चर्चा नहीं है। यह ग्रंथ पूर्ववर्ती ग्रंथ की तरह आगे आने वाले इतिहास लेखकों के लिए प्राथमिक सामग्री जुटाने का महत्वपूर्ण कार्य करता है।

'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' हिंदी भाषा का प्रथम व्यवस्थित इतिहास ग्रंथ है। हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन का प्रथम प्रयास सर जार्ज ग्रियर्सन ने किया है। ग्रियर्सन ने आदिकाल को चारण काल कहते हुए उसका रचनाकाल 700 ई. से 1300 ई. तक माना है। वे इस काल-खण्ड में नौ कवियों को शामिल करते हुए उनका परिचय देते हैं। सात सौ तेरह ई. में उपस्थित उज्जैन निवासी पुष्य कवि को उन्होंने भाषा (काव्य) का प्राचीनतम कवि माना है। पुष्य कवि के बाद खुमान सिंह, केदार कवि, कुमारपाल, अनन्यदास, चन्द्र कवि, जगनिक, शारंगधर कवि और जोधराज को स्थान दिया गया है। जॉर्ज ग्रियर्सन ने इन कवियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन न करते हुए इनका विवरण प्रस्तुत किया है। चंदवरदाई का परिचय देते हुए अवश्य उन्होंने पृथ्वीराज रासो और परमाल रासो व्याख्या की है, लेकिन यह विवरण परिचयात्मक अधिक है आलोचनात्मक कम।

सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने हिंदी की विभिन्न बोलियों का ठीक-ठीक रूप और सीमा निर्धारित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। अपने ग्रंथ में उन्होंने पुरानी हिंदी भाषा में लिखने वाले कवियों को ही स्थान दिया है। जिनमें सिद्ध-नाथ-जैन कवियों और उनके साहित्य को शामिल नहीं किया गया है। जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार - "भाषा साहित्य के उन समस्त लेखकों की सूची मात्र होने के अतिरिक्त यह ग्रंथ और कुछ होने का दावा नहीं करता, जिनका नाम मैं एकत्र कर सका हूँ और जो संख्या में 952 हैं, तथा जिनमें से कुछ 70 का ही उल्लेख गार्सा द तासी ने अपने 'हिस्त्वायर द ला लितरेतयोर हिन्दुई ए हिन्दुस्तानी' में इसके पहले किया है"।[2] सुसंगत आलोचना दृष्टि के अभाव में यह ग्रंथ कवियों के जीवन-परिचय और रचना-संग्रह से आगे नहीं बढ़ पाया है। काल-विभाजन का प्रथम प्रयास इस ग्रंथ की बड़ी विशेषता है।

मिश्रबंधु विनोद हिंदी साहित्य के इतिहास का चौथा, तथा महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसकी रचना गणेशबिहारी मिश्र, शुकदेवबिहारी मिश्र तथा श्यामबिहारी मिश्र ने मिलकर सन 1913 में की थी। इस ग्रंथ के चौथे भाग का प्रकाशन सन 1934 में हुआ था। इस ग्रंथ में 4591 कवियों तथा लेखकों का परिचयात्मक उल्लेख किया गया है । इन्होने कवियों के विवरण के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर भी प्रकाश डाला है। इनकी समीक्षा पद्धति की सर्वप्रमुख विशेषता श्रेणी विभाजन है जिसके मूल में शास्त्रीयतायुक्त काव्योत्कर्ष और तुलना है। मिश्रबंधुओं ने आदिकाल को प्रारंभिक काल की संज्ञा दी है, जिसको उन्होंने पूर्व आराम्भिक और उत्तर आरंभिक भागों में विभाजित किया है। इस इतिहास-ग्रंथ में भी पूर्ववर्ती इतिहास-ग्रंथों की तरह ही कवि परिचय तो है, लेकिन उनके मूल्यांकन का कोई प्रयास नहीं किया गया है। इस ग्रंथ में काल-विभाजन के अतिरिक्त आदिकाल संबंधी किसी भी तरह के विश्लेषण का अभाव मिलता है। मिश्रबंधुओं ने इस ग्रंथ की भूमिका में ही इसकी सीमा को स्पष्ट कर दिया है। उनका उद्देश्य इतिहास लेखन न होकर हिंदी के सभी छोटे-बड़े कवियों का वृत्त संग्रह करना ही है। उनके अनुसार - "पहले हम इस ग्रंथ का नाम 'हिंदी साहित्य का इतिहास' रखने वाले थे, परन्तु इतिहास की गंभीरता पर विचार करने से ज्ञात हुआ की इसमें साहित्य इतिहास लिखने की पात्रता नहीं है"।[3] इस ग्रंथ ने भले ही कोई आलोचनात्मक मूल्यांकन न किया हो लेकिन आगे के इतिहास ग्रंथों के लिए आधार सामग्री एकत्रित करने का महत्वपूर्ण कार्य अवश्य किया है।

आदिकालीन हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक विवेचन में काल क्रमानुसार, पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी पहले आलोचक और व्याख्याता हैं। गुलेरी जी सीधे तौर पर आदिकालीन हिंदी साहित्य के न तो आलोचक हैं और न ही उन्होंने इस काल का कोई ऐतिहासिक विवेचन किया है। वे आदिकाल के अन्तर्गत हिंदी भाषा की उत्पत्ति अथवा उसके विकास के महत्वपूर्ण व्याख्याता आचार्य हैं। जिस समय हिंदी भाषा को संस्कृत की बेटी कहकर उसके स्वतंत्र अस्तित्व पर तमाम प्रश्न उठाये जा रहे थे

उस समय वे हिंदी भाषा की स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने के पक्ष में अपने तर्क देते हैं, वे हिंदी के विकास में अपभ्रंश भाषा को सहायक भाषा तो मानते हैं, लेकिन अपभ्रंश या किसी भी अन्य भाषा को हिंदी की जननी स्वीकार नहीं करते हैं। "पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिंदी से। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि शौरसेनी और भूतभाषा की भूमि ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वही पुरानी हिंदी की भूमि है"।[4]

किसी भी एक भाषा से दूसरी भाषा का जन्म नहीं होता है। एक समय में एक से अधिक भाषाएँ अस्तित्व में हो सकती हैं, और होती हैं। समस्या सिर्फ वर्चस्व और संरक्षण का होता है। जिन भाषाओं को धर्म अथवा दरबार का आश्रय मिला उनके होने के प्रमाण भी मिले। "संस्कृत ग्रंथों में लिखे रहने के कारण अपभ्रंश और पुरानी हिंदी की लेखशैली की रक्षा हो गयी जो मुखसुखार्थ लेखन शैली में बदलती-बदलती ऐसी हो जाती की उसे प्राचीन समझने का कोई उपाय नहीं रह जाता। उसी प्राचीन लेखन शैली को हिंदी की उच्चारनानुसारिणी शैली पर लिख दें (जिस प्रकार की वह अवश्य ही बोली जाती होगी) तो अपभ्रंश कविता केवल पुरानी हिंदी हो जाती है और दुर्बोध नहीं रहती"।[5]

गुलेरी जी 'पुरानी हिंदी' में हिंदी भाषा के विकासात्मक इतिहास की सारगर्भित चर्चा करते हैं। भाषा विज्ञान की दृष्टि से गुलेरी जी की यह पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण है। उत्तरकालीन अपभ्रंश रचनाओं को पुरानी हिंदी कहने के पीछे उनका स्पष्ट तर्क है कि "ऐसी कविता के लिए 'पुरानी हिंदी' शब्द जान बूझकर काम में लिया गया है। पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेलकर बनाये गए हैं। भेदबुद्धि दृढ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नहीं है। कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक ही सी थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'ब्रजभाषा' कहलाती थी वैसे अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहना अनुचित नहीं चाहे कवि के देशकाल के अनुसार उनमें कुछ रचना प्रादेशिक हो"।[6] गुलेरी जी ने प्रादेशिकता के आग्रह को हिंदी भाषा के विकास में बाधक बताया है। वे 'भाखा' और भाषा को एक मानते हुए प्रश्न उठाते हैं 'मीराबाई के पद पुरानी हिंदी कहे जाएँ या गुजराती या मारवाड़ी'? उनके अनुसार यदि छापाखाना, प्रांतीय अभिमान, मुसलमानों का फारसी अक्षरों का आग्रह न होता तो हिंदी अनायास ही देशभाषा बनने जा रही थी। हिंदी भाषा के विकास संबंधी गुलेरी जी की व्याख्या ने उस समय प्रचलित तमाम मान्यताओं को चुनौती दी।

यह दुर्भाग्यपूर्ण रहा कि गुलेरी जी की मृत्यु अल्पायु में ही हो गयी थी, उनके जीवनकाल में अपभ्रंश की कई महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित नहीं हुई थीं। 'पुरानी हिंदी' बहुत कम सामग्री के साथ लिखी गयी थी, इसीलिए विषय-विस्तार के संदर्भ में यहाँ कुछ सीमायें भी देखने को मिलती हैं : "गुलेरी जी ने तत्काल प्राप्त अपभ्रंश रचनाओं का बड़ा सुंदर विवेचन किया था, परन्तु प्रधान रूप से

हेमचन्द्र व्याकरण में उदाहरण-रूप में आये हुए दोहों तथा 'प्रबंधचिंतामणि' तथा 'कुमारपालप्रतिबोध' में संगृहीत दोहों का ही उल्लेख किया था। इन पुस्तकों के बाहर वे बहुत कम गए। शाङ्गधर-पद्धति में प्राप्त हुए कुछ अपभ्रंश वाक्यों का उल्लेख उन्होंने अवश्य किया था। उन दिनों अपभ्रंश की बहुत थोड़ी रचनाएँ उपलब्ध थीं"।[7] गुलेरी जी की आलोचना दृष्टि जिन पुस्तकों के आधार पर विकसित हुई थी, उनकी संख्या बहुत कम थी। परवर्ती आलोचकों ने अपभ्रंश की ऐसी कई पुस्तकों को खोज निकला है जो गुलेरी के समय में मौजूद थीं, लेकिन 'पुरानी हिंदी' में उनकी चर्चा नहीं की गयी है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं की "गुलेरी के जीवित काल में यद्यपि अपभ्रंश साहित्य का बहुत अधिक प्रकाशन नहीं हुआ था, तथापि यह नहीं कहा जा सकता है कि इस भाषा और साहित्य के विषय में कुछ चर्चा हुई ही नहीं थी। गुलेरी जी के प्रबंध में ऐसी कई रचनाओं के संबंध में चर्चा नहीं मिलती, जिनका प्रकाशन उनके जीवन काल में हो चुका था। संभवतः उनको समय नहीं मिला और वे प्रबंध को आगे नहीं बढ़ा सके। बीच में ही सब कुछ को छोड़कर उन्हें चल देना पड़ा"।[8]

गुलेरी जी को अपभ्रंश की अन्य प्रकाशित सामग्री देखने का मौका नहीं मिला या वे जानते हुए भी इनसे अनभिज्ञ बने रहे यह प्रश्न महत्व का नहीं है। महत्वपूर्ण है उनकी आलोचना दृष्टि जो आदिकालीन भाषा की समस्या का आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करती है। सीधे तौर पर आदिकालीन साहित्य का आलोचक न होते हुए भी, हिंदी भाषा के विकास संबंधी व्याख्या के चलते पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी इस काल के महत्वपूर्ण आलोचक हैं। 'पुरानी हिंदी' ने हिंदी भाषा के विकास की नई व्याख्याओं को जन्म देने का सार्थक कार्य किया है। उनकी इस व्याख्या से पहले तक हिंदी और अपभ्रंश के साहित्य को अलग-अलग देखा जाता था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास-ग्रंथ में भी यह अलगाव स्पष्ट नजर आता है। पं गुलेरी की अवधारणा ने हिंदी के विकास में अपभ्रंश साहित्य की महत्ता की स्थापना की और इन दोनों भाषाओं में समता के सूत्र स्थापित करते हुए अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहा है। इस अर्थ में पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी आदिकालीन साहित्य के महत्वपूर्ण व्याख्याता और प्रासंगिक आलोचक हैं।

राहुल सांकृत्यायन शब्द और कर्म की एकता वाले साहित्यकार, विचारक हैं। वे इतिहास लेखक होने के साथ-साथ इतिहास-निर्माता भी हैं। वे साधारण जनता के लिए सिर्फ लिखते ही नहीं हैं, बल्कि सामाजिक-राजनीतिक संघर्षों में हिस्सा भी लेते हैं। राहुल सांकृत्यायन भारतीय नवजागरण काल के ऐसे विलक्षण व्यक्ति हैं, जो जीवन और चिंतन दोनों क्षेत्रों में आजीवन सक्रिय और यायावर बने रहे। वे चिन्तक, दार्शनिक, इतिहासकार, स्वतंत्रता सेनानी, अध्यापक, साहित्यकार, राजनीतिज्ञ, भाषाविज्ञ आदि सब-कुछ एक साथ हैं। उनकी इतिहास दृष्टि के निर्माण में भारतीय स्वाधीनता आंदोलन, प्रगतिशील आंदोलन और विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन की महत्वपूर्ण

भूमिका रही है। वे इन आंदोलनों का हिस्सा भी बने और इनको अपनी इतिहास दृष्टि के निर्माण में शामिल भी किया है। इतिहास-यात्रा करते हुए वे कई रूपों में सामंतवादी साम्राज्यवादी मूल्यों का विरोध करते हैं। उन्होंने जीवन भर मानवतावादी और जनवादी मूल्यों का समर्थन करते हुए साहित्य को समाज की सापेक्षता में देखने समझने की वकालत की है। उनकी चिंता के केन्द्र में समय और समाज को समझने की चिंता विद्यमान है, साथ ही वे भविष्य की दिशा निर्धारित करने के लिए प्रयासरत रहते हैं। उनके अनुसार अतीत को समझे बिना इतिहास और वर्तमान को समझना असंभव है, इसीलिए वे जीवन भर सतत यात्रायें करते रहे। उनके विपुल लेखन का केन्द्रीय बिंदु इतिहास है, उसके इर्द-गिर्द ही उनका संपूर्ण लेखन घूमता रहता है। उन्होंने रचनात्मक लेखन, हिंदी के प्राचीन रचनाकारों और रचनाओं के विश्लेषण, हिंदी और उसकी लोक भाषाओं के विवेचन, भारत और अन्य मध्य एशियाई देशों के इतिहास के कुछ अध्यायों के विवेचन आदि विभिन्न लेखकीय कर्मों के द्वारा इतिहास की व्यापक और बहुआयामी यात्रा की है।

राहुल सांकृत्यायन की आलोचना-दृष्टि में इतिहास की गहरी समझ होते हुए भी उन्होंने हिंदी साहित्य का कोई इतिहास ग्रंथ नहीं लिखा है। वे आदिकालीन हिंदी साहित्य के व्याख्याता आलोचक भी नहीं रहे हैं। लेकिन वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा नकारे गए सिद्ध साहित्य का विस्तृत विश्लेषण करते हुए सिद्ध सरहपा को आदिकाल का पहला कवि मानते हैं। वे आदिकाल की समय-सीमा को लगभग पाँच सौ साल पीछे लेकर जाते हुए, आठवीं से तेरहवीं शताब्दी के काल खण्ड को सिद्ध-सामंत काल की संज्ञा देते हैं। 'मध्यकालीन काव्यधारा' नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने इस काल का विस्तृत विश्लेषण किया है। आदिकाल की दो प्रधान प्रवृत्तियों को केन्द्र में रखते हुए उन्होंने इस काल को सिद्ध-सामंत काल कहा है। सिद्ध से तात्पर्य यहाँ सिर्फ बौद्धों की साधना पद्धति से ही नहीं है, उस काल में सिद्धियाँ धार्मिक रचनाओं की प्रमुख विशेषता बन चुकी थीं। बौद्ध साधकों की कविता में सिद्धियाँ उसी प्रकार प्रेरणा का विषय थीं, जिस प्रकार परवर्ती काल में भक्ति प्रेरणा का प्रमुख आधार बनी थी। 'सामंत' शब्द तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का प्रतीक है। केन्द्रीय सत्ता के विखंडन के साथ ही सामंतों के वर्ग का तेजी से उभार होता है। सामंत कवियों के आश्रयदाता ही नहीं उनकी कविताओं के नायक भी थे।

राहुल सांकृत्यायन की आलोचना-दृष्टि, सामंतों के समानांतर सिद्धों-नाथों के साहित्य को भी महत्वपूर्ण मानती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा सिद्ध साहित्य को 'शिष्ट साहित्य' की चौहद्दी से बाहर कर देने के उत्तर में उनका तर्क है कि - "शायद कविता के रूढ़ि-बद्ध संकीर्ण लक्षण को लेने पर कबीर की तरह सिद्धों की कविता भी कविता न गिनी जाये या कम से कम अच्छी कविता न समझी जाये। लेकिन लाखों नर नारियों को उनमें रस, एक तरह की आत्म तृप्ति मिलती थी और आज भी उस तरह की मनोवृत्ति रखने वाले कितने ही पाठकों को वह उतनी ही रुचिकर मालूम होती है

इसलिए उन्हें कविता मानना ही पड़ेगा। यह ठीक है, उनकी भाषा सीधी-सादी है समझने में बहुत सुगम है, लेकिन यह कविता का कोई दोष नहीं है"।[9] यह उनकी आलोचना-दृष्टि की व्यापकता और बहुवादिता को दर्शाती है। यह नामकरण साहित्य और राजनीति की संपूर्णता को उद्घाटित करता है। नामकरण संबंधी उनकी अवधारणाओं का विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया जायेगा।

जो विद्वान हिंदी साहित्य का उद्भव पृथ्वीराज रासो से मानते हैं, राहुल सांकृत्यायन ने उनकी अवधारणा को ख़ारिज करते हुए हिंदी साहित्य की शुरुआत सिद्ध सरहपा से मानी है। वे सरहपा को आदिकाल का आदि कवि घोषित करते हैं। रासो साहित्य जैसे आभिजात्यवादी साहित्य के समानांतर सिद्ध साहित्य की वकालत करना वास्तव में आदिकाल की सीमा को एक नई दिशा में विस्तारित करना है। वे अपनी किताब 'दक्खिनी हिंदी काव्य-धारा' के माध्यम से हिंदी साहित्य की एक और दिशा का विस्तार करते हैं। आदिकाल हिंदी भाषा का साहित्य की भाषा के रूप में अस्तित्व ग्रहण करने का भी काल है। हिंदी भाषा के विकास और संस्कृत, पालि, प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा से हिंदी के सहसंबंध पर राहुल सांकृत्यायन ने गहन अध्ययन और विश्लेषण किया है। साहित्य संस्कृति की दुनिया में वे समाज निर्माता लेखक हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में उनके जैसा लोक और शास्त्र की अनुभूतिपरक समझ रखने वाला कोई दूसरा लेखक नहीं है। राहुल सांकृत्यायन एक जनवादी विचारक रहे हैं। सत्य की खोज के प्रति तीव्र आग्रह, अदम्य साहस और विद्रोह, गहरी संवेदनशीलता, देश-प्रेम, गहन अध्यवसाय से प्राप्त अनुभव की व्यापकता, मानव, लोक समाज की सूक्ष्म पहचान, पुरातत्व, इतिहास, दर्शन और राजनीति के प्रति विशेष अभिरुचि तथा इन सबसे उत्पन्न विश्वदृष्टि उन्हें अपने समय से बहुत आगे का लेखक घोषित करती है। राहुल सांकृत्यायन का आलोचनात्मक लेखन कई अर्थों में आज भी महत्वपूर्ण तथा प्रासंगिक है। उनकी आलोचना-दृष्टि में भारतीय साहित्य, समाज और संस्कृति तीनों आयामों के अतीत, वर्तमान और भविष्य की चिंता साफ़ तौर पर देखी जा सकती है।

मोतीलाल मेनारिया ने आदिकालीन भाषा के संदर्भ में 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' नामक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक के द्वारा वे राजस्थानी भाषा और उसके साहित्य के ऐतिहासिक महत्व का बखान करते हैं। वे डिंगल भाषा में लिखे गए वीरगाथात्मक साहित्य को हिंदुत्व की अस्मिता का प्रतीक मानते हुए कहते हैं कि - "राजस्थान का डिंगल साहित्य, जो वस्तुतः हिन्दू जाति का प्रतिनिधि साहित्य है और उसमें हिन्दू संस्कृति व हिन्दू गौरव की झलक सुरक्षित है, यहाँ के साहित्यिकों की अपनी एक अपूर्व देन है"।[10] मोतीलाल मेनारिया की आलोचना-दृष्टि में राजस्थानी भाषा के प्रति उनका अगाध प्रेम प्रदर्शित होता दिखाई देता है। राजस्थानी भाषा के महत्व को प्रतिपादित करते हुए वे उसको हिंदी की बोली न मानते हुए एक स्वतंत्र भाषा मानते हैं। उनके अनुसार हिंदी स्वतंत्र भाषा न होकर सात-आठ भाषाओं का एक समुदाय है, जिसके अंतर्गत

खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि भाषाओं के साथ राजस्थानी भी शामिल है। "हिंदी के विद्वानों में सबसे अधिक भ्रान्ति राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति के विषय में फैली हुई है। कुछ इसे हिंदी की जननी और कुछ हिंदी की विभाषा (बोली) बतलाते हैं। परन्तु ये दोनों ही धारणाएं भ्रमात्मक हैं। वास्तव में न तो राजस्थानी हिंदी की जननी है और न हिंदी की विभाषा। ये दो स्वतंत्र भाषाएँ हैं। ... अतः राजस्थानी को हिंदी समुदाय की भाषा अथवा हिंदी से संबंधित भाषा मानना एक बात है, और हिंदी की जननी अथवा विभाषा बतलाना दूसरी बात"।[11] उनके अनुसार राजस्थानी भाषा को इतिहास लेखकों ने उचित स्थान नहीं दिया है। जिस वजह से यह भाषा और उसमें लिखा गया साहित्य क्षेत्र विशेष तक सीमित रह गया है। वे राजस्थानी भाषा को स्वतंत्र भाषा मानकर उसका मूल्यांकन करने की हिमायत करते हैं।

राजस्थानी भाषा का स्वतंत्र मूल्यांकन करने के बाद वे डिंगल साहित्य की आलोचनात्मक विवेचना करते हैं। डिंगल साहित्य राजस्थान की संस्कृति और संस्कारों का जीवंत प्रतिबिम्ब है। निश्चित रूप से इस साहित्य में अधिकतर वीरगाथात्मक और दरबारी साहित्य का सृजन हुआ है, किन्तु इसके साथ-साथ इस भाषा में लौकिक साहित्य भी लिखा गया है। "साहित्य किसी देश या जाति के काल विशेष के विचारों और भावों का प्रतिबिम्ब होता है। यह उक्ति डिंगल साहित्य पर भी ठीक-ठाक घटती है। डिंगल साहित्य में राजस्थान के सैकड़ों वर्षों के संस्कार, उसका संघर्षमय लोकजीवन तथा उसका इतिहास प्रतिबिम्बत है और उसमें उसकी भावनाएं व्यक्त हुई हैं"।[12] इस साहित्य में रानियों पटरानियों के अट्टहास, नायक-नायिका के मधुर मिलन, राज-महलों के भोग-विलास के वर्णन के साथ-साथ देश भक्ति, जातीय गौरव के बेमिसाल संदेश मौजूद हैं। यह जीवन को प्रतिबिंबित करने वाला साहित्य है। यह ऐसे वीरों का साहित्य है जिन्होंने रण क्षेत्रों में अपने जीवन की आहुति दी है। मोतीलाल मेनारिया डिंगल साहित्य को साहित्यिक ही नहीं ऐतिहासिक दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। बल्कि यह कहा जाये कि डिंगल साहित्य में इतिहास संबंधी साहित्य का ही प्राधान्य है, तो यह गलत नहीं होगा। उनके अनुसार - "सहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ ही साथ यह साहित्य इतिहास की दृष्टि से भी परम उपयोगी है। पाश्चात्य विद्वान ने भारतीय साहित्य में यह कमी बतलाई है कि इसमें इतिहास विषयक सामग्री का एक तरह से अभाव है। परन्तु उनका यह आक्षेप डिंगल साहित्य पर लागू नहीं होता। डिंगल साहित्य उनके इस कथन का अपवाद है। इतिहास विषयक सामग्री डिंगल में मिलती है और प्रचुर मात्रा में मिलती है। बल्कि कहना चाहिए डिंगल में इतिहास संबंधी सामग्री ही का प्राधान्य है"।[13] डिंगल साहित्य की ऐतिहासिकता का बखान करते हुए मेनारिया जी इस बात को पूरी तरह से नजरंदाज कर देते हैं कि आदिकालीन चारण कविता के साथ ऐतिहासिकता ही सबसे बड़ी समस्या है। चारण राजपूत राजाओं की स्वामिभक्त जाति है। ये राज दरबारों के साथ राजाओं के युद्ध क्षेत्रों में उनका साथ देते

थे। इन जातियों ने राजाओं के सुख-दुःख, युद्ध और शांति, निराशा और आशा में राजाओं का साथ दिया है। इनकी वीरता से भरी कविताओं ने कायरों में भी जीवन का संचार किया है। इन कविताओं में भोग विलास के साथ-साथ जीवन और कर्म का बेहतरीन समायोजन हुआ है। राजा जितना रसिक है, उससे अधिक वीर है। नायिकाएं भी राजाओं के पौरुष पर मोहित होने वाली हैं। दरबारी साहित्य की इन्हीं विशेषताओं के आधार पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस साहित्य को आदिकाल की प्रधान प्रवृत्ति माना है। वे विशेष प्रवृत्ति के आधार पर आदिकाल को 'वीरगाथाकाल' कहते हैं। इस संदर्भ में मोतीलाल मेनारिया का तर्क है कि - "इसके अतिरिक्त ये रासो ग्रंथ, जिनको वीरगाथाएं नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीरगाथा काल की कल्पना की गयी है, राजस्थान के किसी समय विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को सूचित नहीं करते। केवल चारण, भाट आदि वर्ग के कुछ लोगों की जन्मजात मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। ... यदि इनकी रचनाओं के आधार पर कोई निर्णय किया जाये, तब तो वीरगाथाकाल राजस्थान में आज भी ज्यों का त्यों बना है, क्योंकि राजा महाराजाओं अथवा उनके पूर्वजों की कीर्ति के ग्रंथ आदि लिखने का काम ये लोग आज भी उसी उत्साह के साथ पाठ कर रहे हैं, जिस उत्साह से पहले किया करते थे। परन्तु राजस्थान के वातावरण तथा इन जातियों से अपरिचित लोगों को यह बात समझ लेना कठिन है"।[14]

आचार्य शुक्ल ने 'वीरगाथा काल' नामकरण के पक्ष में जिन बारह रचनाओं को प्रस्तुत किया है उनके साथ प्रामाणिकता की समस्या है। इन रचनाओं में अधिकतर अप्राप्य हैं, और कुछ की संरचना आदिकाल के बाद की जान पड़ती है। जो विद्वान आदिकालीन रासो काव्यों को प्राचीन बताते हुए रचयिताओं द्वारा प्रयुक्त वर्तमानकालिक क्रिया का हवाला देते हैं, उनके तर्क का उत्तर देते हुए मोतीलाल मेनारिया कहते हैं कि "इन ग्रंथों को प्राचीन बतलाते समय एक दलील यह दी जाती है कि इनके रचयिताओं ने इनमें सर्वत्र वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है, और इससे उनका अपने चरित्र नायकों का समकालीन होना सिद्ध होता है। परन्तु यह भी एक भ्रान्ति है। यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करने वाले कवि समसामयिक ही हों। यह तो काव्य रचना की एक शैली मात्र है। काव्य में वर्णित घटनाओं को सत्य रूप देने के लिए कवि प्रायः ऐसा किया करते हैं। अनेक ऐसे ग्रंथ मिलते हैं जिनके कर्ता समकालीन न थे, पर जिन्होंने वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है। राजस्थान में चारण-भाट आज भी जब प्राचीन काल के वीर पुरुषों पर ग्रंथ तथा फुटकर गीत आदि लिखते हैं, तब वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करते हैं। वारहठ केसरिसिंह-कृत 'प्रताप-चरित्र' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है, जो सं. 1992 में लिखा गया है"।[15] कालांतर में सत्ता परिवर्तन के साथ-साथ राजपूत जातियों का वर्चस्व कम होता गया फलतः चारण जातियों का पतन होता गया। मोतीलाल मेनारिया कहते हैं कि - "प्राचीन काल में अधिकांश

चारण राजदरबारी हुआ करते थे और कविता करके अपना पेट भरते थे। परन्तु आधुनिक दुनिया में इस तरह के धंधों के लिए अब कोई स्थान नहीं रह गया है। ... राजपूतों के साथ चारण जाति का भी ह्रास हुआ है। इस समय इस जाति में न तो अच्छे कवि हैं, न तो विद्वान" ।[16] परिणामस्वरूप वीरगाथाओं के रूप में प्रचलित दरबारी कविता का चलन धीरे-धीरे कम होता गया। हालाँकि रीतिकाल में आकर कविता एक बार फिर दरबार का रुख करती है, लेकिन यह समय राजाओं के भोग-विलास के बखान का अधिक था, पौरुष बखान का कम। बहरहाल, आदिकाल के सम्बन्ध में मोतीलाल मेनारिया की आलोचना-दृष्टि का मूल्यांकन करते हुए हम देखते हैं कि उन्होंने इस काल की भाषा या साहित्य के स्वतंत्र मूल्यांकन का प्रयास न करते हुए राजस्थानी भाषा की स्थिति, और उसके साहित्य का मूल्यांकन किया है।

रामकुमार वर्मा हिंदी साहित्य के आदिकाल के महत्वपूर्ण आलोचक हैं। उन्होंने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' नामक ग्रंथ में आदिकाल के काल निर्धारण और नामकरण संबंधी महत्वपूर्ण मुद्दों की समीक्षा की है। अपने इतिहास ग्रंथ में इन्होंने 693 ई. से 1693 ई. तक की कालावधि का वर्णन किया है। साहित्य के इतिहास लेखन में आलोचनात्मक दृष्टि की महत्ता बताते हुए वे कहते हैं कि - "साहित्य का इतिहास आलोचनात्मक शैली से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अतः ऐतिहासिक सामग्री के साथ कवियों और साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचना करना मेरा दृष्टिकोण है" ।[17] डॉ वर्मा ने राजनीतिक परिस्थितियों को आदिकाल के काल विभाजन का मूल आधार मानते हुए इस काल का 'काल-विभाग' निर्धारित किया है।

भारत में इस्लाम का आगमन सातवीं शताब्दी से आरम्भ हो गया था, किन्तु देश की विचारधारा पर इसका प्रभाव ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व नहीं हुआ। इस्लाम का प्रभाव पड़ने के कारण ही ग्यारहवीं शताब्दी में राजनीतिक परिस्थितियों में भारी विचलन हुआ। इस समय भारत का सांस्कृतिक केंद्र राजस्थान था इसीलिए इस काल में राजाओं की सर्वाधिक शौर्यगाथाएं राजस्थान में ही रची गयीं। इन गाथाओं के आधार पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल को 'वीरगाथाकाल' कहा है। यह समय राजपूत राजाओं के उत्कर्ष-अपकर्ष का समय था। दो भिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक द्वंद्व का यह समय चौदहवीं शताब्दी तक लगातार बना रहा। इसी कारण उन्होंने आदिकाल को दो भागों में विभाजित करके उसका नामकरण किया है। सातवीं से दसवीं शताब्दी को उन्होंने 'संधिकाल' कहा है। जो साहित्य के साथ-साथ भाषा की भी संधि अवस्था का सूचक है। दसवीं शताब्दी के बाद जब इस्लाम का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ना आरम्भ हुआ इस समय को उन्होंने 'चारण काल' कहा है।

राजनीतिक दृष्टि से यह समय आंतरिक कलह और बाह्य आक्रमणों का समय था। समाज लगातार युद्ध की विभीषिकाएँ झेल रहा था। ऐसे में राजाओं में शौर्य जगाने वाली कविताओं की

उन्नति की सम्भावना सर्वाधिक थी । चारण कवि वीरता की ऐसी दर्पोक्तियाँ कहते थे की सेना हँसते-हँसते अपने प्राण न्योछावर करने को तैयार हो जाती थी । डॉ रामकुमार वर्मा के काल निर्धारण और नामकरण संबंधी तर्कों की विस्तृत व्याख्या तीसरे अध्याय के अंतर्गत की गयी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसी बात को लक्ष्य करते हुए कहा है कि "जिस समय से हमारे हिंदी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था । बाकी सब बातें पीछे पड़ गयी थीं"।[18] डॉ वर्मा की काल-निर्धारण और नामकरण संबंधी व्याख्या के मूल में उनकी विधेयवादी आलोचना-दृष्टि है, जो कार्य-कारण समबन्ध पर आधारित है। उनके काल विभाग के मूल में इस्लाम का आगमन और उसका भारतीय जनमानस पर पड़ने वाला प्रभाव है।

आदिकाल के साथ-साथ वे भक्ति आंदोलन की व्याख्या भी इसी परिप्रेक्ष्य में करते हैं। उनके अनुसार - "चौदहवीं शताब्दी के बाद मुसलमानों ने भारत में अपना राज्य स्थापित कर अपने धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया। अब संस्कृति का केंद्र राजस्थान से हटकर मध्यदेश हो गया। हिन्दू धर्म की प्रतिद्वंद्विता में इस्लाम जब खड़ा हुआ, तो जनता के ह्रदय में अशांति के साथ-साथ क्रांति भी जागृत हुई। इस धार्मिक व्यवस्था के फलस्वरूप धर्म की जो भावना ईसा से पूर्व शताब्दियों से परंपराओं के रूप में चली आ रही थी, वह चारों ओर से आत्म-रक्षा और शत्रु विरोध के रूप में उठी तथा धर्म की मर्यादा में - धर्म की रक्षा में - अनेकों संदेश कवियों की लेखनियों से निकल पड़े। यह क्रांति सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक आतंक के साथ गूंजती रही"।[19] रीतिकाल के विषय में वे स्पष्ट कहते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी तक आते-आते हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों को आत्मसात कर लिया गया था । परिणाम स्वरूम दोनों जातियों में समन्वय स्थापित हो गया । दोनों जातियों में मेल हो जाने से समाज में शांति, आनंद और विलास की प्रवृत्तियां जन्म लेने लगी । "श्रृंगार रस से सारा समाज ओत-प्रोत हो गया, यद्यपि वीरत्व के चिन्ह कभी-कभी परिस्थितियों के कारण और कभी रस भेद के रूप में दीख पड़ते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक श्रृंगार की यह अबाध धारा देश को विलासिता की गोद में सुलाए रही"।[20]

रीतिकाल तक आते-आते इस्लाम का भारतीय समाज में विलय हो चुका था, इसलिए डॉ रामकुमार वर्मा ने आधुनिक काल की पृष्ठभूमि में अंग्रेजों का प्रभाव स्वीकार किया है। उनकी कार्य-कारण आधारित आलोचना-दृष्टि के कारण वे साहित्य के कालखंडों के विभाजन और नामकरण के मूल में पहले इस्लाम और फिर अंग्रेजों का प्रभाव स्वीकार करते हैं। अंग्रेजों के आने के फलस्वरूप भारत का सांस्कृतिक केंद्र पूरा भारत हो गया। सांस्कृतिक केंद्र का विस्तार होने से साहित्य की गद्य विधाओं का विस्तार हुआ, इसके साथ ही साहित्य के विषयों और भावों का विस्तार हुआ । नीतिकाव्यों और राष्ट्र भावना का सूत्रपात इसी युग में हुआ। डॉ वर्मा के अनुसार अग्रेजों के आने के बाद भारत में धार्मिक भावनाओं की आधुनिक दृष्टि से व्याख्या होने लगी । हिंदी साहित्य के

आरंभिक तीनों कालों के मूल में इस्लाम का आगमन , उसकी प्रतिक्रिया, और उसका समायोजन दिखया है। और आधुनिक काल के सूत्रपात या उसके प्रवृत्तिगत विकास का श्रेय वे अंग्रेजों को देते हैं। उनके अनुसार अंग्रेजों के आने के बाद ही भारत में धार्मिकता की नवीन व्याख्या आरम्भ हुई। "विक्रम की बीसवीं सदी के प्रारंभ में अंग्रेजों का प्रभाव विशेष रूप से सामने आया। यद्यपि अंग्रेजों का प्रवेश तो भारत में विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी से ही हो गया था, तथापि साहित्य और संस्कृति के निर्माण में उनका कोई हाथ नहीं था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही उन्होंने अपनी सभ्यता का भारत में विस्तार किया। अब संस्कृति का केंद्र समस्त भारत हो गया और साहित्य का प्रभाव जीवन के प्रत्येक भाग में होने लगा। विविध विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं और जीवन की यथार्थ समालोचना की ओर साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित हुआ"।[21]

भाषा आदिकाल के मूल्यांकन की महत्वपूर्ण अंग है। यही कारण रहा है की आदिकाल का कोई भी आलोचक इस काल की भाषा-समस्या से अछूता नहीं रह पाया है। इस काल में दो भिन्न भाषाओं का आदान-प्रदान होता है। और इसी काल खंड में साहित्यिक भाषाओं के समानांतर लोक भाषाओं की प्रतिष्ठा होती है। आदिकाल में भाषा की संक्रामक अवस्था या उसकी समस्या पर इस युग का मूल्यांकन करने वाले हर आलोचक ने अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। डॉ रामकुमार वर्मा ने आदिकाल का नामकरण दो भागों में बाँट कर किया है, जिसमें पहला भाग 'संधिकाल' भाषा की अवस्था का सूचक है। "हिंदी साहित्य के विकास काल को संधि काल कहना अधिक उपयुक्त है। इस काल में अपभ्रंश की गौरवशालिनी कृतियों के बीच में भाषा विषयक वह सरलता दृष्टिगोचर होने लगी थी जो जनता की स्वाभाविक मनोवृत्तियों से प्रेरित होकर अपने को साहित्यिक विधानों से मुक्त करती है" ।[22] भाषा साहित्यिक जड़ता से मुक्ति का रास्ता स्वयं ही खोज लेती है। वह अपनी चेतना सरल भाषा में कहने की पक्षधर है इसीलिए साहित्यिक भाषा में जड़ता आते ही वह स्वाभाविक बोली में अपनी भावाभिव्यक्ति करती है। किन्तु भाषा का यह अलगाव एक साथ नहीं हो जाता है, यह युगों तक अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे घटित होती है और अपने लिए साहित्यिक मान्यता प्राप्त कर लेती है। "अतः अपने विकास में साहित्य ऐसे स्थल पर आता है जहाँ दो भाषाओं या दो शैलियों में संधि होती है और साहित्य के इस काल को संधिकाल कहना ही अधिक समीचीन है" ।[23]

डॉ वर्मा ने संधिकाल के अंतर्गत सिद्धों और नाथों के साहित्य का मूल्यांकन किया है। अपभ्रंश जिस समय अपनी साहित्यिक शैली में रूढ़ हो गयी थी उस समय सिद्धों और नाथों के साहित्य में जनता से सीधे संवाद करने की गरज से नवीन प्रयोग हुए। सिद्धों-नाथों की रचनाओं में पाई जाने वाली भाषा यह नए प्रयोगों वाली ही है। सिद्धों-नाथों की जिस भाषा को विद्वानों ने संध्या भाषा कहकर उसके गूढ़ अर्थ खोजने का जबरदस्ती प्रयास किया है उस भाषा के विषय में रामकुमार वर्मा

का तर्क है कि - " मेरे विचार से तो संध्या भाषा का सीधा-सादा अर्थ यही है कि वह भाषा जो अपभ्रंश के संध्याकाल या 'समाप्त होने वाले काल' में लिखी गयी। सिद्धों की भाषा निश्चित रूप से अपभ्रंश के क्रोड़ से निकलती हुई जनता की आधुनिक भाषा के निर्माण में अग्रसर होती है। इसलिए इस भाषा से अपभ्रंश भाषा की अंतिम अवस्था ज्ञात होती है। 'सांध्यकाल' का प्रयोग किसी अवस्था के अंतिम भाग की सूचना देने के लिए होता ही है , अतः इस शब्द को साधारण अर्थ में ही लेना चाहिए। विशेषकर सहजयान के सिद्धों के विचारों के अनुरूप मुझे इस शब्द का सहज अर्थ लेना ही युक्तिसंगत जान पड़ता है। व्यर्थ की खींचतान या गूढार्थ खोजने की चेष्ठा साहित्य और भाषा के क्षेत्र में सत्य का समर्थन नहीं करती" ।[24]

डॉ रामकुमार वर्मा ने आदिकालीन हिंदी साहित्य के नामकरण के दूसरे भाग को 'चारण काल' कहा है। चारण कविता को डिंगल साहित्य के नाम से भी जाना जाता है। डिंगल एक विशेष रूप है, जिसका अर्थ है 'गड़बड़' (अनियमित), अर्थात जो ऊंचे कवित्व के अनुसार नहीं है। संभवतः जो असंस्कृत है। डिंगल का दूसरा अर्थ है डमरू के समान ध्वनि करने वाली कविता जो वीरों के ह्रदय में उत्साह और क्रोध भर दे, वही डिंगल कविता है । चारण काल में राजनीतिक अस्थिरता, पारस्परिक विग्रह और 'मुसलमानी आतंक' ने साहित्य को प्रभावित किया। राजस्थान राजनीति का प्रधान केंद्र था इसीलिए यहाँ भाटों और चारणों की लेखनी गूँज उठी। इन चारणों ने अपने नायक की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए ये कवि विपक्षी की हीनता का नग्न वर्णन करते थे। इनके कथानक का रूप विस्तार अधिकतर कल्पना आधारित ही होता था । डॉ वर्मा आदिकाल के साहित्यिक मूल्यांकन में वीर गाथाओं के अध्ययन को महत्वपूर्ण मानते हैं। किन्तु इन ग्रंथों की अनुपलब्धता इनके सटीक मूल्यांकन में बाधा उत्पन्न करती है। इस बात को लक्ष्य करते हुए वे कहते हैं कि "इस काल के ग्रंथों की प्रतियाँ दुष्प्राप्य हैं, अतएव उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। या तो इस काल एक ग्रंथ अधिकतर मौखिक रूप में हैं या उनके निर्देश मात्र ही मिलते हैं। ... भाषा के विकास के अनुसार या तो उनका रूप ही बदल गया है अथवा उनमें बहुत से प्रक्षिप्त अंश मिला दिए गए हैं। अतएव उनकी सच्ची समालोचना एक प्रकार से असंभव है। इन ग्रंथों की महत्ता इतनी ही है कि इन्होने हमारे साहित्य के आदि भाग का निर्माण किया और भविष्य की रचनाओं के लिए मार्ग दर्शन किया। यदि ये साहित्यिक सौन्दर्य से नहीं तो भाषा विकास की दृष्टि से तो अवश्य ही महत्वपूर्ण हैं।[25] दसवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक हिंदी साहित्य की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति रहने के बाद चौदहवीं शताब्दी में इसका विकास क्षीण होने लगा। इसका प्रधान कारण राजनीतिक परिस्थितियों में होने वाला परिवर्तन है। राज्य क्षीण होने के कारण चारण कवियों का महत्व भी लगातार कम होता गया। राजनीतिक परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों ने साहित्यिक प्रवृत्तियों को प्रभावित किया, परिणामस्वरूप आदिकाल का समापन और भक्तिकाल के उदय की रूपरेखा

तैयार होने लगी । आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समान डॉ राकुमार वर्मा ने भी भक्तिकाल को हताश हिन्दू जाति की प्रतिक्रियास्वरूप देखा । उनके अनुसार - "मुसलमानी धर्म की कट्टरता हिंदुत्व के विपक्ष में होकर जनता के हृदय में असंतोष और विद्रोह का बीज वपन कर रही थी, हिन्दुओं के पास शक्ति नहीं थी, अतएव वे मुसलमानों से युद्ध नहीं कर सकते थे । उन्हें अपमान का दंड नहीं दे सकते थे । ऐसी परिस्थिति में वे केवल ईश्वर से अपनी रक्षा की प्रार्थना भर कर सकते थे । उन्होंने तलवार के बदले माला का आश्रय लिया और वे अपने लौकिक जीवन में आध्यात्मिक तत्व खोजने लगे अब वे सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाने के लिए ईश्वर की शरण में जाने लगे और दुष्टों को दंड देने के लिए अपनी शक्ति पर अवलंबित रहने की अपेक्षा ईश्वरीय शक्ति पर निर्भर रहने की भावना करने लगे । इस प्रकार ओज और गौरव के तत्वों से निर्मित वीर रस, करुण और दयनीय भावों से ओतप्रोत होकर शांत और श्रृंगार रस में परिणत होने लगा। इस प्रकार भावों में परिवर्तन हुआ" ।[26]

डॉ रामकुमार वर्मा ने इतिहास लेखन की विधेयवादी दृष्टि को अपनाते हुए 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखा है । इसलिए वे हर काल खंड के नामकरण और उसकी प्रवृत्तियों के मूल में पहले इस्लाम और आधुनिक काल में अंग्रेजों को कारण मानते हैं । साहित्य का इतिहास लिखने के क्रम में आदिकाल को छोड़कर डॉ वर्मा अधिकतर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यताओं के साथ दिखाई देते हैं । आदिकाल के मूल्यांकन में इनकी स्थापना महत्वपूर्ण है । वे वीरगाथाओं के समानांतर धार्मिक साहित्य की महत्ता को स्पष्ट करते हैं । धार्मिक साहित्य का मूल्यांकन वे साहित्य के साथ-साथ भाषा की संधि अवस्था के रूप में करते हैं, जो कि साहित्य के आरंभिक काल को समझने की एक महत्वपूर्ण कुंजी है ।

ख. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी –

आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आदिकालीन हिंदी काव्यालोचना के आधार स्तम्भ हैं । इन दोनों आलोचकों की स्थापनाओं के बिना आदिकाल का इतिहास लेखन या उसका व्याख्यात्मक मूल्यांकन अधूरा है । कालक्रमानुसार आचार्य शुक्ल का रचनाकाल आचार्य द्विवेदी से पहले का है । इन दोनों इतिहासकारों, आलोचकों ने हिंदी साहित्य की तमाम जिज्ञासाओं के यथोचित समाधान प्रस्तुत किये हैं । इसीकारण परवर्ती काल में लिखे गए सभी इतिहास ग्रंथों ने इन दोनों आलोचकों की लेखनी को आधार सामग्री के रूप में ग्रहण किया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' लिखकर साहित्यिक प्रवृत्तियों का समग्र मूल्यांकन प्रस्तुत किया है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य का कोई इतिहास ग्रंथ तो प्रस्तुत नहीं करते

हैं, लेकिन वे अपनी आलोचना दृष्टि के माध्यम से साहित्य के अलग-अलग और महत्वपूर्ण मुद्दों की सारगर्भित आलोचना करते हैं । अध्ययन की सुविधा और आवश्यकता के अनुसार हम यहाँ आदिकाल को केन्द्र में रखकर ही इन आलोचकों की आलोचना दृष्टि का अध्ययन करेंगे। आदिकाल की आलोचना के क्रम में इन दोनों आलोचकों की अपनी-अपनी दृष्टि और विजन हैं।

इन दोनों आलोचकों ने एक ही मुद्दे पर अलग-अलग व्याख्याएं दी हैं, कई बार यह अलगाव विरोध के रूप में भी सामने आता है। फिर भी हिंदी साहित्य का यदि कोई मुकम्मल इतिहास ग्रंथ हो सकता है तो वह आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचनात्मक दृष्टियों को मिलाकर ही बनेगा। इन दोनों आलोचकों के इतिहास ग्रंथ परस्पर विरोधी होते हुए भी एक दूसरे के पूरक हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का पहला व्यवस्थित इतिहास ग्रंथ लिखा है, और इसी ग्रंथ में उन्होंने आदिकालीन साहित्य संबंधी अपनी आलोचनात्मक स्थापनाएं दी हैं । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सीधे तौर पर कोई इतिहास ग्रंथ तो नहीं लिखा है, लेकिन उन्होंने हिंदी साहित्य की ऐतिहासिकता को केन्द्र में रखकर ही अपनी आलोचनात्मक व्याख्याएं दी हैं। इन दोनों आलोचकों के केन्द्र में साहित्य का इतिहास ही है। इतिहास और आलोचना आपस में इतने अंतरसम्बन्धित होते हैं कि इनको एक दूसरे के आलोक में ही पूरी तरह से समझा जा सकता है ।

आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि नैतिकतावादी दृष्टिकोण अपनाते हुए सिद्धों-नाथों के साहित्य को 'साम्प्रदायिक शिक्षा' कहकर नकार देती है, लेकिन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सिद्ध-नाथ साहित्य की स्थापना को परवर्ती सन्त साहित्य की आधार सामग्री के रूप में व्याख्यायित करते हैं। आचार्य शुक्ल की आलोचना-दृष्टि में कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित विधेयवादी दृष्टि का दृढ आग्रह मिलता है, जबकि आचार्य द्विवेदी किसी भी दृष्टि के प्रति आग्रही नहीं हैं। स्वयं परंपरावादी होते हुए भी वे कबीर के साहित्य के सामाजिक पक्ष की व्याख्या 'सबऑल्टर्न' दृष्टि से करते हैं और कबीर के रहस्यवादी अथवा हठयोग वाले पक्ष की व्याख्या के सूत्र बौद्ध दर्शन में तलाशते हैं। उनके यहाँ आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसा विधेयवाद का अत्याग्रह नहीं है कि, जो कार्य-कारण संबधी व्याख्या में फिट न बैठे उसे या तो ख़ारिज कर दो या फिर फुटकल खाते में डाल दो। आचार्य शुक्ल आदिकाल में वीर गाथाओं की अधिकता के समर्थन में इस्लाम आगमन से उत्पन्न पराजित हिन्दू जाति की परिकल्पना करते हैं, जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इसको साहित्यिक प्रवृत्तियों का स्वतः विकास मानते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि को परिभाषित करते हुए डॉ. मनमोहन सहगल कहते हैं कि - द्विवेदी ने सन्त-काव्य का गंभीर अध्ययन किया तथा उस साहित्य को इस्लाम के आगमन के कारण उपजा न मानकर सिद्धों-नाथों के साहित्य का उत्तरवर्ती प्रभाव स्वीकार किया है। उन्होंने अपनी बात की पुष्टि में नाथ-वाणियों तथा सिद्धों के विचारों, भावों,

भाषा तथा तर्क-पद्धति को प्रस्तुत किया है और प्रमाणित किया है कि सन्त साहित्य इन्हीं नाथों-सिद्धों की वाणी का सहज विकसित रूप है। उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि हिंदी के प्रेमाख्यान भी इस्लामी देन न होकर संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की काव्य परंपराओं पर आधारित हैं। उनके कथानक, कथानक रूढ़ियाँ, रचना की शैली और छंद योजनाएं संस्कृत-प्राकृत से यों ही चली आ रही हैं" ।[27]

हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले इतिहासकार स्वयं आलोचक भी रहे हैं, इसीलिए साहित्य का इतिहास आलोचनात्मक इतिहास दृष्टि के आलोक में लिखा गया है। हिंदी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचंद्र शुक्ल से पूर्व गार्सा-द-तासी, जार्ज ग्रियर्सन, शिव सिंह सेंगर, मिश्रबंधुओं ने भी लिखा है लेकिन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनके पूर्व के इतिहास लेखकों में आलोचनात्मक दृष्टि का ही फर्क रहा है। तथ्य वहां भी हैं यहाँ भी, रचना-रचनाकार वहां भी हैं और यहाँ भी। आलोचनात्मक दृष्टि ही आचार्य शुक्ल के ग्रंथ को 'हिंदी साहित्य का इतिहास' बनाती है और उसके पूर्ववर्ती ग्रंथों को 'कविवृत्त संग्रह' मात्र।

आचार्य शुक्ल की आलोचना-दृष्टि में समाज, जन चेतना और साहित्य की परंपराओं के आपसी संबंधो का सम्मिश्रण दिखाई देता है। रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य और समाज के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। वे पहले ऐसे आलोचक, इतिहास लेखक हैं जिन्होंने साहित्य की व्याख्या सामाजिक सन्दर्भों में की है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना दृष्टि पर महावीर प्रसाद द्विवेदी कालीन सामाजिकता, नैतिकता, स्वस्थ भारतीय परंपरा के प्रति प्रेम, शैली की अपेक्षा भाव तथा विषय को महत्वपूर्ण मानने के आग्रह और अंग्रेजी साहित्य के गहन अध्ययन का पर्याप्त प्रभाव है। इन बहुक्षेत्रीय प्रभावों के बावजूद उनकी आलोचना दृष्टि में सामंजस्य की बेजोड़ क्षमता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने आलोचना सिद्धांतों का निर्माण अतीत की साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत और वर्तमान समय के श्रेष्ठ साहित्य को जानने-समझने के क्रम में किया है। उनकी आलोचना को सभ्यता की समीक्षा कहना अनुचित नहीं होगा। उनका आलोचना सिद्धान्त बहुआयामी है। सिद्ध-नाथ साहित्य का मूल्यांकन करते समय शुक्ल जी 'साम्प्रदायिक शिक्षा' बनाम 'शुद्ध साहित्य' का विवाद उठाते हैं। 'रामचरितमानस' के मार्मिक स्थलों को उकेरते हुए वे 'रामचंद्रिका' की सीमाओं के तहत स्थानीयता का मुद्दा उठाते हैं। बिहारी की भाषा में समास और समाहार शक्ति की खुलकर तारीफ करते हैं। मतिराम की कविता में वे 'रसस्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति' तथा भारतीय गृहस्थ जीवन के प्रसंगों की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। घनानंद की तारीफ में तो यहाँ तक कह देते हैं कि प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा करने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ। पंत की आलोचना के संदर्भ में वे स्वछंदतावाद के सच्चे आयाम को प्रस्तुत करते हैं। निराला के संदर्भ में वे कवि की 'बहुवस्तुस्पर्शनी

प्रतिभा' तथा 'संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने' के प्रयास की सराहना करते हैं। आचार्य शुक्ल एक आलोचक के रूप में इन सभी कोणों से हिंदी साहित्य का विवेचन और विश्लेषण करते हैं। रामचंद्र शुक्ल ने अपने आलोचना निकषों के मानकों के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन किया है, चाहे यह पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकताका प्रश्न हो या सिद्धों नाथों की बानियाँ हों। आचार्य शुक्ल के द्वारा ही हिंदी की निजी प्रौढ़ आलोचना शैली का विकास होता है। यह शैली पश्चिम के कलावाद और हिंदी के मध्ययुगीन अलंकार रीतिवाद से भिन्न हिंदी की अपनी ठेठ आलोचना शैली है। उनकी आलोचना शैली की खास बात यह है कि उन्होंने शास्त्र की सर्वथा मौलिक व्याख्या कर उसे आधुनिक और समयोपयोगी बनाया।

रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास की भूमिका में ही अपने इतिहास-ग्रंथ की रूपरेखा प्रस्तावित की है। इसमें साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब कहा गया है। इस पंक्ति से दो अर्थ निकाले जा सकते हैं। पहला, साहित्य चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब है, अर्थात चित्तवृत्तियाँ बिम्ब हैं और साहित्य प्रतिबिम्ब है, अर्थात साहित्य के भीतर जनता की चित्तवृत्तियों की छवि दिखाई देती है। दूसरी बात यह है कि यह प्रतिबिम्ब हुबहू न होकर संचित अर्थात चुना हुआ होता है। तीसरे स्तर पर ये चित्तवृत्तियाँ व्यापक रूप से सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रभावित होती हैं। इन सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ चित्तवृत्तियां भी निरंतर परिवर्तित होती रहती हैं। चित्तवृत्तियों के परिवर्तन का साहित्य की परंपरा के साथ मेल दिखाना ही साहित्य के इतिहास का दायित्व है। आचार्य शुक्ल की इन चित्तवृत्तियों के केन्द्र में वीरगाथाएं हैं, जिन्हें उन्होंने आदिकाल की प्रधान प्रवृत्ति माना है। अपनी विशेष आलोचना दृष्टि के कारण आचार्य शुक्ल ने आदिकाल की तमाम विकासमान प्रवृत्तियों को नकारकर रासो काव्यों को आदिकाल की मूल संवेदना माना है। "इसमें कोई शक नहीं की 'रासो' काव्यों में कहीं-कहीं सामंतों के शौर्य का सुंदर प्रदर्शन है और उनकी रसिकता का भी मार्मिक चित्रण हुआ है, परन्तु उन सभी वर्णनों में पुरानी रूढ़ियों और परिपाटियों का इतना संभार है कि उनमें नवोन्मेष कम प्राचीन निपुणता का संचय अधिक दिखाई देता है। ऐसी वीरगाथाओं को तत्कालीन जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिफलन कैसे स्वीकार किया जाये जबकि बख्तियार खिलजी ने केवल दो सौ घोड़ों से समूचे अंग-बंग के राजाओं को एक लपेट में सर कर लिया और जनता के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी। जाहिर है कि सामान्य जनता की भावना का उन सामंती वीरगाथाओं से कोई मतलब नहीं था"।[28] इनके बावजूद आचार्य शुक्ल ने आदिकाल की समस्त प्रवृत्तियों की तुलना में वीरगाथाओं के पक्ष में ही अपने तर्क दिए हैं।

प्राचीन और मध्यकालीन मूल्यों के साथ आधुनिक मूल्यों की टकराहट और मध्यकालीन ऐतिहासिक सवालों को आधुनिक जरूरतों के अनुसार खोजने की चुनौतियों के बीच आचार्य हजारी

प्रसाद द्विवेदी का आलोचनाकर्म विकसित होता है। किसी साहित्यिक रचना की क्रमिक आलोचना करना ही साहित्य के इतिहास का उद्देश्य नहीं है बल्कि साहित्य का बोध कराना भी इतिहासलेखन का दायित्व है। साहित्य का इतिहास, रचनाकार की रचना को साहित्यिक बनाने वाले कारणों की व्याख्या करने के साथ ही यह भी बताता है कि अमुक रचना साहित्य क्यों है। इस क्रम में इतिहास-लेखन साहित्य के अस्मिताबोध से जुड़ जाता है और अस्मिताबोध साहित्य के विकास से इसीलिए इतिहास लेखन में तथ्यों की स्थिति के साथ-साथ इतिहासकार का दृष्टिकोण भी महत्वपूर्ण होता है। साहित्य के इतिहास लेखन में तिथियों, तथ्यों, ब्योरों का उतना महत्व नहीं है जितना साहित्य के विकास के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या करने वाले सुसंगत दृष्टिकोण का।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में मनुष्य की जययात्रा का पथ प्रशस्त करने की साधना ही साहित्य है। मानवता के इतिहास का सही बोध उसकी विकास यात्रा के बोध के बिना नहीं हो सकता है। वे इसी विकास यात्रा को मुनष्य की जययात्रा कहते हैं, और साहित्य के इतिहास में इसी जययात्रा का आभास पाना चाहते हैं। इतिहास जीवंत मनुष्य के विकास की जीवन कथा है। वे साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने के पक्षपाती हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार साहित्य का इतिहास लेखन साहित्य मात्र का ही नहीं बल्कि साहित्य में अभिव्यक्ति पाने वाले मनुष्य का भी इतिहास प्रस्तुत करता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार किसी युग विशेष के साहित्य को समझने के लिए संपूर्ण सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परंपरा का अनुशीलन आवश्यक है। परंपरा उनके लिए अतीत का पर्याय नहीं है, क्योंकि परंपरा अतीत नहीं अतीत का कटा-छंटा अंश होती है। एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को हूबहू वही नहीं देती है, जो अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से प्राप्त करती है। कुछ न कुछ छंटता रहता है, बदलता रहता है, जुड़ता रहता है। यह निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। आचार्य द्विवेदी के यहाँ परंपरा कोई वस्तु, विचार, संस्कार आदि न होकर एक जीवंत प्रक्रिया है। वे परंपराबोध को, साहित्येतिहास को समझने की एक दृष्टि मानते हैं। यहाँ परंपरा आधुनिकता की पूरक है। परंपरा यात्रा के बीच पड़ा हुआ अंतिम पड़ाव है जबकि आधुनिकता आगे बढ़ा हुआ गतिशील कदम है। अगला कदम आप एक कदम मजबूती से टिकाये बगैर नहीं बढ़ा सकते हैं।

साहित्य के इतिहास-लेखन की इस व्यापक अवधारणा के परिणाम स्वरूप ही हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि को और अधिक विस्तार देने की हिमायत करते हैं, और इसीलिए उन्होंने हिंदी साहित्य को समझने के लिए समूचे भारतीय साहित्य और संस्कृति की समझ को विकसित करना जरूरी माना है। उनके अनुसार हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने से पहले जैन और बौद्ध अपभ्रंश का साहित्य, कश्मीर के शैवों का साहित्य, पूर्व के तांत्रिकों का साहित्य, उत्तर पश्चिम के नाथों का साहित्य, वैष्णव, अगम-पुराण, पूर्व के वैष्णओं का साहित्य और विविध लौकिक

भाषाओं को समझना जरूरी है। उनके अनुसार "हमारी भाषा का पुराना साहित्य प्रांतीय सीमा में बंधा नहीं है। आपको यदि हिंदी साहित्य का अध्ययन करना है तो पड़ोसी साहित्यों बंगला, उड़िया, गुजराती, नेपाली आदि के पुराने साहित्य, लिखित और अलिखित, को जाने बिना घाटे में रहेंगे। मराठी आदि के बारे में भी ठीक है"।[29]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टियों का फर्क इन दोनों आलोचकों द्वारा आदिकाल के नामकरण से ही स्पष्ट हो जाता है। रामचन्द्र शुक्ल ने जिस काल को 'वीरगाथा काल' कहकर इस काल की अन्य सभी प्रवृत्तियों को दरकिनार कर दिया है, वहीं आचार्य द्विवेदी इस काल की विभिन्नता को समझते हुए इस काल-खण्ड के लिए आदिकाल नाम प्रस्तावित करते हैं। आचार्य शुक्ल ने साहित्य के काल-विभाजन का आधार उस काल की प्रधान प्रवृत्ति को माना है, जैसे भक्तिकाल या रीतिकाल, लेकिन जिस कालखंड में कई प्रवृत्तियां एक साथ मिलती हैं या जहाँ किसी भी प्रवृत्ति की प्रधानता न हो क्या वहां पर आलोचक को अपनी आलोचना-दृष्टि को थोड़ा लचीला नहीं बना लेना चाहिए। वे अपने आलोचनात्मक खांचे से बाहर रहने वाली सभी रचनाएँ या रचनाकारों को या तो खारिज कर देते हैं या फिर 'फुटकल खाते' में डाल देते हैं। उनके लिए उनकी इतिहास-दृष्टि, सम्यक इतिहास लेखन से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल के तहत 'अपभ्रंश काव्य' नामक प्रकरण में पन्द्रह पृष्ठों की सामग्री दी है जिसमें से लगभग दस पृष्ठों की सामग्री को वे साहित्य नहीं मानते है। उनके अनुसार - "ये ही दो बातें (भाषा, साम्प्रदायिक प्रवृत्ति और उनके संस्कार की परंपरा) दिखाने के लिए इस इतिहास में सिद्धों और योगियों का विवरण दिया गया है। उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकती। उन रचनाओं की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते"।[30]

रामचंद्र शुक्ल आदिकालीन धार्मिक रचनाओं को 'शुद्ध साहित्य' नहीं मानते हैं, इसीलिए उन्होंने साहित्यिक ग्रंथों को असाहित्यिक (धार्मिक) से अलग किया है। वे मानते हैं कि काव्य के क्षेत्र में आध्यात्मिकता की कोई आवश्यकता नहीं है। वे साहित्य को धर्म, अध्यात्म, दर्शन, वैचारिक मतवाद आदि के प्रचार का साधन बना देने के खिलाफ हैं। उनके अनुसार साहित्य इन सबसे अधिक विराट है, उसका ऐसा उपयोग हीनतर है। इसलिए वे इस प्रवृत्ति का पुरजोर विरोध करते हैं। उनकी इस दृष्टि का मानदंड यह है कि जो साहित्य या अवधारणायें सभी लोगों के भाव जगत को स्पर्श नहीं करती हैं, वे एक संप्रदाय विशेष के धार्मिक ग्रंथ कहलायेंगे, जबकि साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है की वह समूची जनता के भावजगत को छूता है। आचार्य शुक्ल का 'समूची जनता' अर्थात 'शिक्षित जनता' को केन्द्र में रखने का आग्रह ही आदिकाल के मूल्यांकन में

वीरगाथाओं को प्रमुख स्थान दिलाता है और सिद्ध-नाथ साहित्य को 'साम्प्रदायिक शिक्षा' तक सीमित कर देता है। जबकि सिद्ध-नाथ साहित्य का बाह्याडम्बर और जाति-पांति का विरोध आगे जाकर सन्त साहित्य और उसके भी आगे दलित लेखन के बीज तैयार करता है।

आचार्य द्विवेदी नवीन दृष्टि के साथ आदिकालीन हिंदी साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। रामचन्द्र शुक्ल जहाँ सिद्धों-नाथों की रचनाओं को असाहित्यिक कहकर नकार देते हैं वहीं हजारी प्रसाद द्विवेदी इन रचनाओं की साहित्यिकता से ज्यादा इनकी सामाजिकता को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार "विषयवस्तु, विचारधारा और भावधारा और यहाँ तक की शिल्प के स्तर पर भी सन्त साहित्य की परंपरा का मूल स्त्रोत नाथों और सिद्धों के साहित्य में मौजूद है"।[31] क्योंकि ये रचनायें पुरजोर तरीके से सामाजिक रूढ़ियों, जाति-पांति तथा बह्याडम्बर का विरोध करती हैं। आचार्य द्विवेदी विषय-वस्तु, विचारधारा तथा भावधारा के साथ-साथ शिल्प के स्तर पर भी सन्त साहित्य की परंपरा का मूल सिद्ध-नाथ साहित्य में दिखाते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सिद्ध साहित्य को धार्मिक बताकर ख़ारिज कर देने वाली धारणा के संदर्भ में आचार्य द्विवेदी ने 'धार्मिक उपदेश' और 'धार्मिक प्रेरणा' को अपने वर्गीकरण का आधार बनाया है। धार्मिक उपदेश देने वाली रचनाओं को द्विवेदी जी ने साहित्य नहीं माना है, लेकिन जिन रचनाओं में धर्म प्रेरणा स्वरूप रहा है और जिनमें सामाजिक समरसता और एकता में बांधने की क्षमता है, उन्हें आचार्य द्विवेदी ने साहित्य में शामिल किया है।

"जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हो, उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है, जिसमें धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आंदोलित, मथित और प्रवाहित कर रही हो। इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ, जो मूलतः जैन धर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं, निःसंदेह उत्तम काव्य हैं और विजयपाल रासो और हम्मीर रासो की भांति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य हो सकती हैं। यही बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती हैं। इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्ल जी के मत को भी इस मत के समर्थन में उदधृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए"।[32] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास-दृष्टि लोकोन्मुख रही है। 'लोक' शब्द की उनकी अलग परिभाषा है। लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नहीं है बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। इसीलिए वे समकालीन साहित्य के इतिहास लेखन में श्रुति परंपरा और वाचिक साक्ष्यों की उपस्थिति को महत्वपूर्ण मानते हैं। वे साहित्य को सामाजिक दृष्टि से देखने के पक्षपाती हैं।

आचार्य द्विवेदी ने आदिकाल के समूचे मूल्यांकन में जो जैसा मिला उसको वैसा ही ग्रहण नहीं किया है, निश्चित रूप से आदिकाल में कई प्रवृत्तियां एक साथ उभरती हैं। आचार्य द्विवेदी इस काल के मूल्यांकन में कोई जल्दबाजी न बरतते हुए इन प्रवृत्तियों को भारतीय परंपरा के संदर्भ में देखने और खोजने का काम करते हैं। वे शास्त्रीय मर्यादा का पालन तो करते हैं लेकिन लोक की प्रतिष्ठा के साथ। हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास-दृष्टि में एक द्वंद्व लगातार दिखाई देता रहता है। यह द्वंद्व कालिदास के साहित्य तथा गुप्त कालीन भारतीय संस्कृति से प्रभावित आभिजात्य बोध अथवा कुलीनता बोध और सहज लोकमत के बीच है। कालिदास और बाणभट्ट आचार्य द्विवेदी की इतिहास चेतना के दो छोर हैं, कालिदास में शास्त्रीय मर्यादाओं का अद्भुत निर्वाह दिखाई देता है तो बाणभट्ट के भावबोध में लोकजनोचित मर्म का। यही कारण है कि वे काव्यशास्त्र पर आधारित, आभिजात्य वर्ग को केन्द्र में रखकर लिखी गयी वीरगाथाओं को महत्व तो देते हैं लेकिन सिद्ध साहित्य की स्थापना के साथ। आदिकालीन साहित्य में सिद्ध-नाथ-जैन साहित्य को वीरगाथाओं के समानांतर मूल्यांकित करना आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की लोकवादी इतिहास-दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता है।

रामचंद्र शुक्ल की इतिहास-दृष्टि में जनता और शिक्षित जनता की धारणा का अंतर्विरोध निरंतर बना रहता है। लेकिन इस अंतर्विरोध के बावजूद वे लोक-मानस की महत्ता स्थापित करना नहीं भूलते हैं। बस उनका 'लोक' सिद्धों की 'सामान्य जनता' से मेल नहीं खाता है। उनकी आलोचना में प्रयुक्त लोक-धर्म, लोक-रक्षा, लोक-मर्यादा, लोक-हृदय जैसे शब्दों का मूल अर्थ 'विरूद्धों का सामंजस्य' है। उनका मानना है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच से मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को अलग करके देख सके। किन्तु सिद्धों-नाथों और सन्तों की वाणी को वे शिक्षित जनता के लिए बेकार मानते हैं, लेकिन सामान्य जनता के बीच इसी वाणी को गौरव का बोध जगाने वाला मानते हैं। सामान्य जनता और शिक्षित जनता का यह द्वंद्व उनके द्वारा किये गए काल-विभाजन के ढांचे में भी दिखाई देता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल किसी रचना की सामाजिक सार्थकता को साहित्यिकता की कसौटी पर कसते हैं और उसकी साहित्यिकता को सामाजिक सार्थकता की कसौटी पर। रचना की साहित्यिकता और उसकी सामाजिक सार्थकता का अद्वैत ही उनकी आलोचना का बुनियादी सिद्धान्त है। आदिकाल से आधुनिक काल तक के साहित्य का मूल्यांकन करते हुए वे इसी अद्वैत को अपनी आलोचना का निकष बनाते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि में सामंती, औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी इन तीनों प्रकारों को ही आधार स्वरूप नहीं लिया गया है। वे इनमें से किसी भी कैटेगरी का इस्तेमाल नहीं करते हैं। उनकी आलोचना का समूचा विमर्श अवधारणाओं के रूप में विकसित होता है।

रामचंद्र शक्ल ने यदि मुकम्मल साहित्येतिहास दिया है, तो हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इतिहास और आलोचना को अवधारणाओं में समझने का मन्त्र दिया है। आचार्य द्विवेदी ने अपनी आलोचना के टूल्स के रूप में स्मृति, अस्मिता और अवधारणा इन तीनों तत्वों का व्यापक प्रयोग किया है। उनके अनुसार ये तीनो अंतर संबंधित होते हैं। ऐतिहासिक प्रक्रिया के बदलने के साथ-साथ साहित्य भी बदलता है और परंपरा भी। आचार्य द्विवेदी ने ऐतिहासिक प्रक्रिया के आधार पर ही परंपरा और संस्कृति का मूल्यांकन पेश किया है। उनके यहाँ मूल्य, विश्वास, अभ्यास, व्यवहार, विमर्श आदि ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ जुड़े हुए हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इतिहास लेखन में एक प्रगतिशील दृष्टि अपनाते हैं। वे इतिहास को जड़ न मानकर उसको मानवता का अखण्ड प्रवाह मानते हैं। उनकी आलोचना-दृष्टि के अनुसार निश्चित रूप से, वास्तविक इतिहास का अर्थ मानवीय जिजीविषा, उसके संघर्षों और उपलब्धियों का क्रमिक विवरण ही हो सकता है। इस अर्थ में उनकी आलोचना दृष्टि मानव को सर्वोपरि मानती है। वे कला में जीवन की खोज करने वाले अन्वेषी हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी आलोचना को संस्कृत काव्य-शास्त्र और पश्चिमी आलोचना के अनुकरण से बचाते हुए उसका एक स्वतंत्र मार्ग बनाया। उनके आलोचना सिद्धान्त मौलिक होने के साथ-साथ हिंदी भाषा, हिंदी जाति और हिंदी साहित्य के लिए अनुकूल भी हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं। कालांतर में कई आलोचकों ने आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि को चुनौतियाँ दी हैं जिनमें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं। रामचंद्र शुक्ल के बारे में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि - "रामचंद्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना संभव नहीं। फिर भी शुक्ल जी प्रभावित करते हैं। नया लेखक उनसे डरता है, पुराना घबराता है, पंडित सिर हिलाता है, वे पुराने की गुलामी पसंद नहीं करते और नवीन की गुलामी तो उनको एकदम असह्य है, शुक्ल जी इसी बात में बड़े हैं और यही उनकी कमजोरी है" ।[33] आचार्य द्विवेदी की इस बात से पूरी तरह से सहमत हुआ जा सकता है कि भले ही आदिकाल के इतिहास लेखन संबंधी आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि कई स्थानों पर थोड़ी आभिजात्यवादी है, लेकिन यह भी निश्चित है कि उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन को एक सम्यक आधार भूमि प्रदान की है। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में उनका योगदान उनसे सहमति या असहमति से बहुत ऊपर की वस्तु है। उनसे हर जगह सहमत नहीं हुआ जा सकता है, लेकिन उनको छोड़कर आगे भी नहीं बढ़ा जा सकता है।

आचार्य शुक्ल की आलोचना-दृष्टि साहित्य को अनुशासित करती है, तो आचार्य द्विवेदी की आलोचना दृष्टि उसकी लोक ग्राह्यता की हिमायत करती है। आचार्य शुक्ल के यहाँ स्थापनाओं की दावेदारी है तो आचार्य द्विवेदी के यहाँ संभावनाओं का खुलापन। दोनों ही आचार्यों की आलोचना दृष्टि आदिकाल का समग्र मूल्यांकन प्रस्तुत करती है। आदिकाल संबंधी आचार्य शुक्ल के मूल्यांकन

के केन्द्र में 'शिक्षित जनता' है, और द्विवेदी जी की आलोचना के केन्द्र में 'लोकजन'। आलोचना दृष्टि का केन्द्र बिंदु ही दोनों आलोचकों की विशिष्टता भी है और यही उनकी सीमा भी निर्धारित करता है ।

(ग) आदिकाल और परवर्ती हिंदी आलोचना

रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि में तीन बातें स्पष्ट हैं- पहली बात कि वे कोई पारंपरिक या खालिस इतिहासकार नहीं हैं, दूसरी कि उनके पास इतिहास दृष्टि के समानांतर एक साहित्यिक दृष्टि भी है जो उनके साहित्य-बोध को प्रभावित और समृद्ध करती है। तीसरी और महत्वपूर्ण बात यह कि उनका इतिहास बोध, भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के समानांतर विकसित हुआ है। उनके युग में स्वदेश चिंता का एक देशी-बोध और आदर्श समस्त बौद्धिक-सामाजिक कार्यकलापों को संवेदित कर रहा था। रामविलास शर्मा हिंदी के पहले आलोचक हैं, जिनकी दृष्टि तो मार्क्सवादी है लेकिन उस दृष्टि का विकास उन्होंने भारतीय परिप्रेक्ष्य में किया है। रामविलास शर्मा द्वारा वेदों की बात करने, भारतीय संस्कृति को खंगालने की जिरह करने, और परंपरा के मूल्यांकन पर लगातार जोर देते रहने के कारण, मार्क्सवादी आलोचक उनसे हमेशा नाराज रहे। मार्क्सवादियों की नजर में यह दृष्टि मार्क्सवाद न होकर गांधीवाद या हिंदुत्व के विमर्श का विषय था। रामविलास शर्मा ने मार्क्सवाद का भारतीय संस्करण करके उसको अपनी आलोचना दृष्टि का केन्द्र बिंदु बनाया।

रामविलास शर्मा के आलोचना कर्म में ऋग्वेद से लेकर अल्थूसर तक, पौराणिक कथाओं से लेकर दलित उभार तक, साहित्यिक विधाओं के समानांतर संगीत की तमाम रागिनियों की पहचान तक के सूत्र मिलते हैं। उनकी खोज अकादमिक तक सीमित नहीं है, बल्कि वे इन अकादमिक टूल्स के सहारे संस्कृति की सभी दिशाओं को खंगालते हैं। यह खोज ही उनकी शक्ति भी है और सीमा भी। वे इतिहास, दर्शन, साहित्य या किसी भी अन्य विषय या थ्योरी के पास जाकर अपने ही सरोकारों के पास वापस लौटते हैं। वे श्रेष्ठ साहित्य को समाज की ऐतिहासिक जरूरत से जोड़कर देखने की कोशिश करते हुए साहित्य को जनता के अन्तः करण की वाणी मानते है। इसके साथ ही वे मार्क्सवादी व्याख्या के भारतीयकरण के क्रम में देश के दर्शन,कलाओं और इतिहास का अध्ययन करते हुए जातीय परंपरा के अनुरूप विचार करने पर बल देते हैं।

रामविलास शर्मा साहित्य को भाषा, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, समाज और भौगोलिक परिवेश से बनने वाली जातीयता से जोड़कर देखते हैं। उनके अनुसार 'किसी भी जाति का साहित्य उसकी उपलब्धियों को संजोये रखने का साधन होता है। जिस प्रकार मनुष्य अपनी स्मृतियों के सहारे अपने व्यक्तित्व को पहचानता है। उसी प्रकार साहित्य के इतिहास द्वारा जाति अपने अस्तित्व को

पहचानती है । उनके चिंतन के केन्द्र में भाषा, विज्ञान, इतिहास, दर्शन समाज, राजनीति और साहित्य सभी कुछ है । उनके अनुसार "भाषा के बिना साहित्य का अस्तित्व नहीं हो सकता है और मानव समाज के बिना भाषा का अस्तित्व नहीं हो सकता है" ।[34] इसीलिए भाषा साहित्य का इतिहास लिखते समय इस बात पर विचार आवश्यक है कि उस भाषा का व्यवहार करने वाले मानव समाज के गठन का रूप क्या है । "किसी भी भाषा के साहित्य का निर्माण अन्य भाषा के साहित्य से नितांत अलगाव की अवस्था में नहीं होता है"।[35]

रामविलास शर्मा आलोचक अधिक हैं और इतिहासकार कम, लेकिन आलोचना और इतिहास के सहसंबंधो के कारण किसी भी आलोचक को इतिहास से टकराना ही पड़ता है । वे हिंदी साहित्य के इतिहास लेखक न होते हुए भी हिंदी के आरंभिक युग की भाषाई दृष्टि से गहरी पड़ताल करते हैं । उन्होंने आदिकाल में हिंदी भाषा के निर्माण अथवा विकास के संदर्भ में महत्वपूर्ण स्थापनाएं दी हैं । अपभ्रंश भाषा से हिंदी की उत्पत्ति संबंधी अवधारणा का उन्होंने तर्कपूर्ण विरोध करते हुए कहा है कि जिन भाषाओं में विलम्ब से साहित्य रचा गया, क्या यह माना जाये कि उनका जन्म विलम्ब से हुआ था ? ... भारतीय भाषाओं का आपसी सम्बन्ध तब समझ में आएगा जब अपभ्रंश से भिन्न हम देशी भाषाओं का अस्तित्व स्वीकार करेंगे और आधुनिक आर्य भाषाओं को अपभ्रंश की संतान न मानकर पुरानी देशी भाषाओं का आधुनिक रूप मानेंगे"।[36] हिंदी भाषा के सम्बन्ध में उनकी स्थापना बहुत महत्वपूर्ण है । उनके अनुसार यह माना जा सकता है की भारतीय भाषाओं में साहित्य की रचना देर में हुई है, लेकिन इस बात का यह अर्थ नहीं है कि साहित्य का माध्यम बनने से पहले ये भाषाएं अस्तित्व में ही नहीं थीं । देशी या जनपदीय भाषाएँ जो संस्कृत और प्राकृत से भिन्न हैं वे भी कम से कम उतनी ही पुरानी हैं जितना कि भरत का 'नाट्यशास्त्र' । भाषा संबंधी उनकी स्थापनाओं का विस्तृत विवेचन अध्याय चार में किया जायेगा ।

रामविलास शर्मा पम्परा के मूल्यांकन पर बराबर जोर देते रहने वाले आलोचक हैं और यही उनकी आलोचना दृष्टि का निकष है । उनके अनुसार- "परंपरा अतीत को वर्तमान से जोडती है और वर्तमान को भविष्य से । उनके माध्यम से सामाजिक जीवन में निरंतरता बनती है, और उस सामाजिक जीवन का स्वरूप निर्धारित होता है । परंपरा और उससे अनुप्राणित संस्कृति मानव के सामूहिक अस्तित्व का अविभाज्य अंग होती हैं । परंपरा को रूढ़ि मानना गलत है । परंपराएँ सामाजिक परिवर्तनों से असम्पृक्त नहीं हैं ।...ये निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, जिसमें परंपरा स्वयं अपना मूल्यांकन करती है और अपनी दिशा तय करती है । इस इतिहास दृष्टि में बदलते समय में परंपरा का फिर-फिर मूल्यांकन किया जाना चाहिए । न हम परंपरा से विच्छिन्न होकर प्रगति कर सकते हैं और न उसके अनुकरण मात्र से"।[37] परंपरा के इस अनुशीलन में वे सामंतवाद विरोधी साहित्य और साहित्यकार को महत्वपूर्ण मानते हैं । उन्होंने हिंदी जाति में आत्मविश्वास और दृढ़ता

पैदा करने का कार्य किया। उन्होंने भारतीय जनमानस का प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाओं और रचनाकारों को ही उभारा। उनकी आलोचना दृष्टि विदेशी विचारों को नकारते हुए भारतीयता का अनुकरण करने वाली दृष्टि है। रामविलास शर्मा जीवन भर जनवादी और साम्राज्यवाद विरोधी साहित्य का प्रबल समर्थन करते रहे।

रामविलास शर्मा उन विद्वानों में से नहीं है, कि जो जहाँ से मिले उसको लेकर मार्क्सवादी इतिहास दृष्टि के साथ लिखने लगें। वे रूढ़ परंपरा वादी भी नहीं हैं जो अपने देश की सांस्कृतिक सम्पदा के प्रति अत्यधिक उदारता के पूर्वाग्रह से ग्रसित हो। वे परंपरा, उदारता और प्रगतिशीलता का एक ऐसा मेल तैयार करते हैं, जिसके भीतर समाज, समाज का इतिहास और उसकी परंपरा को परिभाषित किया जा सके। समग्रता का यह आग्रह ही उनको ज्ञान की दिशाओं में उन्मुख करता है। वे अपने बौद्धिक कर्म से ज्यादा समाज की चिंता करने वाले आलोचक और विचारक हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य विचारधारा मात्र नहीं है उसमें मनुष्य का भावबोध, उसकी भावनाएं और आन्तरिक प्रेरणाएं व्यंजित होती हैं।

"वे प्राचीन युग के भीतर भी प्रगतिशीलता के लक्षण देखते हैं और वेद उपनिषद से लेकर आर्यसमाज तक में उस प्रगतिशील धारा को लक्षित करते हैं जिसका निर्माण और वहन जनता करती है। एक तरह से रामविलास जी के यहाँ प्रगतिशीलता और परंपरा-प्रेम का फ्यूजन है - जो उनकी शक्ति भी है और कमजोरी भी है। इस अर्थ में वे उन आधुनिक विद्वानों से भिन्न हैं जो यह मानते हैं की प्रगतिशीलता एक आधुनिक विचार है, जिसके लिए प्राक्आधुनिक सन्दर्भों को लेकर चलना अंततः नकारात्मक हो जाता है। ... यहाँ रामविलास जी का फ्यूजन उन्हें विशिष्ट चिंतक बनाता है। उनके लिए राममोहन राय भी महत्वपूर्ण हैं और अट्ठारह सौ सत्तावन भी। वे दयानंद को भी महत्व देते हैं और विवेकानंद को भी महत्व देते हैं और विवेकानंद के महत्व की भी अनदेखी नहीं करते"।[38] रामविलास शर्मा का विमर्श या उनकी दृष्टि पश्चिम से आयातित न होकर उनकी आलोचना और चिंतन का प्रतिफल है। एक तरह की अक्खड़ता से युक्त साफगोई उनकी आलोचना का सबसे बड़ा गुण है। 'बाहरी' लोगों के साथ-साथ वे 'अपनों' के लिए भी पक्ष, विपक्ष और प्रतिपक्ष बनते रहे।

नामवर सिंह अपने चिंतन के केन्द्र में एक आलोचक के रूप में हमारे सामने आते हैं, किन्तु इस क्रम में उनकी आलोचना स्वतः ही इतिहास से जुड़ जाती है। वे रचना के मूल्यांकन में साहित्य के इतिहास का उपयोग करने वाले आलोचक हैं। उनकी आलोचना दृष्टि इतिहासकार की इतिहास-दृष्टि न होकर एक आलोचक की इतिहास दृष्टि है। नामवर सिंह मूलतः आलोचक हैं, और अपनी आलोचना की अभिव्यक्ति के लिए इतिहास का सहारा लेते हैं तथा उसका मूल्यांकन करते हैं। इतिहास और आलोचना नामक अपनी पुस्तक में वे कहते हैं कि "श्रेष्ठ साहित्य मन का लड्डू नहीं है कि जब चाहा बना लिया। श्रेष्ठ तो श्रेष्ठ, साहित्य मात्र भी स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है। साहित्य

निश्चित परिस्थिति में निश्चित परिस्थति से पैदा होता है। यह परिस्थिति रचनाकार की स्वेच्छा को मर्यादित करती है। यहाँ तक कि लेखक का विद्रोह भी उस परिस्थिति के द्वारा निर्धारित होता है" ।[39]

नामवर सिंह का मूल्यांकन पक्ष हमेशा ही वैज्ञानिकता और प्रामाणिकतापर आधारित होता है। वे प्राचीन आलोचकों की तरह युग और परिस्थितियों के साथ रचना का ताल-मेल खोजने वाले चिन्तक नहीं है। अपितु वे रचना के माध्यम से समूचे कालखंड पर विचार करते हैं। उनकी यह समग्र दृष्टि ही विवेच्य रचना को जीवंत तथा समकालीन वातावरण प्रदान करती है और यही बिंदु आलोचक की अंतर्दृष्टि को रेखांकित भी करता है। इस प्रकार एक आलोचक इतिहासकार भी होता है और एक रचना इतिहास भी। नामवर सिंह कहते हैं कि इतिहासकार युग बोध की विशाल परिधि में प्राचीन एवं नवीनता के तथ्यों द्वारा संचालित होता है और उसको संचालित होना भी चाहिए। इतिहासकार के केन्द्र में समकालीन साहित्य होता है, वह समकालीनता की परिधि में नए तथ्यों तथा आंकड़ो का सृजन करता है। उनके अनुसार इतिहास में दृष्टि भविष्योन्मुखी होती है और इतिहास की चिंता का केन्द्र बिंदु ठेठ समसामयिक होता है।

नामवर सिंह की आलोचना का आधार समसामयिक है। समकालीनता एक ऐसी प्रवृत्ति होती है, जो अपने वर्तमान और भूत के साथ ही संपूर्णता को ग्रहण करती है। समकालीनता के साथ इतिहास-दृष्टि के संश्लेष्ण का मूल कारण यही होता है। नामवर सिंह ने अपने आलोचना-कर्म के आरंभ से लेकर अंत तक इस स्वाभाविक इतिहास दृष्टि का निर्वाह किया है। वे रचना को समकालीनता के संपूर्ण निकषों पर कस कर ही उसके सर्वोत्तम भाव को उजागर करने वाले आलोचक हैं। नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि के संदर्भ में निर्मला जैन कहती हैं कि "उनकी दृष्टि आलोचनात्मक औजारों से ज्यादा आलोच्य कृति पर रहती है। रचना पर कौन सा सिद्धान्त लागू किया जाये से ज्यादा उनके सामने सवाल यह होता है कि वह रचना किस प्रकार के सवालों को आमंत्रित करती है। रचना के अनुरोध से यदि आवश्यक हो तो निश्चित ही उन्हें मार्क्सवाद के साथ किसी और पद्धति के औजारों का मेल करने से परहेज नहीं होता" ।[40]

हर युग में साहित्य के समानांतर ही साहित्य का बोध भी होता है। अतीत की जीवंत स्मृति के साथ हुए परिवर्तनशील एवं जागरूक वर्तमान के मेल से साहित्य के इस बोध का जन्म होता है। "इतिहास लिखने का कार्य वही कर सकता है जो स्वयं इतिहास बनाने में योग देता है अथवा दिलचस्पी रखता है, इतिहास अर्थात समसामयिक इतिहास, क्योंकि जो बीत चुका है उसका अब क्या बनाया जा सकता है ? इसलिए साहित्य के इतिहास की मुख्य समस्या है समसामयिक साहित्य की समस्या, अन्य युगों की सारी समस्याएं सहायक हैं अथवा गौण। इस प्रकार जो समसामयिक समस्यायों से जूझ रहे हैं, वे इतिहास न लिखते हुए भी इतिहास बनाने में योग दे रहे हैं।

समसामयिक साहित्य के संदर्भ में उठी हुई सारी समस्याएं इतिहास की समस्याएं हैं"।[41] साहित्य के इतिहास लेखन संबंधी इस समझ को केन्द्र में रखकर नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि विकसित होती है।

नामवर सिंह ने हिंदी साहित्य का कोई इतिहास-ग्रंथ नहीं लिखा है, लेकिन उनकी आलोचना दृष्टि इतिहास के आलोक में विकसित होती है। आदिकालीन हिंदी साहित्य पर उन्होंने विचार तो एक आलोचक की दृष्टि से किया है लेकिन आदिकाल की जटिलता को समझने के लिए उन्होंने ऐतिहासिक टूल्स का पूरा इस्तेमाल इतिहासकार की तरह किया है। पृथ्वीराज रासो की भूमिका के माध्यम से उन्होंने रासो काव्य संबंधी अपनी मान्यताएं प्रस्तुत की हैं। आचार्य शुक्ल ने आदिकाल के नामकरण में जिन वीर गाथाओं को अपना आधार बनाया है उन रासो काव्यों के बारे में नामवर सिंह का तर्क है कि "उन सभी (रासो) वर्णनों में पुरानी रूढ़ियों और परिपाटी का इतना साभार है कि उनमें नवोन्मेष कम, प्राचीन निपुणता का संचय अधिक दिखाई पड़ता है। ऐसी वीरगाथाओं में तत्कालीन जनता की चित्तवृतियों का प्रतिफलन कैसे स्वीकार किया जाये"।[42] आचार्य शुक्ल द्वारा सिद्ध-नाथ-जैन साहित्य को धार्मिक कहकर ख़ारिज कर दिए जाने की मान्यता के संदर्भ में उनका तर्क है कि "जिस समाज में दुःख, दर्द, अत्याचार का सवरूप जात-पांत जैसी धार्मिक और नैतिक मान्यताओं के माध्यम से प्रकट होता है, उस समाज में सामान्य जनता का असंतोष स्वभावतः धार्मिक, नैतिक रूप में ही व्यक्त हो सकता है। इसलिए तत्कालीन हिंदी जनता की भावनाओं का धार्मिक प्रतीकों में व्यक्त होना स्वाभाविक है"।[43] वे रासों काव्यों को आम जन-मानस से कटा हुआ भी मानते हैं। रासो के समानांतर वे उसी काव्य की उपादेयता स्थापित करते हैं जिसको आचार्य शुक्ल ने 'साम्प्रदायिक शिक्षा' कहकर नकार दिया था। नामवर सिंह की नजर में श्रेष्ठ साहित्य वही है जिसकी पैठ राज-दरबारों तक सीमित न रहकर लोक समाज में भी हो। साहित्य व्यापक समाज का हिस्सा है और कृति का सृजन साहित्यिक और सामाजिक परंपरा के भीतर होता है। क्योंकि इतिहास लेखन वैयक्तिक प्रयास के साथ सामाजिक प्रयास भी है। इसलिए इतिहासकार को रचना का स्थान निर्धारित करते हुये उसकी सामाजिक व्याप्तता को भी ध्यान में रखना चाहिए।

आदिकाल के मूल्यांकन की सबसे बड़ी समस्या भाषा की समस्या है। नामवर सिंह इसी बात की ओर ध्यान दिलाते हुए कहते हैं कि "कहने के लिए इसे एक तरह से पहली और आधारभूत समस्या कहा जा सकता है क्योंकि भाषा ही वह पहली दीवार है जिसे पार करके पृथ्वीराज रासो तक पहुँचा जा सकता है। भाषा की कठिनाई के कारण ही रासो का सम्यक साहित्यिक मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है और अभी तक इसके वैज्ञानिक संपादन न हो सकने के पीछे प्रमुख कारणों में से एक भाषा भी है"।[44] उनके द्वारा हिंदी भाषा की उत्पत्ति अथवा विकास संबंधी व्याख्याएं 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' तथा 'हिंदी साहित्य के विकास में अपभ्रंश का योग' नामक महत्वपूर्ण किताबों में

प्रस्तुत की गयी हैं। वे अपभ्रंश भाषा को हिंदी भाषा के विकास की महत्वपूर्ण कड़ी मानते हुए कहते हैं "अपभ्रंश ने भारतीय साहित्य की जिस गति को लोक-जीवन से दूर जाते देखकर फिर से उसके साथ कर दिया, उसी प्रयत्न के फलस्वरूप हिंदी आदि आधुनिक साहित्यों का अभ्युदय हुआ।... हिंदी के लिए यह पृष्ठभूमि तैयार करके अपभ्रंश ने ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया" ।[45] भाषा संबंधी नामवर सिंह की मान्यताओं की विस्तृत चर्चा चतुर्थ अध्याय में की जाएगी।

अपने इतिहास लेखन के संदर्भ में नामवर सिंह कहते हैं कि "साहित्य में इतिहास मेरी मुख्या चिंता थी और साहित्य का इतिहास लिखना इतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना साहित्य का इतिहास समझना"।[46] उनके अनुसार परंपरा समय-समय पर अपनी परंपरा का पुनर्मूल्यांकन किया करती है और इस हिसाब से अपनी समूची साहित्यिक परंपरा के नक़्शे में भी सुधार करती हुई आगे बढ़ती है। "परंपरा को अर्जित करना पड़ता है, उसकी खोज करनी पड़ती है, उसका नियमित मूल्यांकन करना पड़ता है, ताकि परंपरा नई दृष्टि से हमारे सामने आ सके"।[47] किसी बहुसंख्यक समाज में यदि परम्परा का जीवित बोध है तो संभवतः उसको साहित्य के इतिहास को अलग से लिखने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। परंपरा के इस विश्लेषण में नामवर सिंह की सम्यक इतिहास-दृष्टि सामने आती है।

नामवर सिंह एक ओर जड़ हो चुकी मार्क्सवादी विचारधारा का विरोध करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे साहित्य में व्याप्त संकीर्ण संस्कृतिवाद को चुनौती देते हैं। नामवर सिंह जीवन और उसके समानांतर काव्य तथा काव्य मूल्यों की सतत परिवर्तनशीलता को उद्घाटित करने पर जोर देते हैं। हर परिवर्तन कुछ समय बाद रूढ़ि बन जाता है, फिर इस रूढ़ि को बदलने के लिए दूसरे परिवर्तन की आवश्यकता होती है । एक तरफ वे अनुभूतिवाद की सीमाएं बताते हैं तो दूसरी ओर विचारधारा की प्रासंगिकता के प्रमादियों तथा अन्धलोकवादियों की भी आलोचना करते हैं। इस तरह नामवर सिंह ने आलोचना के दोनों सिरों को समेटते हुए साहित्य को यथार्थवादी विचारधारा प्रदान की है। 'कविता के नए प्रतिमान' की भूमिका में आलोचक के व्यक्तित्व के बारे में वे कहते हैं कि "मूल्यवान है एक भी ऐसे आलोचक का होना जो किसी भी चीज को तब तक अच्छा न कहे, जब तक उस निर्णय के लिए अपना सब कुछ दांव पर लगाने के लिए तैयार न हो" ।[48] नामवर सिंह का आलोचना विषय सदा ही वाद-विवाद के संघर्ष से जूझता रहा है, इस क्रम में आलोचना उनके 'सहयोगी प्रयास' के रूप में सामने आती है।

आदिकालीन हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में इतिहास-लेखन जितना महत्वपूर्ण है, इस काल के सूत्र खोलने में आलोचना की भूमिका भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। इस कालखंड के व्यापक, मूल्यांकन में सुसंगत आलोचना-दृष्टि का आग्रह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस अर्थ में आदिकालीन आलोचकों ने इस काल का मूल्यांकन अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार किया है। आलोचकों की भिन्न-

भिन्न आलोचना-दृष्टि ने इस काल के अलग-अलग पाठ प्रस्तुत किये हैं। हिंदी के आरंभिक इतिहास ग्रंथों में 'इस्त्वायर द ला लितरेत्योर हिन्दुई ए हिन्दुस्तानी', 'शिव सिंह सरोज', 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' तथा 'मिश्रबंधु विनोद' प्रमुख इतिहास ग्रन्थ हैं। इन ग्रंथों में कवियों के जीवन-परिचय और रचना-संग्रह को अधिक स्थान दिया गया है आलोचनात्मक मूल्यांकन को कम। 'मिश्रबंधु विनोद' में अवश्य ही श्रेणी विभाजन किया गया है, किन्तु ये सभी ग्रन्थ 'कवि वृत्त संग्रह से आगे नहीं बढ़ पाए हैं। इनमें समीक्षात्मक मूल्यांकन का अभाव है।

आदिकालीन हिंदी साहित्य की आधार सामग्री के मूल्यांकन का प्रथम प्रयास पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने किया है। हिंदी भाषा संबंधी उनकी अवधारणा महत्वपूर्ण है। जिस समय हिंदी भाषा को संस्कृत की बेटी कहकर उसके स्वतंत्र अस्तित्व पर तमाम प्रश्न उठाये जा रहे थे उस समय वे हिंदी भाषा की स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने के पक्ष में अपने तर्क देते हैं। वे हिंदी के विकास में अपभ्रंश भाषा को सहायक भाषा तो मानते हैं, लेकिन अपभ्रंश या किसी भी अन्य भाषा को हिंदी की जननी स्वीकार नहीं करते हैं। पं गुलेरी की अवधारणा ने हिंदी के विकास में अपभ्रंश साहित्य की महत्ता की स्थापना की और इन दोनों भाषाओं में समता के सूत्र स्थापित करते हुए अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहा है।

राहुल सांकृत्यायन आदिकाल की समय-सीमा को लगभग पाँच सौ साल पीछे लेकर जाते हुए, आठवीं से तेरहवीं शताब्दी के काल खण्ड को सिद्ध-सामंत काल की संज्ञा देते हैं। 'मध्यकालीन काव्यधारा' नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने इस काल का विस्तृत विश्लेषण किया है। आदिकाल की दो प्रधान प्रवृत्तियों को केन्द्र में रखते हुए उन्होंने इस काल को सिद्ध-सामंत काल कहा है। उनकी जनवादी आलोचना दृष्टि सामंतों के लिए रचे गए 'शिष्ट साहित्य' के समानांतर बौद्ध साधुओं के साहित्य की महत्ता का बखान करती है। राहुल सांकृत्यायन ने पृथ्वीराज रासो से हिंदी भाषा का विकास मानने वाले आलोचकों की मान्यता को ख़ारिज करते हुए हिंदी साहित्य की शुरुआत सिद्ध सरहपा से मानी है। वे सरहपा को हिंदी का आदि कवि घोषित करते हैं। रासो साहित्य जैसे अभिजात्यवादी साहित्य के समानांतर सिद्ध साहित्य को वकालत वास्तव में आदिकाल की सीमा को एक नई दिशा में विस्तारित करना है।

मोतीलाल मेनारिया ने आदिकालीन भाषा के संदर्भ में 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' नामक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। आदिकाल संबंधी उनका मूल्यांकन भाषा केंद्रित है। उनकी आलोचना दृष्टि में राजस्थानी भाषा के प्रति अगाध प्रेम प्रदर्शित होता है। राजस्थानी भाषा के महत्व को प्रतिपादित करते हुए वे उसको हिंदी की बोली न मानते हुए एक स्वतंत्र भाषा मानते हैं। वे डिंगल साहित्य को राजस्थान की संस्कृति और संस्कारों का जीवंत प्रतिबिम्ब कहते हैं। मोतीलाल मेनारिया वीरगाथात्मक साहित्य को ऐतिहासिक रूप से प्रमाणिक मानते हुए उसका बखान करते

हैं, किन्तु इस व्याख्या में वे इस बात को पूरी तरह से नजरंदाज कर देते हैं कि आदिकालीन चारण कविता के साथ ऐतिहासिकता की बड़ी समस्या है । आदिकालीन रासो काव्यों में प्रयुक्त वर्तमानकालिक क्रिया के सन्दर्भ में मोतीलाल मेनारिया बेहतरीन तर्क देते हुए कहते हैं कि वर्तमान कालिक क्रिया के प्रयोग का अर्थ रचयिताओं का समकालीन होना नहीं है । यह काव्य लेखन की शैली मात्र है । राजस्थान में चारण-भाट आज भी जब प्राचीन काल के वीर पुरुषों पर ग्रंथ तथा फुटकर गीत आदि लिखते हैं, तब वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करते हैं। मोतीलाल मेनारिया ने डिंगल भाषा और वीर काव्य धारा के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण स्थापनाएं दी हैं।

रामकुमार वर्मा ने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' नामक ग्रंथ में आदिकाल के काल निर्धारण और नामकरण संबंधी महत्वपूर्ण मुद्दों की समीक्षा की है । अपने इतिहास ग्रंथ में इन्होंने 693 ई. से 1693 ई. तक की कालावधि का वर्णन किया है । डॉ वर्मा की अलोचना का मूलाधार राजनीतिक परिस्थितियां हैं । इसी के आधार पर वे आदिकाल समेत सभी कालों का विभाजन करते हैं। डॉ वर्मा ने काल निर्धारण और नामकरण संबंधी व्याख्या में कार्य-कारण संबंध पर आधारित विधेयवादी आलोचना दृष्टि का प्रयोग किया है । उनके काल विभाजन के मूल में इस्लाम का आगमन और उसका भारतीय जनमानस पर पड़ने वाला प्रभाव है। भाषा आदिकाल के मूल्यांकन की महत्वपूर्ण अंग है । डॉ रामकुमार वर्मा ने आदिकाल का नामकरण दो भागों में बाँट कर किया है, जिसमें पहला भाग 'संधिकाल' भाषा की अवस्था का सूचक है। आदिकाल के दूसरे भाग को वे 'चारण काल' कहते हुए वीरगाथाओं के अध्ययन को महत्वपूर्ण मानते हैं । किन्तु इन ग्रंथों की अनुपलब्धता इनके सटीक मूल्यांकन में बाधा उत्पन्न करती है । साहित्य का इतिहास लिखने के क्रम में आदिकाल को छोड़कर डॉ वर्मा अधिकतर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यताओं के साथ दिखाई देते हैं। वे वीरगाथाओं के समानांतर धार्मिक साहित्य की महत्ता को स्पष्ट करते हैं तथा धार्मिक साहित्य का मूल्यांकन साहित्य के साथ भाषा की संधि अवस्था के रूप में करते हैं, जो कि साहित्य के आरंभिक काल को समझने की एक महत्वपूर्ण कुंजी है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आदिकाल की व्याख्या में, साहित्य के इतिहास का तथ्यात्मक मूल्यांकन करते हैं, वहीं आचार्य द्विवेदी के लिए यह तथ्य और आख्यान का मिला-जुला रूप है। आचार्य शुक्ल के मूल्यांकन के केंद्र में कार्य-कारण सम्बन्ध है तो आचार्य द्विवेदी ने द्वंद्वात्मक पद्धति को आधार बनाते हुए देशज भाषाओं के आख्यान और विचारों की परंपराओं का प्रयोग किया है। रामचंद्र शुक्ल को देशज भाषा का साहित्य तो चाहते हैं लेकिन शिक्षित जन या अभिजन के साथ जबकि आचार्य द्विवेदी आख्यान, देशज भाषा, राजनीति में अन्तः सम्बन्ध तलाशते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में दोनों इतिहासकारों की इतिहास दृष्टि के दायरे अलग-अलग हैं। आचार्य शुक्ल की साहित्य चिंता के केन्द्र में युद्ध नहीं आते हैं, जबकि आचार्य द्विवेदी के चिंतन के केन्द्र में दो विश्वयुद्धों की

विभीषिका है, इसीलिए वे मानव को सर्वोपरि मानते हुए मानवतावाद को केन्द्र में रखते हैं। उनके इतिहास का केन्द्र प्रेम और रोमांस है जबकि आचार्य शुक्ल रासो ग्रंथों के बहाने वीरगाथाएं और राष्ट्रवाद को महत्वपूर्ण मानते हैं। आचार्य द्विवेदी इतिहास लेखन में आचार्य शुक्ल की तरह दावेदारी करने की बजाय अपनी बातों को प्रस्तावित करते हुए आगे बढ़ते हैं। यहाँ इतिहास का खुला रूप है, जो हर नई सम्भावना को आमंत्रित करता है। आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि साहित्य को अनुशासित करती है, तो आचार्य द्विवेदी की आलोचना दृष्टि उसकी लोक ग्राह्यता की हिमायत करती है। आचार्य शुक्ल के यहाँ स्थापनाओं की दावेदारी है तो आचार्य द्विवेदी के यहाँ संभावनाओं का खुलापन। दोनों ही आचार्यों की आलोचना दृष्टि आदिकाल का समग्र मूल्यांकन प्रस्तुत करती है। आदिकाल संबंधी आचार्य शुक्ल के मूल्यांकन के केन्द्र में 'शिक्षित जनता' है, और द्विवेदी जी की आलोचना के केन्द्र में 'लोकजन'। आलोचना दृष्टि का केन्द्र बिंदु ही दोनों आलोचकों की विशिष्टता भी है और यही उनकी सीमा भी निर्धारित करती है।

रामविलास शर्मा आलोचक अधिक हैं और इतिहासकार कम। वे हिंदी साहित्य के इतिहास लेखक न होते हुए भी हिंदी के आरंभिक युग की भाषाई दृष्टि से गहरी पड़ताल करते हैं। उनके अनुसार यह सत्य है कि भारतीय भाषाओं में साहित्य की रचना देर में हुई है, लेकिन इस बात का यह अर्थ नहीं है कि साहित्य का माध्यम बनने से पहले ये भाषाएं अस्तित्व में ही नहीं थीं। देशी या जनपदीय भाषाएँ जो जो संस्कृत और प्राकृत से भिन्न हैं वे भी कम से कम उतनी ही पुरानी हैं जितना कि भरत का नाट्यशास्त्र।

पहली बात कि, किसी भाषा में साहित्य लिखा गया है या नहीं यह उसकी प्राचीनता का परिचायक नहीं है। दूसरी बात यह कि किसी भी साहित्यिक भाषा से देशी भाषा का जन्म नहीं होता है। इस अर्थ में अपभ्रंश से हिंदी देश भाषा की उत्पत्ति की कयास अपने आप ख़ारिज हो जाती है। संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं के समान अपभ्रंश भाषा का साहित्य भी हिंदी के साहित्य के लिए प्रेरणा या परंपरा है। यह हिंदी साहित्य को लेखन का एक प्रदान करता है, जिससे आदिम हिंदी साहित्य प्रेरित है। काव्य रूप और विषय वस्तु के स्तर पर कई जगह यह प्रेरणा समानता की हद तक है, किन्तु इस आधार पर अपभ्रंश और हिंदी को एक कह देना या अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' की संज्ञा देना तर्कसंगत नहीं है। रामविलास शर्मा की यह स्थापना हिंदी भाषा के स्वतंत्र विकास को समझने में मील का पत्थर साबित होती है। इससे पहले हिंदी के साहित्य को अपभ्रंश के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जाता रहा था।

नामवर सिंह मूलतः आलोचक हैं, और अपनी आलोचना की अभिव्यक्ति के लिए इतिहास का सहारा लेते हैं तथा उसका मूल्यांकन करते हैं। उनकी आलोचना दृष्टि आदिकाल की भाषा तथा रासो साहित्य का विशेष मूल्यांकन करती है। वे आचार्य शुक्ल द्वारा रासो साहित्य के बखान को

पुनर्मूल्यांकित करते हुए कहते हैं कि यह साहित्य पुरानी रूढ़ियों से भरा हुआ है, ऐसे में यह नवोन्मेश का प्रतीक कैसे हो सकता है । इन वीरगाथाओं को तत्कालीन जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब नहीं कहा जा सकता है । वे वीरगाथाओं के समानांतर धार्मिक साहित्य को आम जन मानस के अधिक करीब स्वीकार करते हैं । जिस समाज में जाति-पांति जैसी कुव्यवस्था व्याप्त हो जनता का असंतोष धार्मिक मार्ग से ही अभिव्यक्त हो सकता है । तत्कालीन जनता के धार्मिकता और नैतिकता की और झुकाव को नामवर सिंह ने स्वाभाविक माना है । वे रासो कविता के समानांतर धार्मिक साहित्य की स्थापना करते हैं । वे आदिकालीन भाषा की समस्या का विस्तृत विवेचन करते हुए 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' व्याख्यायित करते हैं । उनकी आलोचना दृष्टि अपभ्रंश और हिंदी भाषा के सहसंबंधों नए परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करती है ।

संदर्भ

1. जैन, निर्मला, हिंदी आलोचना का दूसरा पाठ, पृ. सं.- 13
2. राय, अनिल, सं., 'आदिकालीन हिंदी साहित्य अध्ययन की दिशाएं', पृ. सं.- 16
3. मिश्रबंधु, 'मिश्रबंधु विनोद', पृ. सं.- 18
4. राय, अनिल, सं., 'आदिकालीन हिंदी साहित्य अध्ययन की दिशाएं', पृ. सं.- 8
5. वही, पृ. सं.- 8
6. वही, पृ. सं.- 9
7. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं.- 11
8. वही, पृ. सं.- 12
9. सांकृत्यायन, राहुल, 'हिंदी काव्य-धारा', पृ. सं. – 29
10. मेनारिया, पं. मोतीलाल, 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृ. सं. 1
11. वही, पृ. सं.- 3
12. वही, पृ. सं.- 48
13. वही, पृ. सं.- 48-49
14. वही, पृ. सं.- 81
15. वही, पृ. सं.- 81
16. वही, पृ. सं.- 27-28
17. वर्मा, डॉ. रामकुमार, 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ. सं - 3
18. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 33
19. वर्मा, डॉ. रामकुमार, 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ. सं - 30-31
20. वही, पृ. सं.- 31
21. वही, पृ. सं.- 32
22. वही, पृ. सं.- 50
23. वही, पृ. सं.- 50
24. वही, पृ. सं.- 67
25. वही, पृ. सं.- 188
26. वही, पृ. सं.- 189

27.सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं.-191
28.सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं.-224
29.जैन, निर्मला, 'निबंधों की दुनिया:हजारी प्रसाद द्विवेदी', पृ. सं.- 68
30.शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 28
31.जैन, निर्मला, 'निबंधों की दुनिया:हजारी प्रसाद द्विवेदी', पृ. सं.- 36
32.द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं.- 11
33.जैन, निर्मला, 'निबंधों की दुनिया:हजारी प्रसाद द्विवेदी', पृ. सं.- 43
34.शर्मा, रामविलास, 'भाषा और समाज', पृ. सं.- 231
35.वही, पृ. सं.- 186
36.शर्मा, रामविलास, 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं', पृ. सं.- 110
37.शर्मा, रामविलास, 'परंपरा का मूल्यांकन', पृ. सं.- 53
38.सक्सेना, प्रदीप, सं. 'उद्भावना', रामविलास शर्मा पृ. सं.- 243
39.सिंह, नामवर, 'इतिहास और आलोचना', पृ. सं.- 58
40.ज्ञानरंजन, सं., 'पहल', पृ. सं.- 214
41.सिंह, नामवर, 'इतिहास और आलोचना', पृ. सं.- 123
42.वही, पृ. सं.- 58
43.वही, पृ. सं.- 58
44.सिंह, नामवर, 'पृथ्वीराज रासो की भाषा', पृ. सं.-भूमिका 3
45.राय, अनिल, सं., 'आदिकालीन हिंदी साहित्य अध्ययन की दिशाएं', पृ. सं.- 166
46.सिंह, नामवर, 'इतिहास और आलोचना', सत्त-साहित्य-प्रकाशन, पृ. सं.- 123
47. वही, पृ. सं.- 96
48.सिंह नामवर, 'कविता के नए प्रतिमान', पृ. सं.- 78

अध्याय-4

आदिकालीन हिंदी साहित्य के मूल्यांकन की समस्याएँ

क. काल निर्धारण और नामकरण

ख. प्रवृत्ति निर्धारण का सवाल

ग. आदिकालीन साहित्य : ऐतिह्य का प्रश्न

घ. भाषा-समस्या और आदिकाल

आदिकालीन हिंदी साहित्य के मूल्यांकन की समस्याएँ

साहित्यिक विषय-वस्तु की दृष्टि से आदिकालीन साहित्य बहुआयामी है। यहाँ नीति, भक्ति, श्रृंगार, लोक और दरबारी साहित्य की मिली-जुली परंपरा विद्यमान है। तत्कालीन राजनीतिक अस्थिरता ने समाज और संस्कृति को बड़े स्तर पर प्रभावित किया। चूंकि साहित्य समाज सापेक्ष विधा है इसलिए इस काल में राजनीति के समान साहित्य में भी केन्द्रीय प्रवृत्ति का अभाव पाया जाता है। इसी स्थिति को लक्ष्य करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस युग को 'परस्पर विरोधी और स्वतोव्याघातों' का युग कहा था। यह 'परस्पर विरोध' और 'स्वताव्याघात' आदिकालीन साहित्य के मूल्यांकन में तमाम तरह की समस्याएं उत्पन्न करते हैं। आदिकाल में साहित्य और भाषा दोनों स्तरों पर 'संधियों' और 'संक्रमण' का बोलबाला रहा है। इस काल की विविधता या बहुआयामिता के दर्शन इस काल के काल-निर्धारण और नामकरण से लेकर प्रवृत्ति निर्धारण तक में होते हैं। यहाँ साहित्यिक प्रवृत्तियों की बहुलता है, इसीलिए केन्द्रीय प्रवृत्ति का निर्धारण कर पाना एक बड़ी समस्या है। इसके साथ ही साथ ऐतिहासिकता और भाषा के निर्धारण की समस्या आदिकाल की प्रमुख समस्या है

क. काल-निर्धारण और नामकरण –

हिंदी क्षेत्र की व्यापकता का वास्तविक प्रमाण या तो आदिकाल में मिलता है या फिर आधुनिक काल में, भक्तिकाल और रीतिकाल का रचनाक्षेत्र अपेक्षाकृत एक रेखीय है। कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से आदिकाल की बहुआयामिता विशिष्ट है। काव्य-विषय, काव्य-भाषा और काव्य रूप तीनों दृष्टियों से आदिकालीन साहित्य में वैविध्य की भरमार है। आदिकाल के अन्तर्गत रासो और जैन साहित्य पछाह का है। सिद्धों की बानी और विद्यापति पूर्वी क्षेत्र के हैं और नाथ साहित्य समूचे उत्तर भारत के बड़े भूभाग में फैला हुआ है। आदिकाल की यह विविधता आदिकालीन आलोचकों के लिए सबसे बड़ी चुनौती रही है। इसी कारण हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले अधिकतर आलोचकों को काल-निर्धारण और नामकरण में विविध समस्याओं का सामना करना पड़ा है।

अध्याय के इस भाग में हम आदिकालीन हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन में काल निर्धारण और नामकरण के अन्तर्गत आने वाली विभिन्न समस्याओं का विश्लेषण करेंगे। इनमें पहली समस्या

है, संपूर्ण प्राचीन साहित्य का ज्ञात न होना। यह साहित्य संरक्षण के अभाव में या तो लुप्त हो चुका है, या फिर ग्रंथ भंडारों में कहीं दबा हुआ है, जिसकी प्राप्ति अब तक नहीं हो सकी है। दूसरी समस्या है उपलब्ध अथवा ज्ञात साहित्य की प्रामाणिकताका अभाव। तीसरी समस्या है प्राप्त ग्रंथों में प्रक्षिप्त अंशों का जोड़ दिया जाना। आदिकालीन कई रचनाएँ जो समय समय पर खोजी जा सकीं हैं उनमें मूल अंशों के साथ साथ अन्य प्रसंग भी जोड़ दिए गए हैं। चौथी समस्या है कि आदिकालीन साहित्य के परिक्षण की कोई निश्चित कसौटी निर्धारित नहीं की गयी है, इस काल के सभी विचारकों ने अपने-अपने निकष के आधार पर इस काल के साहित्य का मूल्यांकन किया है। काल-निर्धारण के साथ-साथ आदिकाल के नामकरण की मूल समस्या केन्द्रीय प्रवृत्ति का अभाव है। साहित्य के विकास में कई बार विभिन्न भावों का एक साथ विकास होता है। संक्रमणशील ऐसी परिस्थितियों में विशेषकर चेतना की बहुकेंद्रीयता पूरे कालखंड में दिखाई देती है। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का आरम्भ विविध विवादों और अंतर्द्वंद के साथ होता है। हिंदी के आरंभिक काल के काल निर्धारण और नामकरण को लेकर विद्वानों में तमाम मतभेद हैं, जिसका मूल कारण हिंदी साहित्य के अन्तर्गत अपभ्रंश भाषा के साहित्य को स्वीकारने या बहिष्कार करने से जुड़ा हुआ है। अपभ्रंश जब साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई तब यह जन भाषा से दूर होती गयी। भाषा की यह समस्या आदिकाल की सबसे गंभीर समस्या है, जिसके कारण आदिकाल के काल निर्धारण में खासी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का प्रथम प्रयास फ्रेंच विद्वान **गार्सा द तासी** ने किया है, इनका इतिहास ग्रंथ **'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर एंदुई ए ऐंदुस्तानी'** मूलतः फ्रेंच भाषा में लिखा गया है। दो भागों में विभक्त इस पुस्तक का प्रकाशन क्रमशः 1839 ई 1847 ई में हुआ था। इस ग्रंथ में कुल 738 कवियों को अंग्रेजी के वर्णक्रमानुसार संकलित किया गया है। कालविभाजन के अभाव में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस ग्रंथ को कवि वृत्त-संग्रह कहकर इसका सही परिचय दिया है। इस ग्रंथ की उपयोगिता और उपलब्धि इसी बात में निहित है कि यह हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का प्रथम प्रयास है।

शिव सिंह सेंगर ने 1888 ई. में **'शिव सिंह सरोज'** नामक महत्वपूर्ण इतिहास ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में 838 भाषा-कवियों का जीवन-परिचय तथा उनकी कविताओं के उदाहरण दिए गए हैं। गार्सा द तासी के ग्रंथ के समान इस ग्रंथ में भी काल-विभाजन या नामकरण का कोई प्रयास नहीं किया गया है। यह ग्रंथ भी पूर्ववर्ती ग्रंथ की तरह ही आगे आने वाले इतिहास लेखकों के लिए प्राथमिक सामग्री जुटाने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। जार्ज ग्रियर्सन और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस ग्रंथ से आधार सामग्री ग्रहण करते हुए शिव सिंह सेंगर के प्रति आभार व्यक्त किया है।

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का प्रथम प्रयास सर **जार्ज ग्रियर्सन** ने किया है। ग्रियर्सन ने आदिकाल को चारण काल कहते हुए उसका रचनाकाल 700 से 1300 ई. तक निर्धारित किया है। वे इस काल-खण्ड में नौ कवियों को शामिल करते हुए उनका परिचय देते हैं। सात सौ तेरह ई. में उपस्थित उज्जैन निवासी पुष्य कवि को उन्होंने भाषा (काव्य) का प्राचीनतम कवि माना है। पुष्य कवि के बाद खुमान सिंह, केदार कवि, कुमारपाल, अनन्यदास, चन्द्र कवि, जगनिक, शारंगधर कवि और जोधराज को स्थान दिया गया है। उनके इस ग्रंथ में काल निर्धारण तो किया गया है लेकिन जार्ज ग्रियर्सन इस काल निर्धारण की कोई तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत नहीं करते हैं। इसी सीमा को रेखांकित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'इनमें कवियों और रचनाओं के विवरण संग्रह कर दिए गए थे, पर उनको एक ही जीवंत प्रवाह के चिह्न रूप में देखने का प्रयत्न नहीं था'।

आदिकाल का नामकरण करते हुए जार्ज ग्रियर्सन ने इस कालखण्ड को 'चारण काल' कहा है। उन्होंने यह नाम आदिकाल की प्रवृत्ति विशेष को केन्द्र में रखकर दिया है। चारण परंपरा उस युग की प्रधान प्रवृत्ति थी। उनके काल निर्धरण और नामकरण में अंतर्विरोध है। एक तरफ वे आदिकाल का आरभ 700 ई. से मानते हैं वहीं उसका नामकरण वे ऐसी प्रवृत्ति के आधार पर करते हैं जिसका विकास हमें दसवी शताब्दी के आस पास देखने को मिलता है। 700 ई. का समय सिद्धों और नाथों के उभार का समय है। केन्द्रीय सत्ता के टूटने के साथ ही समाज में सामंतों का उदय होता है, साहित्य में चारणों का प्रवेश सामंती परम्परा के समानांतर ही होता है। काल-निर्धारण और नामकरण में तारतम्यता न होने के कारण यह नामकरण आदिकाल के लिए सहज स्वीकार्य नहीं हो पाया।

मिश्रबंधुओं ने आदिकाल को प्रारम्भिक काल की संज्ञा दी है, जिसको उन्होंने पूर्व आराम्भिक और उत्तर आरंभिक भागों में विभाजित किया है। **'मिश्रबंधुविनोद'** के अन्तर्गत 'चंद-पूर्व की हिंदी' का समय सन् 643 से 1343 ई. तक स्वीकार किया है। इस काल-खण्ड को उन्होंने 'पूर्व प्रारंभिक काल' भी कहा है, लेकिन इस पूर्वप्रारंभिक काल से आदिकालीन हिंदी कविता की निर्मिति कैसे होती है, इसका कोई विश्लेषण नहीं किया गया है। इस इतिहास ग्रंथ में भी पूर्ववर्ती इतिहास ग्रंथों की तरह ही कवि परिचय तो है, लेकिन उनके मूल्यांकन का कोई प्रयास नहीं किया गया है।

आदिकाल को आरंभिक काल कहने के पीछे मिश्र बंधुओं ने कोई तर्क या व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है। नामकरण की दृष्टि से यह नाम बेहद साधारण है। साहित्य के काल खण्ड का नामकरण उस काल की विशेषताओं या प्रवृत्तियों की प्रतिध्वनि होना चाहिए। यही नामकरण की सार्थकता है। आरंभिक काल नामकरण से उस काल के किसी भी मनोभाव, आशाओं, जनरुचियों आदि का भान नहीं होता है इसीलिए इस नाम को एक सामान्य नाम ही कहा जाना चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के आरंभिक काल को वीरगाथा काल या आदिकाल कहते हुए इसका काल-निर्धारण संवत 1050 से 1375 तक निर्धारित किया है। आचार्य शुक्ल के अनुसार - "प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिंदी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है। उस समय जैसे 'गाथा' कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही 'दोहा' या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या प्रचलित काव्यभाषा का पद्य समझा जाता था। अपभ्रंश या प्रकृताभास हिंदी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है। मुंज और भोज के समय (संवत् 1050) के लगभग तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिंदी साहित्य का आदिकाल संवत् 1050 से लेकर संवत् 1375 तक अर्थात महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है। यद्यपि जनश्रुति इस काल का आरंभ और पीछे ले जाती है और संवत् 770 में भोज के पूर्वपुरुष राजा मान के सभासद पुष्य नामक किसी बंदीजन का दोहों में एक अलंकार ग्रंथ लिखना बताती है, पर इसका कहीं कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।"[1]

काल निर्धारण के संदर्भ में उनके दो तर्क हैं, शिक्षित जनता की चित्तवृत्ति के प्रतिबिम्ब का स्पष्ट अंकन तथा किसी विशेष ढंग की रचना की अधिकता उनके यही तर्क काल निर्धारण की आधारभूमि तैयार करते हैं, और इन्ही के आधार पर वे आदिकाल का नामकरण करते हैं। इन तर्कों के अतिरिक्त साहित्यिक सामग्री की अनुपलब्धता भी उनकी बड़ी समस्या थी। काल निर्धारण के सम्बन्ध में वे स्वयं कहते हैं - "इस संदिग्ध सामग्री को लेकर जो थोड़ा बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें संतोष करना पड़ता है"।[2] आचार्य शुक्ल को इस बात का अनुमान था कि पर्याप्त रचनाओं की उपलब्धता के अभाव में वीरगाथा काल का जो काल-निर्धारण किया जा रहा है, उसके लिए सामान्य जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब, रचनाओं की प्रचुरता या किसी एकाधिक ख्यातिप्राप्त कृति की लोकप्रियता, इनमें से कोई भी तत्व न वीरगाथा काल के साथ है और न काल निर्धारण के साथ। यही कारण है कि परवर्ती आलोचकों ने चाहे वे उनके समर्थक ही क्यों न रहे हों आचार्य शुक्ल के इस मत की पुष्टि का कोई स्पष्ट आधार प्रस्तुत नहीं कर सके।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य लेखन की विधेयवादी दृष्टि अपनाते हुए आदिकाल को वीरगाथा काल नाम दिया है। उन्होंने इस काल की सामाजिक राजनीतिक स्थिति को नामकरण का आधार बनाया है। नामकरण के पीछे उनका तर्क है कि - "आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है, धर्म, नीति, श्रृगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोकप्रवृत्ति के उपरांत जब मुसलमानों की चढ़ाइयों का प्रारंभ होता है तब से हम हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप से

बंधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, श्रृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे, उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबंध परंपरा 'रासो' के नाम से पाई जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथाकाल' कहा है"।[3]

आचार्य शुक्ल की 'शिक्षित जनता' केन्द्रित इतिहास-दृष्टि, आरंभिक साहित्य के 'गैर शास्त्रीय' साहित्य को नकारकर वर्ग विशेष के साहित्य को नामकरण का आधार बनाती है। सिद्ध-नाथ साहित्य के प्रति उनकी दृष्टि स्पष्ट एकांगी थी। वे कहते हैं - "उनकी रचनाएँ तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं। उनको उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए जिस रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रंथ"।[4] सिद्धों-नाथों के साहित्य का आधार धर्म, तंत्र-मन्त्र अवश्य था लेकिन उन्होंने सर्वप्रथम सामाजिक रूढ़ियों और विषमताओं को रेखांकित करते हुए उन पर चोट की। सिद्ध-नाथ साहित्य का विश्लेषण करने का अर्थ था सामाजिक विषमताओं और कुरीतियों की आलोचना करना, जिसका न तो आचार्य शुक्ल के पास समय था और न ही रुची। आचार्य शुक्ल 'शुद्ध' साहित्य का चयन करते समय यह भूल जाते हैं कि यदि साहित्य में शुद्धता को मूल्यांकन का पैमाना बनाया जायेगा तो कबीर, निराला, प्रेमचंद, दलित साहित्य, स्त्री साहित्य, 'थर्ड-जेंडर' साहित्य आदि एक बड़ा हिस्सा साहित्य की परिधि से बाहर हो जायेगा। यह सभी साहित्य पारंपरिक साहित्य लेखन से अलहदा हैं। सिद्ध-नाथ-जैन साहित्य ने संक्रांति के उस युग में आम जन-मानस के सामने 'जोई-जोई पिंडे, सोई ब्रह्मांडे' का एक नया विकल्प प्रस्तुत किया। यदि धार्मिकता को इस साहित्य की कमजोरी मानकर इस पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाया जायेगा तो हम किस आधार पर भक्ति काल को हिंदी साहित्य का 'स्वर्ण युग' कह सकेंगे। यदि भक्ति आंदोलन के लिए धर्म प्रेरणा है, तो वही धर्म सिद्ध-नाथ साहित्य के लिए साम्प्रदायिक कैसे हो जायेगा। आचार्य शुक्ल के 'साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र' वाले तर्क के जवाब में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि - "इधर जैन अपभ्रंश-चरितकाव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है, वह सिर्फ धार्मिक संप्रदाय की मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदंत और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य क्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगा तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा"।[5] आचार्य शुक्ल की 'शुद्धतावादी' दृष्टि जैन काव्यों में जीवन की सहज अनुभूतियों का दर्शन नहीं कर पाती है, लेकिन

इन्हीं रचनाओं को आचार्य द्विवेदी विजयपाल रासो या हम्मीर रासो के समकक्ष देखते हैं-जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हो उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है, जिसमें धर्म भावना प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य कर रहा हो और साथ ही हमारी सामान्य मनुष्यता को आंदोलित, मथित और प्रवाहित कर रही हो। इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ, जो मूलतः जैनधर्म भावना से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं, निःसंदेह उत्तम काव्य हैं और विजयपाल-रासो और हम्मीर-रासो की भांति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य हो सकती हैं। यही बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है"।[6]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिन बारह रचनाओं को केन्द्र में रखकर इस काल को वीरगाथाकाल कहा है, उनमें से अधिकांश रचनाएँ, अप्रामाणिक और अप्राप्य हैं। उनके द्वारा चयनित रचनाओं में विद्यापति की 'पदावली' और 'कीर्तिलता' तथा नरपति नाल्ह द्वारा रचित 'बीसलदेव रासो' ही प्रामाणिक रूप में उपलब्ध हैं। बाकी सभी ग्रंथों की प्रामाणिकतासंदिग्ध है। 'हम्मीर रासो', 'जयचंद प्रकाश' और 'जय मयंक जस चन्द्रिका' उपलब्ध नहीं हैं। हम्मीर को केन्द्र में रखकर एक पद 'प्राकृत पैन्गलम' में मिलता है, जिसको शुक्ल जी 'हम्मीर रासो' का ही मानते हैं। 'खुमाण रासो' में नौवीं शताब्दी के खुम्मान के युद्ध का वर्णन है, लेकिन इसमें सोलहवीं शताब्दी के परवर्ती शासकों महाराणा प्रताप सिंह और राजसिंह का भी वर्णन मिलता है। जिससे इस रचना के नौवीं शताब्दी में रचे जाने पर संदेह होता है। 'परमाल रासो' लोक गायन परंपरा का ग्रंथ है, लोक गीतों की विशेषता उनका प्रवाह है, ऐसे में 'परमाल रासो' की प्रामाणिकताका प्रश्न ही नहीं उठता है। जयानक द्वारा 'पृथ्वीराज विजय' का प्रकाशन कराये जाने के बाद से 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकतापूर्णतयः संदिग्ध हो गयी। आचार्य शुक्ल की इतिहासदृष्टि पर उनकी मर्यादावादी दृष्टि का आग्रह इतना तीव्र था की वे प्राप्त सामग्री (सिद्ध, नाथ, जैन) को त्यागकर अप्रामाणिक सामग्री (अधिकतर रासो ग्रंथ) को अपने मूल्यांकन का आधार बनाते हैं। इस नामकरण में वे जैन साहित्य की विपुल सामग्री के साथ-साथ 'संदेश रासक', 'ढोला मारूरा दूहा', 'भविस्यत कथा' जैसी महत्वपूर्ण लोक साहित्य की रचनाओं की भी अनदेखी करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के नामकरण संबंधी इस मताग्रह पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी स्पष्ट कहते हैं कि आज से कोई बारह वर्ष पूर्व मैंने कहा था कि राजपूताने में प्राप्त कुछ काव्य ग्रंथों के आधार पर इस काल का कोई भी नामकरण उचित नहीं है।

आचार्य शुक्ल द्वारा आदिकाल में बनाया गया 'फुटकल खाता' उनके नामकरण संबंधी दृष्टिकोण पर प्रश्नचिन्ह लगाता है। फुटकल खाता बनाने के पीछे आचार्य शुक्ल की विधेयवादी दृष्टि का आग्रह है। जो कवि या रचनाएँ उनके 'कार्य-कारण नियम' पर खरी नहीं उतरती हैं उसको या तो वे नकार देते हैं या फिर फुटकल खाते में स्थान देते हैं। इस खाते में उन्होंने विद्यापति और

अमीर खुसरो को रखा है । यहाँ सवाल यह उठता है कि यदि रीतिकाल में सिर्फ बिहारी की रचनाओं का मूल्यांकन करने के लिए 'रीतिसिद्ध काव्य धारा' का निर्माण किया जा सकता है, तो फिर विद्यापति जैसे लोक ग्राही कवि की कविता का मूल्यांकन फुटकल खाते में किस तरह से संभव है । नामवर सिंह ने विद्यापति को आधुनिक भाषाओं में 'लिरिक' का पहला महान कवि मानते हुए यह सवाल उठाया है कि यदि ऐसा कवि साहित्यिक इतिहास के अन्तर्गत एक काल के फुटकल खाते में स्थान पाए तो क्या उस काल विभाजन का समूचा सिद्धान्त ही संदिग्ध नहीं हो जाता ? नामकरण की विभिन्न कसौटियों पर विचार करते हुए आदिकाल का वीरगाथा काल नाम सटीक नहीं बैठता । जिन रचनाओं का अस्तित्व ही संदेहास्पद हो उनके आधार पर किसी काल खण्ड का नामकरण न तो तर्कसंगत है न ही प्रामाणिक ।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने आदिकाल का काल निर्धारण सन 760 ई. से सन 1300 ई. तक मानी है । वे सिद्ध सरहपा को हिंदी का प्रथम कवि मानते हुए उनका जन्मकाल 769 ई. निर्धारित करते हैं । सरहपा के जन्मकाल के आस-पास से ही पं. राहुल सांकृत्यायन आदिकाल का आरम्भ निर्धारित करते हैं। अपने प्रसिद्ध काव्य संकलन 'हिंदी काव्यधारा' में उन्होंने आरंभिक काल के लिए 'सिद्ध-सामंत काल' नाम प्रस्तावित किया है । इस नामकरण का आधार आदिकाल में रचा गया साहित्य है । उनका तर्क है कि आदिकाल की प्रधान रचनाएँ या तो सिद्धों द्वारा रची गयी हैं या फिर सामंतों के आश्रय में लिखी गयी हैं । इस नामकरण के माध्यम से उन्होंने तत्कालीन समाज के वास्तविक स्वरूप को को व्याख्यायित किया है । 'सिद्ध' से उनका तात्पर्य सिद्ध साहित्य मात्र से ही नहीं है । उनके अनुसार आदिकाल में सिद्धियाँ उसी प्रकार से प्रेरणा का विषय थीं जैसे कि भक्तिकाल में भक्ति । सिद्धियों के माध्यम से बौद्ध साधक तत्कालीन समाज में व्याप्त वर्णव्यवस्था, असमानता के विरुद्ध अपना प्रतिरोध दर्ज करा रहे थे । इसीलिए उनकी रचनाओं में उन तमाम लोगों और जातियों का प्रतिनिधित्व मिलता है, जिनको तत्कालीन समाज व्यवस्था ने हाशिये पर रखा था । इस काव्य की अशास्त्रीयता और अनगढ़पन के मूल में भी यही कारण है ।

सिद्ध के साथ ही राहुल सांकृत्यायन इस युग को 'सामंत' काल कहते हैं । जिस प्रकार से सिद्धियाँ इस युग में प्रेरणा थी उसी प्रकार सामंत कविता का आश्रय थे । केन्द्रीय सत्ता के विखंडन के साथ ही राजनीति में सामंत वर्ग का उदय होता है । यह वर्ग राजनीति के साथ साथ जीवन व्यवस्था और साहित्य को भी तेजी से प्रभावित करता है । सामंत कवियों के आश्रयदाता ही नहीं उनके काव्य नायक भी थे । आपसी कलह और विलास में डूबे इस वर्ग का गौरवगान करना आश्रयी कवियों की प्रेरणा और मजबूरी दोनों थी । सामंतों का आश्रय कवियों को धन के साथ-साथ काव्य के स्थायी होने का आश्वासन भी देता था । इसीकारण इस युग में कवियों ने बढ़ चढ़ कर सामंतों की विजयगाथाएं लिखीं हैं । आचार्य शुक्ल के वीरगाथा काल नामकरण के मूल में यही सामंतवादी

समाज व्यवस्था और उससे उत्पन्न साहित्य है । राहुल सांकृत्यायन द्वारा प्रस्तावित किया गया नामकरण 'सिद्ध सामंत काल' काफी हद तक आदिकाल की आतंरिक संवेदना को प्रकट करता है । इस नामकरण के समर्थन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि – "विषय-वस्तु को दृष्टि में रखकर राहुल सांकृत्यायन ने इस काल का एक और नाम सुझाया है जो बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है । यह नाम है - 'सिद्धसामंत-काल'। इस काल का जो भी साहित्य मिलता है, उसमें सिद्धों का लिखा धार्मिक साहित्य ही प्रधान है । यद्यपि यह साहित्य विशुद्ध काव्य की कोटि में नहीं आ सकता है, पर नाना प्रकार की सिद्धियाँ इस काव्य में उसी प्रकार प्रेरणा का विषय रहीं, जिस प्रकार परवर्ती काल में भक्ति । वस्तुतः, काल-प्रवृत्ति का निर्णय प्राप्त ग्रंथों की संख्या द्वारा नहीं हो सकता, बल्कि उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकता है । प्रभाव उत्पादक और प्रेरणा-संचारक तत्व ही साहित्यिक काल के नामकरण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है । ... फिर 'सामंत काल' में 'सामंत' शब्द से उस युग की राजनीतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण-जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणास्रोत का भी पता चलता है । 'सामंत' जिस काव्य का प्रधान आश्रयदाता है, उसमें उसकी झूठी-सच्ची विजयगाथाओं और कल्पित-अकल्पित प्रेम-प्रसंगों का होना उचित ही है । एक के द्वारा वह वीर रस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा श्रृंगार रस का आलंबन । सामंत को दोनों ही चाहिए। इस प्रकार, इस शब्द में इस काल की मुख्य प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का गुण है ।[7]

आचार्य द्विवेदी द्वारा समर्थित होने के बाद भी इस नामकरण को हिंदी साहित्य में व्यापक स्वीकृति नहीं मिल पाई । इसके अतिरिक्त राहुल जी ने आदिकाल का आरम्भ सिद्ध साहित्य से माना है, लेकिन सिद्धों की भाषा को लेकर हिंदी साहित्य में बहुत विवाद हैं । सिद्ध साहित्य को अपभ्रंश के अन्तर्गत रखा जाये या फिर हिंदी के अन्तर्गत यह विवादित विषय है । उनके अनुसार हिंदी साहित्य का वास्तविक आरम्भ दसवीं शताब्दी के आस-पास ही होता है, इससे पहले के साहित्य को वे अपभ्रंश भाषा का साहित्य मानते हैं । आदिकाल को सामंतकाल कहने से रासो साहित्य से इतर रचनाओं की अनदेखी होती है । जबकि इस काल का एक बड़ा भाग लोक चेतना का सहज अंग है । इस परंपरा में विद्यापति की रचनाएँ, अमीर खुसरो की पहेलियाँ, मुकरियां, ढोला मरूरा दूहा, संदेश रासक जैसे ग्रंथ पीछे छूट जाते हैं । नामकरण कीइस समस्य को केन्द्र में रखते हुए योगेन्द्र प्रताप सिंह कहते हैं कि – "सामंत शब्द राजाश्रित काव्य के लिए एक कथित व्यंजना है जबकि राजाश्रय से भिन्न संदेश रासक आदि अनेक काव्य लिखे गए । इस युग की साहित्यिक कविता की सबसे बड़ी पहचान 'राजाश्रय' की न होकर काव्य वर्णकों एवं वर्णन रूढ़ियों के निस्तारण की है और धर्म, श्रृंगार एवं वीर तथा शौर्य भाव की समस्त कविताओं में कविता तत्व

की संरक्षा के लिए काव्य वर्णन की परंपरागत वर्णन परिपाटियों की संरक्षा की वृत्ति सर्वत्र मिलती है। 'प्राकृत पैंगलम्', राउल वेलि' तथा 'वसंत विलास' जैसे काव्यग्रंथ इस तथ्य के प्रमाण हैं"।[8] अतः 'सिद्ध-सामंत काल' जैसे नामकरण आदिकाल की लोकचेतना को अभिव्यक्त नहीं कर सके इसीलिए इस नाम को व्यापक सहमति प्राप्त नहीं हो पायी।

डॉ रामकुमार वर्मा ने सन् 1938 में 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' नामक इतिहास ग्रंथ में आदिकाल के लिए 'संधिकाल और चारण काल नाम प्रस्तावित किया है। आदिकाल की दो महत्वपूर्ण विशेषताओं को केन्द्र में रखकर यह नामकरण किया गया है। उन्होंने संवत 750 से संवत 1000 तक संधिकाल का रचनाकाल निर्धारित किया है। डॉ रामकुमार संधिकाल की परंपरा का आरम्भ आदि कवि सरहपा के जन्म से भी पहले स्वीकार करते हैं। इस काल-निर्धारण के अन्तर्गत उन्होंने अपभ्रंश से निकलने वाली हिंदी की रूपरेखा बताते हुए उसका विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वे इसका स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं - "जहाँ से भाषाओं या दो शैलियों की संधि होती है और साहित्य के इस काल को संधिकाल कहना ही समीचीन है"।[9] भाषा के साथ ही वे वज्रयान और जैन धर्म की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। चारण काल का काल निर्धारण उन्होंने संवत 1000 से संवत 1375 तक माना है। चारण काल की सीमानिर्धारण के बारे में उनका कहना है कि – "यों तो देश में मुसलमानों का आगमन ईसा की सातवीं शताब्दी से ही हो गया था, किन्तु देश की विचारधारा पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व नहीं पड़ सका। उन्होंने देश की राजनीतिक परिस्थितियों को प्रभावित किया और राजनीतिक परिस्थितियों ने हमारे साहित्य की गति-विधि पर विशेष प्रभाव डाला"[10]। यह 'विशेष प्रभाव' ही चारण कविता की आधार भूमि है।

डॉ रामकुमार वर्मा द्वारा किया गया नामकरण भाषा और संवेदना के दो भागों में विभाजित है, पहला भाग भाषा की संधि अवस्था अर्थात प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी की मिली जुली अवस्था को रेखांकित करता है, जो उस समय अपना आकार ग्रहण कर रही थी। चारण काल नामकरण उस काल की राजनीतिक परिस्थितियों से उत्पन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों का सूचक है। डॉ वर्मा द्वारा सुझाया गया नामकरण काफी हद तक आदिकाल की संवेदना को प्रकट करता है, लेकिन काल निर्धारण और नामकरण में यहाँ एक तरह का अंतर्विरोध दिखाई देता है। डॉ वर्मा ने चारण काल का समापन समय चौदहवीं शती के आस पास माना है, लेकिन इसके आरंभिक समय को लेकर वे स्पष्ट तर्क प्रस्तुत नहीं करते हैं। इस काल का आरम्भ वे पुंड या पुष्य, दलपति विजय या भुवाल कवि से मानते हैं, जिनकी कोई भी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने संवत 770 को पुष्य कवि का समय बताया है, यदि चारण काल का प्रथम कवि संवत 770 का है तो उसका काल निर्धारण संवत 1000 से कैसे माना जा सकता है। उनके अनुसार 'बीसलदेव रासो' चारण काल की प्रथम कृति है,

जिसका रचनाकाल संवत 1073 है। किसी काल खण्ड के प्रथम कवि और प्रथम रचना के निर्धारण में समय का इतना फर्क इस नामकरण पर प्रश्नचिन्ह लगाता है। काल निर्धारण में आने वाली समस्याओं को रेखांकित करते हुए वे स्वयं कहते हैं कि - "कवियों का पूर्ण परिचय न पाने के कारण हमें इतिहास में कहीं 'लगभग' का सहारा लेना पड़ता है, कभी बाह्य साक्ष्य का। ... तिथियों को निश्चयात्मक रूप से न जान सकने के कारण हमें साहित्य के काल विभाजन में भी कठिनाई पड़ती है। ऐसी परिस्थिति में भाषा तथा शैली में परिवर्तन, धार्मिक दृष्टिकोण से भेद अथवा राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर ही काल-विभाजन की रेखा खींचनी पड़ती है। कवियों का अपना परिचय न देने का संकोच हमारे सामने उनका अक्षम्य अपराध समझा जाना चाहिए"[11]। इस नाम को व्यापक स्वीकृति न मिल पाने की एक वजह यह भी है कि, संधि और चारण काल कहने से सिर्फ भाषा की स्थिति और चारण काव्य परंपरा का ही परिचय मिलता है, जबकि आदिकाल धर्म, वीर,श्रृगार, लोक आदि तमाम प्रवृत्तियों का समुच्चय है। यह नामकरण आदिकाल की अन्य महत्वपूर्ण काव्य प्रवृत्तियों और कवियों का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। डॉ गणपति चन्द्र गुप्त 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहस' में कहते हैं कि ऐतिहासिक व्याख्या की दृष्टि से यह इतिहास आचार्य शुक्ल के गुण-दोषों का ही विस्तार है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी के आरंभिक काल को आदिकाल नाम दिया है। वे आदिकाल का समय सन 1000 से सन 1400 तक निर्धारित करते हैं। उनके अनुसार दसवीं से चौदहवीं शती के बीच की हिंदी भाषा अपभ्रंश से अलग होकर अपने स्वतंत्र रूप में विकसित होने लगी थी। इस परिपक्वता तथा पृथकता को हिंदी भाषा का आदिकाल कहने में उनको कोई आपत्ति नहीं है। उनके अनुसार – "इसीलिए दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोकभाषा साहित्य अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा को साहित्य कहा जा सकता है। वह हिंदी की आधुनिक बोलियों में से किसी किसी के पूर्व रूप में ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिंदी साहित्य के इतिहास लेखक दसवीं शताब्दी से इस साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं। इसी समय से हिंदी भाषा का आदिकाल माना जा सकता है"[12]। यद्यपि आदिकाल नामकरण की अवधारणा आचार्य शुक्ल के इतिहास ग्रंथ में भी मिलती है, लेकिन वहां उन्होंने यह नाम सिर्फ प्रस्तावित भर किया था। काल खण्ड का मूल्यांकन उन्होंने 'वीरगाथाकाल' के अन्तर्गत ही किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भाषा और संवेदना दोनों दृष्टियों से हिंदी के आरंभिक काल को आदिकाल कहा है। आदिकाल भक्ति, नीति, श्रृंगार, वीर, लोकसमाज जैसी विविध काव्य प्रवृत्तियों की संगम स्थली है। इसलिए इस काल का नामकरण किसी भी एक प्रवृत्ति को केन्द्र में रखकर नहीं किया जा सकता है। इन सभी प्रवृत्तियों में समन्वय करते हुए आचार्य द्विवेदी का कथन है कि - "कुछ आलोचकों को इस काल का

नाम आदिकाल ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इस पुस्तक में भी इस काल को इसी नाम से कहा गया है। इस नाम से एक भ्रामक धारणा की सृष्टि होती है। ... यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है"[13] । आदिकाल नाम नामकरण की दृष्टि से भले ही एक साधारण सा नाम हो, लेकिन यह नामकरण अपने आप में आदिकालीन सभी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। यह नामकरण आदिकाल में उपस्थित विभिन्न प्रवृत्तियों की आदिम अवस्था का परिचायक है। यही कारण रहा है आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रस्तावित यह नाम विद्वानों में सहज स्वीकार किया गया है।

गणपति चन्द्र गुप्त ने 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' लिखा है, जिसका प्रकाशन सन 1965 ई. में हुआ था। उन्होंने हिंदी साहित्य के संपूर्ण इतिहास को दो बड़े काल खण्डों में विभक्त किया है, पहला भाग है सन 1857 के पहले का समय और दूसरा भाग है सन 1857 के बाद का समय। 1857 ई. उनके कालविभाजन की मानक रेखा है। यह काल-विभाजन राजनीतिक इतिहास की तर्ज पर किया गया है। उनके अनुसार जिस तरह से 1857 इतिहास में मुस्लिम राज के समापन और अंग्रेजी शासन की स्थापना के मध्य की विभाजक रेखा है, ठीक उसी प्रकार से यह हिंदी साहित्य में भी यह मध्यकाल की समाप्ति और आधुनिक युग के आरम्भ की सूचना देता है। हिंदी साहित्य का काल निर्धारण करते हुए उन्होंने आदिकाल का आरम्भ सन 1184 के शालिभद्र सूरि कृत 'भरतेश्वर बाहुबली रास' से माना है और इसका समापन वर्ष वे सन 1350 ई. निर्धारित करते हैं। काल-निर्धारण के पीछे उनका तर्क है कि भाषा के उदभव के पूर्व ही उसके साहित्य का अविर्भाव मानना एक विचित्र कल्पना है। इस काल निर्धारण के पूर्व की कृतियों को अपभ्रंश भाषा की कृतियाँ मानकर उन्होंने छोड़ दिया है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिस प्रकार 'भरतेश्वर बाहुबली रास' में हिंदी के आरंभिक नमूने देखकर शालिभद्र को हिंदी का प्रथम कवि स्वीकार किया गया है, उसी आधार पर योगेंदु मुनि को हिंदी का प्रथम कवि क्यों न माना जाये ? भरतेश्वर बाहुबली रास से पूर्ववर्ती तीन महत्वपूर्ण रास ग्रंथ और मिलते हैं। 'उपदेश रसायन रास', संदेश रासक' और 'मंजु रासो' इन रासो ग्रंथों के अतिरिक्त 'राउल बेलि', 'पाहुड दोहा' तथा 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' भी पूर्ववर्ती रचनाएँ हैं। इन सभी रचनाओं को छोड़कर वे भरतेश्वर बाहुबली रास को ही प्रथम रचना क्यों मानते हैं, और इन सभी ग्रंथों में क्या कमी है, जिसके आधार पर ये रचनाएँ प्रथम ग्रंथ न बन सकीं, इसका कोई तार्किक जवाब वे नहीं देते हैं।

डॉ गणपति चन्द्र गुप्त ने आदिकाल को 'शून्यकाल' कहा है। इस नामकरण के पीछे उनका मत है कि - "कुछ विद्वानों ने इस स्थिति को सुधारने के लिये इस काल के नए नामकरण 'आदिकाल' का सुझाव दिया, किन्तु हमारे विचार से केवल नाम बदल लेने मात्र से इस असंगति का निराकरण नहीं हो सकेगा। जिस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, उसका नामकरण कैसा। यदि कोई नामकरण किया

ही जाता है तो आदिकाल की अपेक्षा शून्य काल नाम अधिक अच्छा रहेगा"।[14] डॉ गुप्त द्वारा किया गया यह नामकरण आदिकाल की समस्त विशेषताओं की अनदेखी करता हुआ प्रतीत होता है। यही नहीं इस नामकरण से एक तरह की नकारात्मकता का भी अहसास होता है। आदिकाल, भविष्य में विकसित होने वाली साहित्यिक प्रवृत्तियों का जन्मकाल है, इसको शून्यकाल कहकर साहित्य के आदिम स्वरूप को ख़ारिज नहीं किया जा सकता है।

डॉ हरीश ने आदिकाल का काल निर्धारण सन 950 से सन 1450 तक निश्चित किया है। उन्होंने रोड़ा कवि कृत 'राउल बेलि' तथा धनपाल द्वारा लिखित 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' कृतियों को प्राचीनतम माना है। ये दोनों कृतियाँ उत्तर अपभ्रंश भाषा की रचनाएँ हैं, इसी कारण से डॉ हरीश आदिकाल का नामकरण 'उत्तर अपभ्रंश काल' करते हैं। आदिकाल के नामकरण का प्रारंभिक भाग इन दोनों कृतियों के आधार पर किया गया है। नामकरण का अत्यधिक सरलीकरण होने के कारण यह नाम विद्वानों द्वारा स्वीकार नहीं किया गया।

शून्यकाल के समानांतर **डॉ. पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेस्ठ** ने आदिकाल को 'अन्धकार काल' कहा है। उन्होंने यह नाम आदिकाल में लिखे गए साहित्य, उसका सीमांकन, प्रवृत्तिगत विशेषताओं में प्राप्त अस्पष्टता को केन्द्र में रखकर किया है। किन्तु यह नामकरण आदिकाल की विशेषताओं को नकारते हुए इस काल खंड की बहुआयामिता को इसकी सीमा सिद्ध करता है, जबकि वास्तव में बहुआयामिता इस काल की सबसे बड़ी विशेषता है। इस काल खण्ड का अनिश्चित, अनगढ़ साहित्य ही भविष्य के परिपक्व् साहित्य की नींव का काम करता है। डॉ कुलश्रेष्ठ अन्धकार काल कहने के पीछे के अपने मंतव्य की भी कोई स्पष्ट या तार्किक व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। सर्वस्वीकृति के अभाव में विद्वानों द्वारा इस नामकरण को ख़ारिज कर दिया गया।

डॉ रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने आदिकाल के काल निर्धारण को अधिक विस्तार देते हुए इसकी अवधि सं. 1000 से 1400 तक मानी है। आदिकाल को उन्होंने 'बाल्यावस्था काल' कहते हुए इसके साहित्य को 'जयकाव्य' कहने का तर्क दिया है। जयकाव्य कहने के पीछे उन्होंने कोई स्पष्ट तर्क नहीं दिया है। आदिकाल को जय काव्य कहना उतना ही अतार्किक है, जितना की इसको वीरगाथा काल कहना। पर्याप्त समर्थन के अभाव में साहित्य में यह नाम स्वीकार नहीं किया गया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल का नामकरण 'बीज बपन काल' रखा है। उनके अनुसार इस काल खण्ड में परवर्ती हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के बीज मिलते हैं। इसी आधार पर उन्होंने आदिकाल का नाम बीज बपन कला रखा है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल के नामकरण का कोई विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया है। अन्य नामों की तरह यह नाम भी विद्वानों में अधिक लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सका।

डॉ माता प्रसाद गुप्त ने 'रासो काव्य विमर्श' नामक पुस्तक में आदिकाल की प्राचीनता की ओर संकेत किया है। रासो काव्य परंपरा में उनके अनुसार सबसे प्राचीन कृति 'मंजु रासो' है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अनुसार इस रचना का रचनाकाल अनुमानतः संवत् 1050 से 1190 है। इन परंपराओं की कृतियाँ प्रायः संवत् 1400 तक लिखी जाती रही हैं। अतः इस विवेचन को केन्द्र में रखकर 'रासो या रासक' परंपरा का काल निर्धारण संवत् 1000 से 1400 तक स्वीकार किया गया जा सकता है।

हिंदी साहित्य के आदिकाल का काल-निर्धारण विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार किया है, लेकिन काल निर्धारण का यह प्रश्न आज भी विवादित ही है। आदिकाल की आरंभिक सीमा के मूल में भाषा की समस्या है। यह समस्या हिंदी और उसकी पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषा के सहसंबंधों की समस्या है। हिंदी बोलियों में साहित्य लिखे जाने से पहले अपभ्रंश साहित्य की भाषा थी। इस समय मध्य देश की साहित्यिक भाषा मुख्यतः अपभ्रंश ही थी, लेकिन इस साहित्यिक भाषा के समानांतर ही 'देशी भाषा ', 'अवहट्ठ' आदि भाषाएँ भी चलन में थीं। यह अवश्य था की इन भाषाओं के मध्य का अंतर इतना झीना था कि अंतर कर पाना मुश्किल था। 700 ई. से 1000 ई. का युग अपभ्रंश और हिंदी भाषा के लिए 'संधि' और 'संक्रमण' का युग था। अपभ्रंश को हिंदी में शामिल किये जाने या न किये जाने का द्वंद्व ही आदिकाल की आरंभिक सीम निर्धारण में बाधा या विवाद पैदा करता है। भाषा संबंधी इस समस्या का विस्तृत विवेचन अध्याय के अगले भाग में किया जायेगा। जार्ज ग्रियर्सन ने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का प्रथम प्रयास करते हुए इस काल का आरंभ 700 ई से माना है। मिश्रबंधु इस काल को थोड़ा और पीछे ले जाते हुए इसका आरम्भ 643 ई. से मानते हैं। राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश को 'हिंदी' मानते हुए आदिकाल का आरम्भ 760 ई. से माना है। डॉ रामअवध द्विवेदी आदिकाल का आरंभ 700 ई मानते हैं। डॉ. बच्चन सिंह ने इस काल का आरम्भ 8 वीं शती से माना है। आदिकाल की आरंभिक सीमा को 700 ई से मानने वाले विद्वान हिंदी और अपभ्रंश भाषा को अलग-अलग न मानते हुए अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' स्वीकार करते हैं, इसीलिए वे आदिकाल का आरंभ भी 700 ई. से ही मानते हैं।

इस तर्क से थोड़ा सा मतभेद रखते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ रामकुमार वर्मा, डॉ माता प्रसाद गुप्त, डॉ रमाशंकर शुक्ल जैसे विद्वान आदिकाल की आरंभिक सीमा दसवीं शताब्दी के आस-पास मानते हैं। ये विद्वान आदिकालीन काल सीमा में अपभ्रंश भाषा के साहित्य को सम्मिलित करते हैं, लेकिन दोनों भाषाओं के मूल अंतर को स्वीकारते हुए। सर्वप्रथम पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने मुंज कवि को 'पुरानी हिंदी' का प्रथम कवि मानते हुए दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हिंदी साहित्य का आरम्भ मानने का सुझाव दिया था। गुलेरी जी दसवीं शताब्दी के पूर्व की भाषा को अपभ्रंश ही कहते हैं, लेकिन दसवीं शताब्दी के बाद की भाषा को वे अपभ्रंश की जगह

अवहट्ठ या पुरानी हिंदी कहते हैं। दरअसल दसवीं शताब्दी के पहले अपभ्रंश के कवियों को राष्ट्रकूट राजाओं का संरक्षण प्राप्त था। इन राजाओं के पतन के बाद सोलंकी चालुक्य राजाओं का शासन स्थापित हुआ। इन राजाओं ने भी अपभ्रंश भाषा की कविता को प्रश्रय प्रदान किया। चालुक्य शासकों का शासन काल दसवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। इस शासन काल में अपभ्रंश भाषा को भौगोलिक विस्तार मिला। स्वयंभू और पुष्पदंत के साथ-साथ एक ओर बंगाल में सरह के दोहे, मिथिला में ज्योतिरीश्वर ठाकुर और विद्यापति की रचनाएँ और पद इसी भाषा में रचे जा रहे थे। दूसरी ओर मुल्तान में अब्दुल रहमान ने इसी भाषा को काव्य लेखन का माध्यम बनाया। अपभ्रंश एक ही भाषा होने के बाद भी इन सभी कवियों की भाषा में पर्याप्त अंतर था। यह अंतर स्थानीयता का अंतर था। भाषा एक होने के बावजूद सभी रचनाओं में क्षेत्रीय बोलियों की मिलावट ही दसवीं शताब्दी के बाद की अपभ्रंश को पूर्ववर्ती अपभ्रंश से अलग करती है। इसी आधार पर हिंदी के विद्वानों ने अपभ्रंश साहित्य के दो भाग निर्धारित किये हैं - पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश। प्रो. सुधीर प्रताप सिंह के अनुसार - "परवर्ती अपभ्रंश का काल दसवीं शताब्दी के बाद माना जाता है। परवर्ती अपभ्रंश को 'अवहट्ठ' या 'देश्य भाषा मिश्रित अपभ्रंश' भी कहते हैं। इसी परवर्ती अपभ्रंश से आधुनिक बोलियों का स्वतंत्र रूप प्रकट हुआ। परवर्ती अपभ्रंश की रचनाओं में 'संदेश रासक' दामोदर पंडित का 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' ज्योतिरीश्वर ठाकुर' का 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति की 'कीर्तिलता' और कीर्तिपताका' प्रमुख हैं"।[15] हम देखते हैं की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से परिनिष्ठित अपभ्रंश में देश भाषा के रूप मिलने आरम्भ हो जाते हैं, यह एक बात है की यह रूप भक्तिकाल जितना मुखर और व्यापक नहीं है, लेकिन है जरूर। इसी कारण से परवर्ती अपभ्रंश की रचनाओं को हिंदी साहित्य के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। अतएव दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध काल ही हिंदी भाषा और साहित्य का अविर्भाव काल माना जा सकता है।

आदिकाल की आरंभिक सीमा के साथ-साथ इस काल की अंतिम सीमा के निर्धारण को लेकर भी विवाद हैं, लेकिन ये विवाद आदिकाल की आरंभिक सीमा के निर्धारण जितने जटिल नहीं हैं, थोड़े बहुत अंतर के साथ लगभग सभी विद्वानों ने चौदहवीं शताब्दी को आदिकाल और भक्तिकाल की विभाजक रेखा माना है। यह सीमा रेखा जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार 1300 ई, मिश्रबंधु के अनुसार 1343 ई. आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 1318 ई. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 1400 ई. राहुल सांकृत्यायन के अनुसार 1300 ई. रामकुमार वर्मा के अनुसार 1375 ई. डॉ श्यामसुंदर दास और रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के अनुसार 1400 ई. चतुरसेन शास्त्री के अनुसार 1300 ई. तथा रामअवध द्विवेदी के अनुसार 1350 ई. है। यह सर्वविदित है कि साहित्य के इतिहास में दो युगों के विभाजन की सीमा रेखा इतनी सरल या प्रत्यक्ष नहीं होती है। इन युगों के मध्य सदा ही एक संक्रान्ति काल होता है, जिसमें पूर्ववर्ती और परवर्ती काल की विशेषताएं एक

साथ विद्यमान होती हैं। 1350 ई से 1400 ई का समय आदिकाल और भक्ति काल के लिए संक्रान्ति काल है। इस विभाजन का स्पष्ट प्रमाण हमें 1379 ई में लिखी गयी मुल्ला दाउद की 'चंदायन' में दिखाई देने लगता है। "चंदायन मध्यकालीन हिंदी (अवधी या कोसली) में रचित वह पहला संपूर्ण काव्य ग्रंथ है जो भाषा और भावधारा दोनों दृष्टियों से एक नए काव्य-युग के आगमन की सूचना देता है। इस संक्रान्ति काल से पूर्व मध्यकालीन हिंदी के प्रयोग का प्रथम उदाहरण रोडा कृत राउल बेल में मिलता है, जिसका रचनाकाल 11वीं शताब्दी माना जाता है। पर इसकी कुछ ही पंक्तियों में हिंदी का साफ़ रूप दिखाई देता है"।[16] चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण से ही साहित्य की भाषा और भाव दोनों में परिवर्तन दिखाई देने लगते हैं इसीलिए चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को आदिकाल की समाप्ति और भक्तिकाल के आरम्भ का युग कहा जा सकता है।

हिंदी साहित्य के आरंभिक काल के नामकरण का विश्लेषण करें तो इस काल के लिए सर्वाधिक प्रचलित नाम 'आदिकाल' ही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सन 1929 ई. में ही इस नाम का प्रस्ताव रखा था, लेकिन आदिकाल के साहित्य की व्याख्या उन्होंने वीरगाथा नाम के अनुरूप ही की है। आदिकाल नाम को सही अर्थों में प्रयोग, प्रचलन तथा अर्थवत्ता दिलाने का श्रेय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को जाता है। आदिकाल के लिए आलोचकों, विद्वानों द्वारा प्रस्तावित तमाम नाम या तो किसी प्रवृत्ति विशेष पर केन्द्रित रहे हैं जैसे - चारण काल, वीरगाथा काल, सिद्ध सामंत काल, संधिकाल तथा चारण-काल, या काल खण्ड विशेष पर केन्द्रित हैं, जैसे - पूर्व प्रारंभिक काल, उत्तर अपभ्रंश काल, कई नामकरण तो ऐसे हैं, जिनसे आदिकाल के स्वरूप की कोई जानकारी नहीं मिलती है जैसे - बाल्यावस्था काल, शून्यकाल, संक्रमण काल, अन्धकार काल, प्रारंभिक काल, बीज बपन काल। उपर्युक्त सभी नामकरणों द्वारा आदिकाल का एकांगी प्रतिनिधित्व ही संभव हो पाया है, जबकि अपनी रचना प्रक्रिया में यह काल बेहद महत्वपूर्ण और बहुआयामी है। साहित्य की विविधता इस काल की पहली महत्वपूर्ण विशेषता है। आदिकाल की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि इसने परवर्ती साहित्यिक प्रवृत्तियों की आधार भूमि तैयार की है। इस काल के काल-निर्धारण और नामकरण में आने वाली विविध समस्याओं का कारण आलोचकों के एकांगी दृष्टिकोण रहे हैं। आलोचकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के आधार पर इस काल का नामकरण किया है, कहीं केन्द्रीय प्रवृत्ति का आग्रह है तो कहीं काल-खण्ड का मनमाना विभाजन। जिन आलोचकों ने किसी भी एक प्रवृत्ति के आधार पर इस काल को व्याख्यायित किया है, निश्चित रूप से वे अन्य प्रवृत्तियों को नजरंदाज करते रहे हैं। यह काल अपनी विविधता के अनुरूप नामकरण की माँग करता है न कि नामकरण के अनुरूप अपने काट-छाँट की। यह सही है कि आदिकाल नाम हिंदी साहित्य के आरंभिक काल को संपूर्णता में अभिव्यक्त कर पाने सक्षम नहीं है, लेकिन एकमात्र यही नामकरण है जिसके द्वारा आदिकालीन सभी साहित्यिक प्रवृत्तियों को प्रतिनिधित्व मिलता है। आदिकाल में

'आदि' शब्द विभिन्न प्रवृत्तियों की आदिम अर्थात आरंभिक अवस्था का द्योतक है, जो की तार्किक भी है। अतएव संपूर्ण संदर्भो और प्रकरणों को केन्द्र में रखते हुए हिंदी साहित्य के आरंभिक काल को 'आदिकाल' कहना प्रचलित, सर्वस्वीकृत और समीचीन है। आदिकाल नाम के अन्तर्गत इस काल की विभिन्नताओं का समाहार देखने को मिलता है।

ख. प्रवृत्ति-निर्धारण का सवाल -

साहित्य की वे कौन सी आवश्यकताएं हैं, जिनके तहत प्रवृत्तियों के निर्धारण की अनिवार्यता होती है ? क्या कविता और साहित्य को समझने के लिए उसको प्रवृत्तियों में विभाजित करना आवश्यक है ? यदि साहित्य का कोई काल खण्ड भक्तिकाल या रीतिकाल की तरह एक रेखीय या एक खास प्रवृत्ति पर केन्द्रित न होकर बहुआयामी या बहु विषयी हो तो उस काल की केन्द्रीय प्रवृत्ति किसे माना जाये ? केन्द्रीयता के निर्धारण के पैमाने क्या होने चाहिए, और अगर कोई केन्द्रीय प्रवृत्ति उभर कर आ रही है तो फिर उसके सामाजिक संस्कृतिक मायने क्या हैं ? क्योंकि मार्क्स के नजरिये से देखें तो साहित्य एक उत्पाद है। अगर कोई खास साहित्यिक प्रवृत्तियां किसी समय में उभर कर आ रही हैं, तो वह उस समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्थिति को इंगित करती हैं। क्या प्रवृत्तियों को खोजना साहित्य को एक खांचे में फिट करने जैसा नहीं है ?

प्रवृत्तियों के निर्धारण की समस्या इसी लिए आती है, क्योंकि साहित्य एक संपूर्ण आयाम है, प्रवृत्तियों के आधार पर हम इसको टुकड़ों में बांटकर समझने की कोशिश करते हैं। इस प्रक्रिया में साहित्य कभी भी किसी भी प्रवृत्ति में पूरी तरह से समाहित नहीं होता है। रचनाकार स्वाभाविक रूप से रचना करता है, किसी प्रवृत्ति विशेष से प्रेरित होकर नहीं। साहित्य जब लिखा या रचा जा रहा होता है तब प्रवृत्तियां उसके लिए महत्वपूर्ण नहीं होती हैं, बाद में जब उस साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है, तब आलोचक या इतिहासकार, मूल्यांकन की सुविधा के लिए प्रवृत्तियों के निर्धारण का प्रयास करते हैं। इस मूल्यांकन में आलोचक या इतिहासकार का सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश एक कारक बनता है, साथ ही उनकी नजर का चश्मा भी विवेच्य साहित्य की प्रवृत्तियों के निर्धारण को प्रभावित करता है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण की यह समस्या दो तरफा है, यह सिर्फ आदिकालीन साहित्य की ही समस्या नहीं है बल्कि उसका मूल्यांकन करने वाले की दृष्टि की भी समस्या है। मसलन कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित विधेयवादी दृष्टि के आग्रह के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने वीरगाथाओं को आदिकाल की प्रधान प्रवृत्ति मानते हुए अन्य सभी प्रवृत्तियों को 'शिष्ट साहित्य' की परिधि से बाहर कर दिया। अध्याय के इस भाग के अन्तर्गत

आदिकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण में आने वाली विभिन्न समस्याओं का अध्ययन किया जायेगा।

हिंदी साहित्य के आरंभिक काल को 'आदिकाल' इसीलिए कहा गया क्योंकि विद्वानों द्वारा सुझाये गए दर्जनों नाम में से कोई भी इस काल की बहुआयामिता को सही मायने में अभिव्यक्त कर पाने में सक्षम नहीं था। अंततः आलोचकों को आदिकाल नाम स्वीकार करना पड़ा। आदिकाल नाम परवर्ती तमाम साहित्यिक प्रवृत्तियों की आदिम अवस्था का द्योतक है, जिन पर आगे का साहित्य खड़ा है । कालनिर्धारण, काल विभाजन, और नामकरण की तरह ही आदिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण में आने वाली समस्याओं का कारण, इस काल की विस्तृत पृष्ठभूमि है। भक्ति, श्रृंगार, वीरगाथा, लोकगाथा, रहस्य, प्रशस्ति, नीति आदि तमाम साहित्यिक प्रवृत्तियों का सम्मिलित रूप में इस काल खंड में मिलता है। विविधता युक्त काल खंड की प्रवृत्तियों का निर्धारण करना सबसे कठिन कार्य होता है।

आदिकालीन साहित्य तमाम साहित्यिक प्रवृत्तियों की जन्म स्थली है। परवर्ती साहित्य की ऐसी कोई काव्य प्रवृत्ति नहीं है, जिसके बीज इस काल में न हों। इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण में सबसे बड़ी समस्या साहित्य का बहुआयामी होना है। इन साहित्यिक प्रवृत्तियों में धार्मिक और वीर-गाथात्मक काव्य प्रवृत्तियां प्रधान रूप में विद्यमान हैं। आदिकालीन साहित्य पूर्व से लेकर पश्चिम तक साहित्य के विस्तृत भूभाग में फैला हुआ है। पूर्वी भाग में धार्मिक साहित्य अर्थात सिद्ध, नाथ, जैन काव्यों की रचनाएँ हुयीं । पश्चिमी भाग में राजस्तुति, वीर, श्रृंगार, चरितप्रधान और प्रशस्तिपरक साहित्यिक रचनाएँ लिखी गयीं। ये दोनों परस्पर भिन्न किन्तु महत्वपूर्ण काव्य धाराएँ आदिकालीन साहित्य की उपलब्धि हैं। पहली काव्य धारा अपभ्रंश के उन कवियों की है जो अत्यन्त सहज-सरल शब्दों में आम-जनमानस के बीच धर्म को आधार बनाकर सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार कर रहे थे। हिन्दू मुस्लिम धर्म के संक्राति काल में सिद्ध कवियों का उन्मुक्त स्वर भारतीय धार्मिक सांस्कृतिक विचारों का समर्थन करता है। सिद्ध साहित्य के यही स्वर आगे जाकर नाथ साहित्य में मुखरित हुए। नाथों ने समाज में समन्वय स्थापित करते हुए हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप से शिष्यता प्रदान की। इन साधकों ने बौद्ध, शैव और शाक्त मान्यताओं को एक सूत्र में पिरोते हुए योग के माध्यम से जीवन में संयम और मर्यादित आचरण आपनाने को प्रेरित किया। गोरखनाथ कहते हैं –

"हबकि न बोलिबा, छबकि न चलिबा, धीरे धरिबा पाँव।
गरब न करिबा, सहजै रहिबा, भण
त गोरख राव।"[17]

धार्मिक साहित्य लेखन में सिद्ध और नाथ साहित्य के समानांतर ही जैन साहित्य ने अपभ्रंश भाषा और साहित्य को समृद्ध किया। आठवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक जैन साहित्य का अविकल लेखन जारी रहा। इस साहित्य में एक तरफ धर्मोपदेशों की भरमार है, वहीं दूसरी ओर साहित्य और काव्य रूपों की समृद्ध विकास परंपरा है। हिंदी साहित्य में प्रबंध काव्य परंपरा जैनियों के साहित्य से ही आरम्भ होती है। जैन संप्रदाय से सम्बंधित धर्मोपदेश, व्रत, तीर्थ, नीति विषयक उपदेशों से युक्त यह साहित्य परंपरा आदिकाल की महत्वपूर्ण काव्यधारा है।

आदिकालीन हिंदी सहित्य की दूसरी काव्यधारा चारण साहित्य या दरबारी साहित्य की है। यह साहित्य पूरी तरह से आम जनता से कटा हुआ दरबारों में विकसित होने वाला साहित्य है। रासो साहित्य, राजनीति में केन्द्रीय सत्ता के टूटने के परिणामस्वरूप विकसित हुई सामंती परंपरा की परिणति है। विभिन्न राज्यों के सामंत को प्रसन्न करने के लिए कविगण इन राजाओं की शौर्यगाथाओं और रसिकता का सरस वर्णन करके अपनी जीविका चलाते थे। इस साहित्य की बुनावट में सामंती परिवेश और राजाओं की वीरगाथाओं की भरमार है। यह साहित्य सामंतों के आपसी संघर्ष की कहानी कहता है। वीरकाव्य परंपरा आदिकाल की महत्वपूर्ण काव्य प्रवृत्ति है, जिसका विकास आधुनिक काल तक देखने को मिलता है। इस काव्यधारा के अन्तर्गत वीर-प्रशस्तियाँ, वीर प्रबंध काव्य, वीर गीत एवं मुक्तक कविताएँ आती हैं। चारण कवि राजाओं के युद्धों और उनकी श्रृंगारिकता का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन करके राजाओं को खुश करते थे। सामंतों की वीरता का बखान करने से प्राप्त होने वाली आमदनी ही इन कवियों की काव्य प्रेरणा और रोजी-रोटी का जरिया थी।

आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियों के निर्धारण में उपलब्ध साहित्य का द्विधर्मी स्वरूप (धार्मिक और वीरता) समस्या उत्पन्न करता है। ये दोनों ही साहित्य इस काल के स्वरूप निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। "हिंदी साहित्य के आदिकाल में प्रवृत्तियों की अराजकता नहीं थी, उसमें बेतरतीब उगी हुई प्रवृत्तियों का जंगल नहीं था। उस विविधता में भी व्यवस्था थी और वह व्यवस्था यह थी कि दो स्पष्ट विरोधी साहित्यिक प्रवृत्तियां प्रचलित थीं। एक प्रवृत्ति वह थी जो क्रमशः क्षीयमाण थी, दूसरी वह थी जो क्रमशः वर्धमान थी। पहली का संबंध राजस्तुति, सामंतों के चरितवर्णन, युद्धवर्णन, केलिविलास, बहुविवाह के लिए विजयोन्माद आदि से था और दूसरी का सम्बन्ध नीची समझी जाने वाली जातियों के धार्मिक असंतोष, रूढ़ि-विरोध, बह्याडम्बर खंडन, जाति-भेद की आलोचना, उच्चतर आचार, व्यापक भगवत्प्रेम, मानवीय आत्मगौरव आदि से था। एक का नाम तथाकथित वीरगाथा काव्य है, और दूसरी का तथाकथित योगधारा"।[18] साहित्य की यह प्रवृत्तिगत विविधता इस काल की प्रवृत्तियों के निर्धारण में बड़ी समस्या खड़ी करती है।

आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियों के निर्धारण में दूसरी मूल समस्या केन्द्रीय प्रवृत्ति के निर्धारण की है। यह काल धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर, लोक चेतना, दरबारी काव्य परंपरा जैसी तमाम साहित्यिक प्रवृत्तियों की संगम स्थली है। ऐसी स्थिति में इस विविधता में से एक साहित्यिक प्रवृत्ति को अलगाना और उसको केन्द्रीय या विशेष प्रवृत्ति के रूप में स्थापित करना जितना कठिन है, अन्य प्रवृत्तियों के साथ उतना ही बड़ा अन्याय भी है। जैसे ही हम संपूर्ण साहित्यिक आयाम में से केन्द्रीय प्रवृत्ति खोजते हैं, वैसे ही हमें अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के केन्द्रीय न होने के तर्क भी जुटाने पड़ते हैं। आदिकाल, भक्तिकाल या रीतिकाल जैसा एक ही दिशा में प्रवाहित होने वाला साहित्य नहीं है। आदिकाल की विविधता ही इस काल खंड की केन्द्रीय प्रवृत्ति के निर्धारण में आने वाली समस्या का मूल कारण है। "हम सब जानते हैं कि आदिकाल में वीरगाथा काव्य लिखने की प्रवृत्ति, पूर्व मध्यकाल में भक्ति-काव्य लिखने की प्रवृत्ति तथा उत्तर मध्यकाल में रीतिपरक काव्य लिखने की प्रवृत्ति के इतर अनेक प्रवृत्तियां अनेक साहित्यिक धाराएँ एक साथ विकसित हो रही थीं। कालक्रम में रीतिकाल कहलाने वाले युग में भक्ति की श्रेष्ठतर रचनाएँ उपलब्ध हैं, भक्तिकाल में श्रृंगार के अद्‌भुत चित्र प्राप्त हैं, तब क्या कारण हैं कि किसी काल को प्रमुख प्रवृत्ति या रचनाधारा के अनुसार नाम दिया जाये। ऐसे प्रयोग निश्चय ही सुविधाजनक हो सकते हैं, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से उनका मूल्यांकन करने बैठेंगे तो दोष और भ्रम ही हाथ लगेगा"।[19] इसके साथ ही आलोचक या इतिहास लेखक द्वारा तमाम प्रवृत्तियों के बीच से केन्द्रीय प्रवृत्ति को चुनना उनके निजी दृष्टिकोण का भी परिणाम होता है। आलोचक का यह दृष्टिकोण केन्द्रीय प्रवृत्ति के नाम पर साहित्य की काट-छाँट करता है।

विविध प्रवृत्तियों से युक्त काल-खण्ड में किसी एक प्रवृत्ति को केन्द्रीयता प्रदान करना एक तरह से अन्य प्रवृत्तियों को हाशिये की तरफ धकेल देना ही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदिकाल की प्रधान प्रवृत्ति के चयन में विधेयवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए वीरगाथाओं को 'शिक्षित जनता' का प्रतिनिधि स्वीकार करते हैं, और धार्मिक साहित्य को 'साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र' कहकर नकार देते हैं। जबकि लगभग सभी विद्वानों ने यह स्वीकार किया है, कि आदिकाल में वीरगाथात्मक प्रवृत्ति के साथ-साथ भक्ति के भी मूल तत्व विद्यमान रहे हैं। वीरगाथाओं की प्रामाणिकतापर तो संदेह भी किया जाता है। किंतु सिद्ध, नाथ और जैन काव्य अपेक्षाकृत प्रामाणिक माना जाता है। लेकिन नैतिकतावादी आग्रह के चलते वे प्रामाणिक किन्तु धार्मिक साहित्य के समानांतर अप्रामाणिक साहित्य का महिमामंडन करते हैं। आचार्य शुक्ल को वीर काव्य परंपरा को आदिकाल की प्रधान प्रवृत्ति साबित करने की इतनी जिद थी कि उन्होंने धार्मिक साहित्य को नकारने की हद तक नजरंदाज किया। आचार्य शुक्ल सिद्धों का परिचय देते हुए कहते हैं कि "इन तांत्रिक योगियों को लोग अलौकिक शक्ति संपन्न समझते थे। ये अपनी सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे।

राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' में भैरवानंद के नाम से एक ऐसे ही सिद्ध योगी का समावेश किया है। इस प्रकार जनता पर इन सिद्ध योगियों का प्रभाव विक्रम की दसवीं शताब्दी से ही पाया जाता है, जो मुसलमानों के आने पर पठानों के समय तक कुछ-न-कुछ बना रहा । बिहार के नालंदा और विक्रमशिला नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ इनके अड्डे थे। बख्तियार खिलजी ने इन दोनों स्थानों को जब उजाड़ा तब से ये तितर-बितर हो गये" ।[20] उन्होंने इस साहित्य का मूल्यांकन धार्मिकता की जद में ही किया। जबकि यह साहित्य तंत्र-मन्त्र, रहस्यात्मकता, वामाचार की तमाम खामियों के बावजूद लोक-समाज के ज्यादा करीब था, और इस साहित्य ने ही भक्ति आंदोलन की आधारभूमि तैयार की थी।

केन्द्रीय प्रवृत्ति की अस्पष्टता के कारण आदिकाल के नामकरण में तमाम विवाद रहे हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा आदिकाल में वीरगाथाओं को केन्द्रीयता प्रदान करना दरबारी या आभिजात्यवादी साहित्य की वकालत करना है। जबकि समग्रता में देखें तो आदिकालीन साहित्य में किसी भी प्रवृत्ति की केन्द्रीयता नहीं है। यहाँ सभी प्रवृत्तियों की सहभागिता है किसी की कम किसी की ज्यादा । मात्रात्मक अधिकता के नाम पर यदि वीरगाथाओं को केन्द्रीय प्रवृत्ति मान भी लिया जाये तो इन रचनाओं की अप्रामाणिकताको कैसे नजरंदाज किया जा सकता है । प्रश्न यह है कि किसी काल खंड की उस प्रवृत्ति को केन्द्रीय कैसे माना जा सकता है जिसकी मूल सामग्री या तो अप्रामाणिक हो या प्राप्त ही न हो।

हिंदी साहित्य का आदिकाल अपने संरचनात्मक स्वरूप में एक मुकम्मल आलोचना की मांग करता है । इतिहास दृष्टि का आग्रह लेकर इस काल खण्ड की केन्द्रीय प्रवृत्ति का मूल्यांकन करना बिल्कुल जायज नहीं है। नतीजतन वीरगाथाएं 'जनता की चित्तवृत्ति' की अभिव्यक्ति का माध्यम कहलाती हैं और लोक समाज में गहरी पैठ रखने वाले खुसरो और विद्यापति 'फुटकल' खाते में स्थान पाते हैं। इस काल की अन्य रचनाओं की तरह खुसरो की रचनात्मकता भी संदेह के घेरे से युक्त है। खुसरो की रचनाओं की संदिग्धता को रेखांकित करते हुए आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि - "उनकी रचनाओं में तत्काल प्रचलित हिंदी का प्रयोग हुआ होगा । परन्तु उनके नाम पर जितनी पहेलियाँ, मुकरियाँ और ढकोसले प्रचलित हैं वे न तो मूल रूप में ही सुरक्षित हैं और न सबके सब प्राचीन ही हैं"।[21] आचार्य शुक्ल की नैतिकतावादी दृष्टि को रासो साहित्य में उदात्तता दिखती है और खुसरो के साहित्य में 'उक्तिवैचित्र्य की प्रधानता' और कहीं-कहीं 'रसीले गीत' । आदिकालीन आलोचकों द्वारा केन्द्रीय प्रवृत्ति की तलाश और उसकी केन्द्रीयता साबित करने की जिद ने इस काल की अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के साथ उचित न्याय नहीं किया है। समग्रता में यही कहा जा सकता

है कि आदिकालीन साहित्य में तमाम साहित्यिक प्रवृत्तियों की मिली-जुली परंपरा है इसीलिए इस काल खण्ड में केन्द्रीय प्रवृत्ति की तलाश करना कठिन कार्य है।

आदिकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण में प्रमुख समस्याएँ बहुआयामिता, अनैतिहासिकता या अप्रामाणिकताऔर केन्द्रीय प्रवृत्ति की अनस्थिरता है। प्रवृत्तियों की समस्याएँ उन्हीं कालखंडों में मुखर होती हैं जहाँ साहित्य एक धारा में प्रवाहित नहीं होता है। आदिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण की समस्या के मूल में प्रवृत्तियों का जबरन निर्धारण ही है। लगभग सभी आलोचकों ने आदिकाल का मूल्यांकन समग्रता में करने की बजाय प्रवृत्तियों के रूप में ही किया है। प्रवृत्तियों के इस अतिआग्रह से उन कालखंडों के साथ न्याय नहीं होता है, जिनमें एक प्रवृत्ति के समानांतर अन्य प्रवृत्तियां भी विद्यमान होती हैं। जैसा कि हम आदिकाल के संदर्भ में देखते हैं। इस काल खण्ड में भक्ति, श्रृंगार, वीर, लोक साहित्य आदि सभी धाराएँ विद्यमान थीं। इस काल के साहित्य के मूल्यांकन में आने वाली समस्याएं दरअसल इतिहासकारों और आलोचकों के निजी दृष्टिकोण का परिणाम हैं, इसीकारण किसी को वीरगाथाएं महत्वपूर्ण लगती हैं किसी को सामंतों के समानांतर सिद्ध भी उतने ही महत्वपूर्ण नजर आते हैं, किसी के लिए यह 'संधिकाल' है तो किसी के लिए 'शून्यकाल'। कहने का अर्थ यह है कि आदिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण की समस्या में इस कालखंड की विविधता के साथ आलोचकों का नजरिया भी एक बड़ा कारण है।

ग. आदिकालीन साहित्य : ऐतिह्य का प्रश्न

आदिकालीन साहित्य में ऐतिहासिकता प्रमुख समस्या है। इस काल की अधिकांश रचनाएँ ऐतिहासिक रूप से अप्रामाणिक हैं। आदिकाल की बारह रचनाओं को केन्द्र में रखकर आचार्य शुक्ल ने इस काल को 'वीरगाथा काल' कहा है। इन बारह रचनाओं में प्रधानता रासो काव्यों की है। इन रासो काव्यों के केंद्र में तत्कालीन सामंत, उनकी जीवनशैली, विलासिता, युद्धकौशल आदि का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है। रासो काव्य के ये रचयिता राजाओं, सामंतों के आश्रित हुआ करते थे।

इनका एकमात्र उद्देश्य अपने सामंतों को खुश करके उनसे पुरस्कार पाना था, इस होड़ में वे काव्य संबंधी नियमों की अनदेखी करने से नहीं चूकते थे। चारण कवि राजाओं की वीरगाथाएं लिखकर अपने वंशजों को सौंप जाते थे, ये वंशज इन गाथाओं में नई गाथाएं जोड़ते जाते थे। इस प्रकार एक काव्य ग्रंथ में कई क्षेपक जुड़ते चले जाते थे।

आदिकालीन काव्य में ऐतिहासिकता के विवाद पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि, "परन्तु, भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम-भर लिया है, शैली उनकी वही पुरानी रही, जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-संग्रह की ओर कम, कल्पना-विलास का अधिक मान था तथ्य-निरूपण का कम, संभावनाओं की ओर अधिक रुची थी, घटनाओं की ओर कम। उल्लसित आनन्द की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथों परस्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिए गए हैं। राजा का विवाह, शत्रु-विजय, जलक्रीडा, शैल-वन-विहार, दोला-विलास, नृत्य-गान-प्रीति - ये सब बातें ही प्रमुख हो उठी है, क्रमशः इतिहास का अंश कम होता गया और संभावनाओं का जोर बढ़ता गया"।[22]

वीरगाथाएं लिखने वाले चारण तथ्यों के साथ कल्पना का भी पूरा सहारा लेते थे। कई-कई बार ये कवि राजाओं के ऐसे शत्रु भी कल्पित कर लेते थे जो तत्कालीन समय में होते ही नहीं थे। युद्धों के ऐसे तमाम वर्णन वीरगाथात्मक रचनाओं में भरे पड़े हैं। चारण कवियों द्वारा इतिहास की घटनाओं के साथ किया यह मन-माना प्रयोग और ऐतिहासिक तथ्यों का अतिक्रमण इन ग्रंथों के मूल्यांकन में समस्या उत्पन्न करता है। अधिकतर वीरतापरक रासो काव्यों की ऐतिहासिक प्रामाणिकताका मूल्यांकन करने पर ये ग्रंथ संदिग्ध साबित होते हैं। लगभग सभी रासो या वीर काव्य ऐतिहासिकता का आधार भर लेकर लिखे गए हैं, इतिहास के साथ इनकी संगति नहीं बैठती है।

साहित्यिक रचनाएँ समाज के साथ-साथ ऐतिहासिक दस्तावेज होती हैं। इतिहास आधारित रचनाओं से इतिहास की जानकारी मिलने की उम्मीद की जाती है, लेकिन आदिकालीन वीरगाथाएं ऐतिहासिक रूप से अर्द्धप्रामाणिक या गैर प्रामाणिक साबित होती हैं। "पृथ्वीराजरासो के बारे में हम कह आए हैं कि ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम से जुड़े रहने के कारण शुरू-शुरू में अनुमान किया गया था कि इससे इतिहास का काम निकलेगा। पर यह आशा फलवती नहीं हुई। कम ही ऐतिहासिक पुरुषों के नाम से सम्बद्ध पुस्तकें इतिहास-निर्माण में सहायता कर सकी हैं। कुछ से ऐतिहासिक तथ्यों, नामों और वंशावलियों का कुछ संधान मिल जाता है। कुछ से इतना भी नहीं मिलता राजा के शत्रु होते हैं। युद्ध होता है। इतिहास की दृष्टि में युद्ध एक हुआ, और भी तो हो सकते थे। कवि सम्भावना को देखेगा। राजा के एकाधिक विवाह होते थे, यह तथ्य अनेकों विवाहों

की सम्भावना उत्पन्न करता है और कवि को अपनी कल्पना के पंख खोल देने का अवसर देता है। उत्तर काल के ऐतिहासिक काव्यों में इसकी भरमार है। ऐतिहासिक विद्वान के लिए संगति मिलाना कठिन हो जाता है"।[23]

बीसलदेव रासो, हम्मीर रासो, परमाल रासो, विजयपाल रासो, जयचंद प्रकाश समेत सभी वीर काव्य जो ऐतिहासिक पात्रों को केन्द्र में रखकर लिखे गए हैं, उनमें से अधिकांश ग्रंथ या तो उपलब्ध नहीं हैं, या फिर उनमें क्षेपक अंश इतने अधिक जुड़ चुके हैं, की इनकी ऐतिहासिकता लगभग समाप्त हो गयी है। राजस्तुतियाँ लिखने वाले चारणों ने इन गाथाओं में ऐतिहासिकता की रक्षा करने का कोई प्रयास नहीं किया है। उनका स्पष्ट उद्देश्य सिर्फ सामंतों के अहम को तुष्ट करते हुए उनकी खुशामद करना था । "भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया है"।[24] ऐतिहासिकता की तमाम बहसों के बावजूद इन वीरगाथाओं में जीवन के दो महत्वपूर्ण बिन्दुओं, वीरता और प्रेम का बखूबी वर्णन किया गया है।

आदिकालीन साहित्य के अंतर्गत लिखी गयी वीरगाथात्मक रचनायें इतिहास का आश्रय लेकर लिखी गयी हैं। आचार्य शुक्ल ने स्वयं जिन बारह रचनाओं के आधार पर आदिकाल को वीरगाथा काल कहा है, उन सभी पर अनैतिहासिकता और अप्रामाणिकताकी छाप है। इन बारह रचनाओं में 'विजयपाल रासो', 'हम्मीर रासो', 'कीर्तिलता', 'कीर्तिपताका', 'खुमान रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'जयचंद प्रकाश', 'जयमयंक जस-चन्द्रिका', 'परमाल रासो' तथा विद्यापति की 'पदावली' शामिल हैं। इन रचनाओं में प्रथम चार रचनाएँ अपभ्रंश भाषा की हैं। 'खुमान रासो' का रचनाकाल 1760 ई. के बाद का सिद्ध हो चुका है। 'बीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो' का रचनाकाल तो विवादित है ही, साथ ही इन रचनाओं के साथ ऐतिहासिक प्रामाणिकताकी भी समस्या है। 'जयचंद प्रकाश' और 'जयमयंक जस-चन्द्रिका' अनुपलब्ध रचनाएँ हैं। 'परमाल रासो' और 'खुसरो की पहेलियाँ' भाषागत दृष्टि से अप्रामाणिक प्रतीत होती हैं। इन बारह रचनाओं में विद्यापति की पदावली ही प्रामाणिक ठहरती है।

बहरहाल आदिकालीन रचनाओं के तहत आने वाली रचनाओं में से यदि ऐतिहासिक काव्यों का चुनाव करना हो तो 'खुमाण रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'परमाल रासो', और 'विजयपाल रासो' को ऐतिहासिक काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। चारण कवियों ने अपने राजाओं की प्रशस्ति के लिए उनके कुल गौरव का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है, इस क्रम में वे इतिहास की पूरी तरह से अनदेखी करते हुए आगे बढ़ते हैं। इन रचनाओं में कई घटनाएँ और पात्र ऐसे हैं जो इतिहास में मौजूद ही नहीं हैं। इन कवियों ने इतिहास को अपनी रचना के अनुरूप तोड़-मरोड़कर पेश किया है।

ऐतिहासिक रासो काव्यों में खुमान रासो की रचना दलपति विजय नामक कवि ने की है। इस ग्रंथ का चरित नायक मेवाड़ का राजा खुमान द्वितीय है। खुम्माण ने चौबीस युद्ध किये और वि. सं. 869 से 893 तक राज्य किया। 'खुमान रासो' की जो प्रति प्राप्त है वह अपूर्ण है। इस रचना में खुम्माण से लेकर महाराणा प्रताप सिंह तक का वर्णन मिलता है। कुछ वृत्त संग्राहकों ने इसको सत्रहवीं शताब्दी की रचना बताया है, क्योंकि इसमें सत्रहवीं शताब्दी के चित्तौड़ नरेश राजसिंह तक के राजाओं का वर्णन मिलता है। इस आधार पर विद्वानों ने इस रचना को आदिकाल के बाद की रचना माना है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार "यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो 'खुमानरासो' मिलता है, उसमें कितना अंश पुराना है। उसमें महाराणा प्रताप सिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में यह ग्रंथ अब मिलता है वह उसे वि. सं. की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। शिवसिंह सरोज के अनुसार एक अज्ञात नामाभाट ने खुमानरासो नामक काव्यग्रंथ लिखा था जिसमें श्रीरामचंद्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था। यह नहीं कहा जा सकता कि दलपतविजय असली खुमानरासो का रचयिता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ट का"।[25] खुमान रासो के विषय में आलोचकों ने जो बातें कही हैं वे अनुमान आधारित हैं। इन रचनाओं में इतिहास का आलम्बन भर है। इसकी कथावस्तु का विस्तार कल्पना के आधार पर हुआ है। आदिकालीन रचनाओं में अनैतिहासिकता का एक कारण इन रचनाओं की अनुपलब्धता है। इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकताइनके संग्रहण पर भी निर्भर है। संभव है की इनकी रचना करने वाले कवियों की रचनाओं में बाद के संग्रहकर्ताओं ने कुछ अंश जोड़ दिए हों, जिससे इनकी प्रामाणिकतासंदिग्ध हो गयी हो।

राजकवि के रूप में नरपति नाल्ह ने 'बीसलदेवरासो' नामक सौ पृष्ठों के ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ की रचना सं. 1212 विक्रमी में की गयी थी। ग्रंथ में कवि ने सर्वत्र वर्तमान काल का प्रयोग किया जिससे उसके बीसलदेव के समकालीन होने का आभास होता है। किन्तु ग्रंथ में वर्णित घटनाओं की ऐतिहासिक समीक्षा करने पर यह बीसलदेव के समय से बहुत पीछे की रचना ठहरती है। "यह घटनात्मक काव्य नहीं है, वर्णनात्मक है। इसमें दो ही घटनाएँ हैं-बीसलदेव का विवाह और उनका उड़ीसा जाना। इसमें से पहली बात तो कल्पनाप्रसूत प्रतीत होती है। बीसलदेव से एक सौ वर्ष पहले ही धार के प्रसिद्ध परमार राजा भोज का देहांत हो चुका था अतः उनकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह किसी पीछे के कवि की कल्पना ही प्रतीत होती है। उस समय मालवा में भोज नाम का कोई राजा नहीं था"।[26] ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यह ग्रंथ प्रामाणिक नहीं ठहरता। ग्रंथ में प्रस्तुत घटनाओं की ऐतिहासिक तथ्यों के साथ संगति नहीं बैठती है। इस रचना में बीसलदेव की वीरता, शौर्य-पराक्रम और उसकी ऐतिहासिक लड़ाइयों का कोई वर्णन नहीं मिलता है। यहाँ श्रृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का मनमाना वर्णन हुआ है। "अतः इस

छोटी सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है । ...राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना कहा है । यह नरपति नाल्ह की पोथी का विकृत रूप अवश्य है जिसके आधार पर हम भाषा और साहित्य संबंधी कई तथ्यों पर पहुँचते हैं" ।[27] इसके अतिरिक्त इस रचना से इतिहास संबंधी किसी तथ्य की पुष्टि नहीं होती है ।

आदिकालीन रासो ग्रंथों में 'पृथ्वीराज रासो' सर्वाधिक विवादित रचना है । इस ग्रंथ को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी का प्रथम महाकाव्य माना है, किन्तु इस ग्रंथ की साहित्यिकता से अधिक इसकी प्रामाणिकताऔर ऐतिहासिकता को लेकर विवाद प्रचलित हैं । पृथ्वीराज रासो का अध्ययन दो सन्दर्भों में किया जा सकता है । पहला, ऐतिहासिकता के विवाद को छोड़कर एक साहित्यिक रचना के रूप में इसका अध्ययन करना । दूसरे, इस काव्यकृति की ऐतिहासिक व्याख्या करना । इस ग्रंथ में पृथ्वीराज के जीवन, युद्ध और विवाहों से लेकर उसकी मृत्यु तक का बखान किया गया है । पृथ्वीराजरासो के रचनाकाल, रचनाकार, ऐतिहासिक तथ्यों की प्रामाणिकताऔर विश्वसनीयता को लेकर आलोचकों में बड़े-बड़े विवाद हुए हैं । यह ग्रंथ इतिहास के एक पराक्रमी राजा 'पृथ्वीराज' की जीवनगाथा को आधार बनाकर लिखा गया है, इसलिए इसमें तमाम ऐतिहासिक घटनाओं की भरमार है । इनमें से कुछ घटनाएँ इतिहास सम्मत हैं, किन्तु अधिकतर घटनाओं की संगति इतिहास से नहीं बैठती है । 'पृथ्वीराजरासो' का कथा वितान प्रधानतः तीन घटनाओं पर केन्द्रित है, संयोगिता स्वयंवर, कयमास वध और पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी का युद्ध प्रसंग ।

संयोगिता स्वयंवर और संयोगिता को हासिल करने के लिए पृथ्वीराज तथा जयचंद का युद्ध 'पृथ्वीराज रासो' की मूल घटना है । जयचंद एक ऐतिहासिक पात्र है, जिसकी दानशीलता के बारे में उसके दान-पत्रों से पता चलता है । जयचंद के किसी भी दान पत्र में राजसूय यज्ञ और संयोगिता और पृथ्वीराज के प्रेम की कथा नहीं मिलती है, इसलिए कई विद्वानों ने संयोगिता स्वयंवर और राजसूय यज्ञ की घटना को इतिहास सम्मत नहीं माना है । इसके समानांतर कई ऐतिहासिक ग्रंथों से राजसूय यज्ञ और संयोगिता स्वयंवर की घटना की पुष्टि होती है । 'सुर्जन-चरित' और 'आयीने-ए-अकबरी' में इस घटना का पूर्ण उल्लेख मिलता है । 'पृथ्वीराज विजय' तथा 'पृथ्वीराज प्रबंध' से भी पृथ्वीराज की प्रेम गाथा और जयचंद से उसकी शत्रुता की घटना की पुष्टि होती है । इन वर्णनों के आधार पर विद्वानों के दूसरे वर्ग ने 'पृथ्वीराज रासो' की घटना को ऐतिहासिक माना है । 'हम्मीर महाकाव्य' और 'रंभा मंजरी नाटिका' में पृथ्वीराज-जयचंद के अथवा जयचंद के राजसूय यज्ञ और संयोगिता स्वयंवर का कोई उल्लेख नहीं है, यद्यपि 'हम्मीर महाकव्य' में पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन की कथा विस्तार से दी है, और रंभामंजरी में, जिसका नायक जयचंद है, जयचंद की प्रशंसा में पन्ने रंगते हुए भी उसके द्वारा किये हुए किसी राजसूय यज्ञ अथवा संयोगिता स्वयंवर का उल्लेख नहीं है,

इसलिए रासो का विवरण अनैतिहासिक है। इस प्रकार रासो की उक्त घटनाओं ऐतिहासिकता और अनैतिहासिकता पर अलग-अलग विद्वानों ने अपनी राय दी है। इन दोनों ग्रंथों की ऐतिहासिकता स्वयं ही संदेहास्पद है। 'रंभामंजरी नाटिका' में जयचंद के पिता का नाम तक सही नहीं दिया गया है। साथ ही ग्रंथों में पृथ्वीराज द्वारा लडे गए कई महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक युद्धों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। बहरहाल, कुछ ग्रंथों में संयोगिता स्वयंवर या राजसूय यज्ञों का उल्लेख नहीं आने से रासो ग्रंथ को अनैतिहासिक कहना सही नहीं है।

पृथ्वीराज रासो की दूसरी महत्वपूर्ण घटना कयमास वध की है। कयमास पृथ्वीराज का प्रधान अमात्य था, जो अपने राज्य की एक दासी पर मोहित था। पृथ्वीराज की अनुपस्थिति में कयमास उस दासी के कमरे में जा पहुँचा। इस घटना की जानकारी से क्रोधित पृथ्वीराज ने आखेट से वापस आकर कयमास का वध कर दिया और पुनः आखेट पर वापस चला गया। कयमास की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। 'पृथ्वीराज विजय' में कयमास को पृथ्वीराज का मंत्री बताया गया है। 'पुरातन-प्रबंध-संग्रह' के 'पृथ्वीराज-प्रबंध' में भी कयमास की कथा मिलती है। किन्तु यहाँ उसके वध के स्थान पर उसके निष्कासन का वर्णन हुआ है। आगे की कथा के अनुसार निष्कासन के बाद कयमास शहाबुद्दीन के साथ मिलकर पृथ्वीराज की पराजय का कारण बनता है।

पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी का युद्द प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है। इनके बीच युद्ध हुए, जिनमें पृथ्वीराज की पराजय हुई यह तथ्य इतिहाससम्मत है। किन्तु निर्णायक युद्ध से पूर्व इन दोनों के बीच हुए तमाम युद्ध संदेह के घेरे में आते हैं। इस संदर्भ में माताप्रसाद गुप्त का कथन उल्लेखनीय है - "इसके पूर्व के युद्धों के संदर्भ में कहा गया है कि पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को तीन बार बाँधा था, अन्यत्र यह है कि उसने शहाबुद्दीन को सरवर में परास्त किया था। ... एक स्थान पर शहाबुद्दीन से कहलाया गया है - 'जिहि हउं गहि छांडियउ वार सत हउं अप्पउ कर'। जिसके कम से कम दो अर्थ संभव हैं - एक तो वह कि 'जिसने मुझे पकड़कर छोड़ा और जिसे मैंने सात बार कर अर्पित किया', दूसरा यह कि 'जिसने मुझे सात बार पकड़ा और छोड़ा और जिसे मैंने कर अर्पित किया'"।[28] इस प्रकार पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के बीच हुए युद्धों की संख्या को लेकर तो विवाद हैं, किन्तु युद्ध हुआ इसमें किसी को भी संदेह नहीं हैं। इस युद्ध की ऐतिहासिकता को सभी विद्वानों ने निर्भ्रांत रूप से स्वीकार किया है। उपर्युक्त विवेचित तीनों प्रसंगों का अध्ययन करने के पश्चात 'पृथ्वीराजरासो' में वर्णित मूल कथा को ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक माना जा सकता है। किन्तु इस ग्रंथ में मूल कथा के समानांतर कई अन्य कथाओं का समावेश भी हुआ है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अप्रामाणिक हैं।

रासो में इतिहास और कल्पना का सुंदर संयोजन हुआ है। अतिरंजना का प्रयोग रासो ग्रन्थों की महत्वपूर्ण विशेषता है। इस कारण रासोकारों ने कई जगह कल्पित वंशावलियाँ और संवतों का

प्रयोग किया है । इन घटनाओं से रासो काव्य की ऐतिहासिकता खंडित हुई है । नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित पृथ्वीराज रासो के संस्करण में वर्णित अनैतिहासिक घटनाओं में लोहानो आजानुबाहु की कथा, नाहर राय की कथा, मेवाती मुग़ल की कथा, हुसेन कथा, भीमराज वध, प्रमुख हैं ।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा में प्रकाशित 'पृथ्वीराजरासो' के चौथे समय में लोहानो आजानुबाहु की कथा मिलती है । एक दिन पृथ्वीराज सामंतों समेत अपनी चित्रसारी में बत्तीस हाथ ऊँची गौख पर खड़े थे, जहाँ उनके हाथ से एक चित्र छूट गया । लोहानो ने बीच में ही कूद कर उस चित्र को पकड़ लिया । प्रसन्न होकर पृथ्वीराज ने उसको ग्वालियर, रणथम्भौर आदि गाँव दान में दे दिये । आगे जाकर लोहानो ने ओरछा पर चढ़ाई करके महाराज जसवंत सिंह को परास्त किया । रासो की किसी भी प्राचीनतम प्रति में इस घटना का कोई उल्लेख नहीं मिलता है । इतिहास में भी ओरछा नरेश के साथ इस तरह के किसी भी युद्द का वर्णन नहीं मिलता है ।

पृथ्वीराज के विवाह के लिए सोमेश्वर ने मंडोवर के राजा नाहर राय के पास दूत भेजा । नाहर राय के इनकार करने पर पिता की आज्ञा से पृथ्वीराज ने मंडोवर पर चढ़ाई की, जिसमें वे विजयी हुए । पराजित राजा ने अपनी कन्या पृथ्वीराज को सौंप दी । राज्य में लौटकर पृथ्वीराज का उस कन्या से विवाह हुआ । इस घटना की पुष्टि ऐतिहासिक तथ्यों से नहीं होती है। इतिहास सम्मत है कि पिता की मृत्यु के समय पृथ्वीराज की आयु दस या ग्यारह वर्ष की थी । इस उम्र में किसी राज्य पर आक्रमण कर उसको हराना और उस राज्य की कन्या से विवाह करना कपोल कल्पना सिद्ध होती है । सोमेश्वर के जीवनकाल में पृथ्वीराज द्वारा मेवाती मुगल को पराजित करना उतना ही अनैतिहासिक है जितना नाहर राय की कथा ।

शहाबुद्दीन का भाई हुसेन चित्ररेखा नाम की एक नर्तकी पर आसक्त था । शहाबुद्दीन को यह बात नागवार थी, उसने हुसेन को नर्तकी का साथ छोड़ने या राज्य छोड़ने का आदेश दिया । हुसेन अपने राज्य से निकाले जाने के बाद पृथ्वीराज की शरण में आ गया । इस घटना के परिणामस्वरूप पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन में युद्ध हुआ । इस युद्ध में शहाबुद्दीन की हार हुई । शहाबुद्दीन द्वारा हिन्दुओं पर पुनः चढ़ाई न करने का वचन लेकर पृथ्वीराज ने उसे आजाद कर दिया, जिसके बाद वह हुसेन के बेटे गाजी के साथ गजनी चला गया ।

इन घटनाओं के साथ-साथ रासो में पृथ्वीराज के अनेक विवाहों का उल्लेख हुआ है - पुंडीरदाहिमी विवाह, पृथा विवाह, शाशिवृत्ता विवाह, हंसावती विवाह, इन्द्रावती विवाह आदि ऐसे विवाह प्रसंग हैं जो सभी पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय में हुए बताये गए हैं । जबकि उनकी मृत्यु पृथ्वीराज की दस वर्ष की अवस्था में हो गयी थी । इस संदर्भ में ये सभी प्रसंग ऐतिहासिक रूप से असत्य साबित होते हैं । 'पृथ्वीराजरासो' में वर्णित है कि भीमराज का वध

पृथ्वीराज ने किया था, किन्तु इतिहास के आधार पर यह स्पष्ट है कि भीमराज पृथ्वीराज की मृत्यु के पचास वर्षों बाद तक जीवित रहा था।

उपर्युक्त विवेचित घटनाओं का मूल्यांकन करने से यह स्पष्ट होता है कि 'पृथ्वीराजरासो' न तो पूर्णतः ऐतिहासिक काव्य है और न ही पूर्णतः काल्पनिक। तर्कसंगत रूप से इस ग्रंथ को अर्द्धऐतिहासिक ग्रंथ कहना ज्यादा उचित है। वास्तव में यह ग्रंथ ऐतिहासिकता और काल्पनिकता का बेहतरीन संयोजन है। इस ग्रंथ से ऐतिहासिक तथ्यों की मांग करना इसकी साहित्यिकता के साथ अन्याय करना है। यह एक विकसनशील महाकाव्य है जिसकी रचना एक समय में बैठकर नहीं की गयी है, इसीलिए इसमें कई अवांतर कथाएं जुड़ती रही हैं। रासो काव्य ग्रंथ इतिहास ग्रंथ नहीं है। इसने राजस्थान की ऐतिहासिक परंपरा का संयोजन करते हुए उसका मानदंड बनाये रखने का कार्य किया है। इस ग्रंथ का मूल्याँकन इसकी साहित्यिकता के संदर्भ में ही किया जाना चाहिए, ऐतिहासिकता के संदर्भ में नहीं।

उत्तर प्रदेश में प्रचलित 'आल्हाखंड' को 'परमालरासो' का विकसित रूप माना जाता है। कालिंजर के राजा परमार के यहाँ जगनिक नामक भाट ने महोबा के दो प्रसिद्ध वीरों आल्हा और ऊदल को केंद्र में रखकर इस रासो काव्य की रचना की। लोक गेय काव्य परंपरा में होने के कारण इस रचना के मूल स्वरूप की रक्षा नहीं हो सकी। बाद के समय में इस काव्य में अनेक अंश जुड़ते रहे। इस तरह मूल साहित्यिक रूप में न रहने पर भी जनता के कंठ में इस रचना के स्वर आज भी गुंजायमान हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार - "यदि यह ग्रंथ साहित्यिक प्रबंध पद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयों में इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती। पर यह गाने के लिए ही रचा गया था। इसमें पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की और नहीं बढे , जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही - पर यह गूँज मात्र है, मूल शब्द नहीं"।[29] मौखिक रूप में होने के कारण 'परमालरासो' की साहित्यिकता ही संदेह के घेरे में है, तो उसमें ऐतिहासिकता की खोज करना दूर की कौड़ी लाने जैसा है।

विजयपाल रासो नल्ल सिंह भाट द्वारा रचित है। ये विजयगढ़ करौली के यादव राजा विजयपाल के आश्रित कवि थे। वर्तमान में इस ग्रंथ के मात्र बयालीस छंद उपलब्ध हैं। मिश्रबंधुओं ने इसका रचनाकाल सन् 1355 ई. माना है, किन्तु इसकी भाषा-शैली को देखकर लगता है कि इसका रचनाकाल काफी बाद का है। रचना में उल्लिखित तमाम ऐतिहासिक घटनाओं को देखकर अनुमान किया जाता है कि इसका लेखनकाल सं. 1600 वि. के आस-पास का रहा होगा। इस रचना में विजयपाल की दिग्विजय का काव्यमय वर्णन प्रस्तुत किया गया है। हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में विजयपाल रासो के सम्बन्ध में इससे अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है। जिन काव्य रचनाओं की साहित्यिकता का ही अंदाजा लगाना पड़े उनकी ऐतिहासिकता का मूल्यांकन कर

पाना बेहद दुरूह कार्य है । इतना अवश्य है की इतिहास में यादव राजा विजयपाल का उल्लेख मिलता है, जो इस रचना को ऐतिहासिक काव्य की कोटि में खड़ा करता है।

आदिकाल में प्राप्त होने वाली वीरगाथाओं की अनैतिहासिकता का एक बड़ा कारण संरक्षण की समस्या भी है । उस समय तक भारत में मुद्रण की व्यवस्था न होने के कारण ये रचनाएँ अधिकतर हस्तलिखित या ताम्रपत्र और भोजपत्रों पर लिखी गयी हैं। इन रचनाओं की व्यापकता हेतु सामंत-शासक इनकी नकल करते थे, इस नक़ल के क्रम में ही कुछ न कुछ जुड़ता चला गया। इस बात में संदेह है कि ये वीर काव्य एक ही कवि द्वारा लिखे या संपूर्ण किये गए हों। इस बात की पूरी सम्भावना है इन रचनाओं को लिखने वाले कवि एक से अधिक हों । 'पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृपकाज'[30] पंक्ति स्पष्ट करती है की 'पृथ्वीराज रासो' को लिखने की शुरुआत चंदबरदाई ने की लेकिन इस ग्रंथ को पूर्ण उनके पुत्र जल्हण ने किया। यह घटना जब एक रचना के साथ हो सकती है तो बाकि रचनाओं के साथ क्यों नहीं ? संभव है कि रचना के संरक्षण-कर्ताओं ने अपनी ओर से रचना में कुछ अंश जोड़ दिया हो । वीरकाव्यों के लिए इतिहास साधन है साध्य नहीं, इसीलिए भी यहाँ इतिहास की रक्षा का कोई प्रयास दिखाई नहीं देता है। चारण कवियों का एक मात्र उद्देश्य आश्रयदाताओं के गुणों की अतिरंजनापूर्ण प्रशंसा करना है, जिसमें वे पूरी तरह से सफल रहें हैं। इन कवियों ने चारण के रूप में रचनाओं को लिखा है, उपदेश देना इनका उद्देश्य नहीं रहा है । वे पूरी मस्ती से राजाओं की शौर्य और प्रेम गाथा का बयान करते हैं, फिर इसके बाद उन्हें दुनिया समाज, राजनीति, ऐतिहासिकता आदि किसी भी तत्व की कोई चिंता नहीं होती है। "आजकल के ऐतिहासिक विद्वान बेकार ही इन घटनाओं और अपतथ्यों से इतिहास खोज निकालने का प्रयास करते हैं। इन काव्यों में व्यापक रूढ़ियों के आधार पर अपने राजा को या काव्य नायक को उत्साह का आश्रय और रति का आलंबन बनाना चाहा है। इसमें इतिहास को समझने का कम और तत्काल प्रचलित काव्य रूढ़ियों को समझने का अधिक साधन है"।[31]

घ. भाषा-समस्या और आदिकाल

आदिकालीन भाषा के निर्धारण का मूल विवाद अपभ्रंश भाषा को हिंदी साहित्य में शामिल किये जाने अथवा नहीं किये जाने का है। आदिकालीन साहित्य के मूल्यांकन में भाषा एक बड़ी समस्या है। यह समस्या 'हिंदी' भाषा के अर्थ विस्तार से सम्बंधित है, जिसका मूल्यांकन अपभ्रंश और हिंदी भाषा के मध्य के सम्बन्ध का विश्लेषण किये बिना संभव नहीं है। इस काल में साहित्यिक

भाषा के रूप में जिस साहित्य का वर्चस्व दिखाई देता है, उसको प्रमुखता में अपभ्रंश और अंशतः 'देशी भाषा', अवहंस', 'अवहट्ट', आदि नामों से पुकारा गया है।

उत्तर-अपभ्रंश भाषा की रचनाओं को हिंदी साहित्य के अंतर्गत रखा जाये अथवा नहीं। यदि उत्तरवर्ती अपभ्रंश के साहित्य को हिंदी में शामिल किया जाये तो उसका निर्धारण किस आधार पर किया जाये ? यदि शामिल नहीं किया जाये तो अपभ्रंश के अतिरिक्त हिंदी साहित्य की परंपरा का आधार कहाँ से ग्रहण किया जाये ? अपभ्रंश भाषा से हिंदी के स्वतंत्र विकास की परिस्थितियाँ क्या थीं ? क्या अपभ्रंश के साहित्य को सिरे से नकारकर हिंदी साहित्य की व्याख्या संभव है ? इन प्रश्नों को लेकर आदिकालीन विद्वानों तथा आलोचकों में तमाम मतभेद और वाद-विवाद हैं। भाषा संबंधी ये सभी प्रश्न आरंभिक काल के अध्ययन में कई समस्याएँ उत्पन्न करते हैं।

आदिकाल, हिंदी साहित्य का संक्रान्तिकाल है। इस युग में लम्बे समय तक साहित्य का माध्यम रहने के बाद अपभ्रंश भाषा का पतन हो रहा था और उनके स्थान पर लोक भाषाएँ अस्तित्व में आ रहीं थीं। आदिकाल साहित्यिक भाषा के रूप में दो भाषाओं के बनने-बिगड़ने का समय था। राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और भाषिक हर स्तर पर, यह युग परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों से घिरा हुआ था। आदिकाल नामकरण में 'आदि' शब्द को साहित्य के साथ-साथ हिंदी भाषा की भी आरंभिक अवस्था का सूचक कहा जा सकता है। हिंदी से पहले अपभ्रंश भाषा साहित्य लेखन का माध्यम थी। कालांतर में अपभ्रंश भाषा से अलग स्वतंत्र रूप में हिंदी भाषा के विकास के चिन्ह दसवीं शती से मिलने शुरू हो जाते हैं, इसीलिए मुख्यतः 1000 ई. से 1400 ई. के मध्य हिंदी प्रदेशों में उपलब्ध होने वाले साहित्य को आदिकालीन हिंदी साहित्य की आधार सामग्री के रूप में लिया जाता है। भाषा की जड़ता उसके पतन का प्राथमिक कारण होती है। लम्बी कालावधि तक साहित्य लेखन का माध्यम रहने के बाद अपभ्रंश भाषा धीरे-धीरे रूढ़ि-ग्रस्त होती चली गयी। परिणामस्वरूप अपभ्रंश के स्थान पर एक नई बोली साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनी।

आदिकाल में भाषा की समस्या मूलतः अपभ्रंश से हिंदी के स्थानापन्न की अवधि को लेकर है। अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और हिंदी भाषा कहाँ से आरम्भ होती है इसकी कोई निश्चित तिथि नहीं है। यह परिवर्तन वर्षों में घटित होने वाली सतत घटना है। पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी कहते हैं, "अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिंदी कहाँ आरम्भ होती है इसका निर्णय करना कठिन है, किन्तु रोचक और बड़े महत्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं और पुरानी हिंदी भी"।[32] अपभ्रंश से हिंदी का रूपांतरण धीमा किन्तु स्पष्ट है। भाषाओं का यह सहअस्तित्व साहित्य के समूचे आदिकाल में वैसे ही दिखाई देता है, जैसे आधुनिककाल के भारतेंदु युग में ब्रज और खड़ी

बोलियों का । एक बोली (ब्रज) साहित्य से स्थगित हो रही थी और दूसरी (खड़ी) उसका स्थान ग्रहण कर रही थी । खड़ी बोली के अतिआग्रह के बावजूद भारतेंदु युग से लेकर द्विवेदी युग तक ब्रज भाषा खड़ी बोली के समानांतर चलती रही । अपभ्रंश और हिंदी भाषा का स्थानापन्न भी कुछ ऐसा ही रहा है । वर्षों तक दोनों भाषाएँ एक साथ साहित्य का माध्यम रहीं, यही कारण है कि कविता के कई ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जिनकी भाषा को न पूरी तरह से अपभ्रंश कहा जा सकता है, और न ही हिंदी । परिवर्तन की यह धीमी रफ्तार ही आदिकाल में भाषा संबंधी तमाम विवादों की जननी है ।

अधिकतर आलोचकों ने आदिकाल का रचना काल दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के मध्य स्वीकार किया है, किन्तु साहित्य का इतिहास कभी भी तिथियों के बदलने के साथ या किसी खास बिंदु पर आकर एकदम से बदल नहीं जाता है । आदिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध दसवीं सदी के पूर्व के साहित्य से भी है, और चौदहवीं सदी के बाद के साहित्य से भी । साहित्य का एक काल से दूसरे काल में विकास श्रंखलात्मक रूप में होता है । इस श्रंखला में अपभ्रंश भाषा का साहित्य प्राथमिक सामग्री की भूमिका निभाता है । आदिकाल को विरासत के रूप में अपभ्रंश साहित्य की समृद्ध परंपरा मिली है । हिंदी भाषा के स्वतंत्र विकास को समझने के लिए हिंदी और अपभ्रंश साहित्य के सहसंबंधों का मूल्यांकन आवश्यक है ।

साहित्यिक भाषा के रूप में जब हिंदी अस्तितित्व में आई उससे पहले अपभ्रंश साहित्य लेखन का माध्यम थी । भाषाओं के स्थान में होने वाला यह परिवर्तन तिथियों के परिवर्तन जितना सहज और एक रेखीय नहीं था । हिंदी में साहित्य लिखने के समानांतर ही अपभ्रंश भाषा में भी रचनाएँ होती रहीं । आरंभिक हिंदी और उत्तर अपभ्रंश की रचनाओं में कई बार इतनी समानता देखने को मिलती है कि उनमें भेद करना भी संभव नहीं हो पाता है । दोनों भाषाओं की यह संकर अवस्था आदिकालीन भाषा के मूल्यांकन में महती समस्या उत्पन्न करती है । आदिकालीन आलोचना में प्राथमिक मतभेद इसी समस्या पर केन्द्रित है कि अपभ्रंश की उन रचनाओं को हिंदी साहित्य के अंतर्गत शामिल किया जाये अथवा नहीं जो भाषागत दृष्टि से हिंदी के करीब हैं या उससे मिलती जुलती हैं । ऐसी रचनाओं की भाषा को ही आलोचकों ने पुरानी हिंदी, देशी या अवहट्ट कहा है । अपभ्रंश भाषा के सहित्य को हिंदी में शामिल किये जाने अथवा नहीं किये जाने के पक्ष-विपक्ष में विद्वानों ने तमाम तर्क दिए हैं ।

पं चंद्रधर शर्मा गुलेरी और राहुल सांकृत्यायन हिंदी साहित्य का समय सातवीं-आठवीं शताब्दी से मानते हैं । उनके अनुसार अपभ्रंश ही पुरानी हिंदी है । हिंदी साहित्य के आरम्भ का सारा विवाद इसी प्रश्न पर आधारित है । वे अपभ्रंश के साहित्य की गणना हिंदी के अंतर्गत ही करते हुए अपभ्रंश के कवि स्वयंभु और पुष्पदंत को हिंदी का आरंभिक कवि मानते हैं । चंद्रधर शर्मा गुलेरी स्पष्ट कहते हैं कि "विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही

और फिर वह पुरानी हिंदी में परिणत हो गयी । इसमें देशी की प्रधानता है" ।[33] अर्थात गुलेरी जी की अवधारणा है कि ग्यारहवीं शताब्दी में आकर अपभ्रंश ही हिंदी के रूप में चलने लगी । 'काव्यधारा' में सिद्धों की भाषा के सम्बन्ध में राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं - "इस भाषा को अपभ्रंश कहते हैं, शायद इससे आप समझने लगे होंगे, कि तब तो यह हिंदी से जरूर अलग भाषा होगी । लेकिन नाम पर न जाइये, इसका दूसरा नाम 'देशी' भाषा भी है । अपभ्रंश इसे इसलिए कहते हैं, कि इसमें संस्कृत शब्दों के रूप भ्रष्ट नहीं,अपभ्रष्ट-बहुत ही भ्रष्ट हैं, इसलिए संस्कृत पंडितों को ये जाति भ्रष्ट शब्द बुरे लगते होंगे"।[34] राहुल सांकृत्यायन यहाँ बिना किसी संकोच के अपभ्रंश और देशी भाषा को एक मानते हैं । सिद्धों का संपूर्ण साहित्य राजदरबारों की या राजाओं की स्तुतिगाथा न होकर लोक केन्द्रित था । इसी कारण उनकी भाषा लोकोन्मुख थी लेकिन यह लोक भाषा नहीं थी । सिद्धों की रचनाओं में आरंभिक हिंदी के नमूने नजर आते हैं, या उनकी रचनागत भाषा हिंदी से मिलती जुलती है, लेकिन इस आधार पर इन रचनाओं को देशी भाषा की रचनाएँ कह देना तार्किक नहीं है । राहुल सांकृत्यायन की सिद्धों की भाषा संबंधी अवधारणा में संशोधन करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने देशभाषा और काव्यभाषा अर्थात अपभ्रंश को अलग अलग माना है । वे सिद्धों की रचनाओं को परिनिष्ठित अपभ्रंश से अलग स्वीकार तो करते हैं, लेकिन इस भाषा को लोक भाषा की जगह 'अपभ्रंश मिश्रित देशभाषा' कहते हैं ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य का निर्धारण करने वाली सामग्री के अभाव का हवाला देते हुए मानते हैं कि "वस्तुतः, चौदहवीं शताब्दी के पहले की भाषा का रूप हिंदी-भाषी प्रदेशों में क्या और कैसा था, इसका निर्णय करने योग्य साहित्य आज उपलब्ध नहीं हो रहा है । कुछ अधिक प्रामाणिक प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ और शिलालेख आदि से ही उस भाषा का परिचय मिल सकता है । दुर्भाग्यवश इस काल का ऐसा साहित्य उपलब्ध नहीं है । जो एकाध शिलालेख और ग्रंथ (जैसे, उक्तिव्यक्तिप्रकरण) मिल जाते हैं, वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य की और बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा था, पर पद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था । इसलिए, इस काल को अपभ्रंश-काल का बढ़ाव कहना उचित ही है" ।[35] 'हिंदी साहित्य का उद्भव विकास' में हजारी प्रसाद द्विवेदी अपभ्रंश को हिंदी का मूल रूप मानते हुए कहते हैं कि यदि हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों ने अपभ्रंश साहित्य को हिंदी का ही मूलरूप समझा है तो ठीक ही किया है । उनके अनुसार "हिंदी साहित्य में (अपभ्रंश की) प्रायः पूरी परंपरा ज्यों की त्यों सुरक्षित है । शायद ही किसी प्रांतीय साहित्य में ये सारी की सारी विशेषताएं इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों । यह सब देखकर यदि हिंदी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा

जा सकता । इन ऊपरी साहित्य-रूपों को छोड़ भी दिया जाये तो इस साहित्य की प्राण-धारा निरविच्छिन्न रूप से परवर्ती हिंदी-साहित्य में प्रवाहित होती रही है" ।[36]

आचार्य द्विवेदी हिंदी और अपभ्रंश के साहित्य रूपों के साथ प्राण धारा अर्थात विषयवस्तु को अविच्छिन्न अर्थात एक ही मानते हैं। इस बात से एक हद तक सहमत हुआ जा सकता है कि परवर्ती हिंदी साहित्य की विषयवस्तुओं के बीज आदिकालीन हिंदी साहित्य में मौजूद हैं, किन्तु इस आधार पर हिंदी और अपभ्रंश को अविच्छिन्न नहीं कहा जा सकता है। संस्कृत साहित्य की मूल विषयवस्तु 'ईश्वर' और 'भक्ति' हिंदी साहित्य के भक्तिकाल की आधारवस्तु हैं, तो क्या इस अर्थ में हिंदी और संस्कृत भाषा को अविछिन्न कहा जा सकता है ? हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास नामक पुस्तक में आचार्य द्विवेदी अपभ्रंश और हिंदी भाषा के सम्बन्ध को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि इस अपभ्रंश साहित्य को मध्य देश में उसी प्रकार भाषा काव्य समझा जाता रहा है, जिस प्रकार परवर्ती ब्रजभाषा या अवधी की कविता को (जिसे हिंदी कहने में किसी पंडित को संकोच न होगा) । आचार्य द्विवेदी अपभ्रंश को अवधी और ब्रज के समान ही हिंदी मानते हैं। उनके मतानुसार अपभ्रंश पूर्ववर्ती हिंदी है और अवधी और ब्रज परवर्ती हिंदी हैं। किन्तु अपनी इस बात का वे कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते हैं। यह सही है कि अपभ्रंश भाषा का साहित्य हिंदी साहित्य का पूर्ववर्ती है, लेकिन इस तर्क से यह स्पष्ट नहीं हो जाता है कि हिंदी भाषा का जन्म अपभ्रंश भाषा के बाद हुआ। यह संभव है कि साहित्यिक भाषा अपभ्रंश के समानांतर हिंदी की बोलियाँ या देश भाषायें अस्तित्व में रहीं हों । साहित्य के सभी विद्वानों ने अपभ्रंश साहित्य में देशभाषाओं के प्रभाव को स्वीकार किया है। ये भाषाएँ अस्तित्व में थीं इसीलिए काव्यभाषा को प्रभावित कर पा रही थीं।

हिंदी पर अपभ्रंश का प्रभाव है, किन्तु अपभ्रंश हिंदी का मूल रूप कदापि नहीं कही जा सकती है। नामवर सिंह कहते हैं कि - "वस्तुतः यह सारा विवाद इसलिए है कि अपभ्रंश संबंधी प्रस्तुत ज्ञान जिन संप्रदाय-परंपरा से प्राप्त है ! जब तक उस समय की बोलचाल की भाषा का पता देने वाली कोई अन्य प्रामाणिक सामग्री नहीं मिलती तब तक हमें अपभ्रंश के प्राप्त साहित्य के परीक्षण से ही देशभाषा का निश्चय करना होगा। और जो विद्वान अपभ्रंश को देश भाषा मानने से इनकार करते हैं उनके कथन से ही इतना तो निश्चय है ही कि अपभ्रंश में देश भाषा के पर्याप्त तत्व प्राप्त होते हैं" ।[37]

किन्तु एक भाषा पर दूसरी भाषा का प्रभाव मानना एक बात है और दूसरी भाषा को पहली भाषा से उद्भूत मानना दूसरी बात है। यदि हिंदी पर अपभ्रंश के प्रभाव की तर्ज पर ही भाषा का निर्धारण करना हो तो अपभ्रंश पर भी अपनी पूर्ववर्ती भाषा प्राकृत का प्रभाव है, उसी तरह जैसे संस्कृत पर छन्दस का। इस आधार पर तो हर परवर्ती भाषा पहली भाषा की अनुकृति हुई, किन्तु ऐसा नहीं होता है। "अपनी पूर्ववर्ती भाषा से प्रत्येक भाषा का प्रायः यही सम्बन्ध होता है, कुछ दूर तक तो वह पूर्ववर्ती भाषा पर ही आधारित होती है। परन्तु भाषा विकास के अपने नियमों के

अनुसार वह पूर्ववर्ती भाषा का विकसित अथवा परिष्कृत और परिवर्द्धित रूप भी होती है। इस प्रकार प्रत्येक भाषा अपनी प्रकृति से कुछ विशिष्ट और विभिन्न हो जाती है" ।[38] इसी संदर्भ में आचार्य शुक्ल ने अपभ्रंश को पुरानी हिंदी न कहकर प्राकृताभास हिंदी कहा है। उनके अनुसार - "इस अपभ्रंश या प्रकृताभास हिंदी का अभिप्राय यह है कि यह उस समय की ठीक बोलचाल की भाषा नहीं है जिस समय की इसकी रचनाएँ मिलती हैं। यह उस समय के कवियों की भाषा है। ... इतना अनुमान तो किया जा सकता है कि प्राकृत पढ़े पंडित ही उस समय कविता नहीं करते थे। जनसाधारण की बोली में गीत दोहे आदि प्रचलित चले आते रहे होंगे जिन्हें पंडित लोग गंवारू समझते रहे होंगे। ऐसी कविताएँ राज्यसभाओं तक भी पहुँच जाती रहीं होंगी। 'राजा भोज जस मूसरचंद' कहने वालों के सिवा देश भाषा में सुंदर भावभरी कविता करने वाले भी अवश्य ही रहे होंगे" ।[39] आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपभ्रंश और हिंदी के भाषाई अन्तःसम्बन्धों को समझते हुए ही अपभ्रंश को देश भाषा न कहकर कवियों की भाषा कहा है। उनका स्पष्ट कहना है कि जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक वह भाषा या देशभाषा कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गयी तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा। आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट लिखा है कि "प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिंदी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है"। स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने अपभ्रंश को लोक या देशभाषा नहीं माना है। प्राकृत की अंतिम अवस्था अपभ्रंश साहित्य की भाषा अर्थात काव्यभाषा थी न कि देश भाषा, जिससे हिंदी साहित्य का आविर्भाव हुआ (ध्यातव्य है कि यहाँ पर हिंदी साहित्य का आविर्भाव बताया गया है, न कि हिंदी भाषा का)। आगे उन्होंने 'अपभ्रंश या प्रचलित काव्यभाषा' 'अपभ्रंश या प्रकृताभास हिंदी' जैसे पदों का प्रयोग किया है। इन पदों से स्पष्ट है कि वे अपभ्रंश को लोक भाषा नहीं, 'काव्य भाषा' मानते हैं और हिंदी नहीं बल्कि 'प्राकृताभास हिंदी' मानते हैं। इस प्रकार वे हिंदी या देश भाषा को अपभ्रंश से अलग करते हैं।

अपभ्रंश अपने समय की साहित्यिक भाषा थी, लोक भाषा या देश भाषा नहीं थी। अपभ्रंश के कुछ कवियों ने अपनी भाषा को देशभाषा कहकर संबोधित अवश्य किया है, लेकिन उससे उनका तात्पर्य किसी प्रान्त विशेष की भाषा से नहीं है। राहुल सांकृत्यायन ने पूरे जोर के साथ सिद्धों की भाषा को लोक भाषा साबित करने की कोशिश की है। 'हिंदी के प्राचीनतम कवि और उनकी रचनाएँ : सिद्ध युग (800-1200 ई.)' शीर्षक लेख में उन्होंने सिद्धों द्वारा साहित्य में लोक भाषा की प्रतिष्ठा पर बल दिया और लिखा है - "सिद्ध लोगों ने उस समय लोक भाषा में कविता शुरू की, जिस समय शताब्दियों से भारत के सभी धर्म वाले किसी न किसी मुर्दा भाषा द्वारा अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे, और इसी कारण उनेक धर्म के जानने वाले बहुत कम हुआ करते थे। ... अपने वज्रयान की जनता पर विजय पाने के लिए उन्होंने भाषा की कविता का सहारा लिया। आदि सिद्ध

सरहपाद से ही हम देखते हैं, कि सिद्ध बनने के लिए भाषा का कवि होना, मानो एक आवश्यक बात थी ।[40] लेकिन सिद्धों द्वारा प्रयुक्त 'भाषा' हिंदी भाषा नहीं है । यह वैसा ही है जैसे मध्य युग के कवियों ने अपनी भाषा को 'भाषा' कहा है । उदाहरणस्वरूप कबीरदास के अनुसार – 'संस्कीरत है कूप जल भाषा बहता नीर' । तुलसीदास के अनुसार – 'भाषा भणिति मोर मति भोरी' । केशव कहते हैं – 'भाषा बोलि न जानहिं जिनके कुल के दास' इत्यादि । ऐसा लगता है जैसे अपनी काव्य भाषा को 'भाषा' कहना एक परिपाटी थी, अपभ्रंश के कवियों ने इसी अर्थ में अपनी भाषा को देश भाषा कहा है । यह बात भली-भांति समझ लेने की है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश इत्यादि साहित्य की परिनिष्ठित भाषाएँ थीं जो अपने-अपने समय की देशी भाषाओं से भिन्न थीं । अतः उनमें से किसी को भी देश-भाषा या लोक भाषा समझना उपयुक्त नहीं है ।

रामसिंह तोमर ने अपभ्रंश और देशीभाषा के फर्क को और अधिक स्पष्ट करते हुए तर्क दिया है कि - "भरत ने सर्वप्रथम कदाचित् 'देशभाषा' शब्द का प्रयोग किया है । विभिन्न देशों प्रान्तों की बोलियों को उन्होंने देशभाषा कहा है । तरंगवती के संक्षिप्तकर्ता ने बताया है कि देशी वचनों की बहुलता के कारण कृति को सब लोग नहीं समझ सकते थे, देशी वचनों से तात्पर्य अप्रचलित शब्दों से प्रतीत होता है, अपभ्रंश से नहीं । कामसूत्र में चौसठ कलाओं में से 'देशभाषा विज्ञान' को एक कला माना है, इसी प्रकार कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी 'भाषांतरज्ञ' का उल्लेख मिलता है । दोनों का तात्पर्य देश विशेष की बोली से है, अपभ्रंश से नहीं हो सकता है । 'विक्रमांकदेवचरित' में 'जन्मभाषा' तथा 'कुवलयमाला कथा' (835 वि. सं.) में परिगणित अठारह देशी भाषाओं के उल्लेख भी इसी प्रकार हैं । 'कथासरित्सागर', 'वृहत्कथामंजरी', 'कविकंठाभरण' आदि में भी देशीभाषा तथा देश भाषा काव्य के उल्लेख मिलते हैं । इस प्रकार अत्यंत प्राचीन समय से प्रदेश विशेष की बोलियों के लिए देशभाषा शब्द का प्रयोग मिलता है, देशभाषा से उनका तात्पर्य अपभ्रंश कदापि नहीं था । ... इस संक्षिप्त विवेचन से स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि देशी भाषाएँ अपभ्रंश से भिन्न प्रांतीय बोलियाँ थीं और प्राचीन साहित्य में - नाट्य-शास्त्र, कामसूत्र, कौटिलीय अर्थशास्त्र इत्यादि - इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है । अपभ्रंश तथा हिंदी के प्राचीन कवियों ने 'देशभाषा' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश या अपनी कविता की भाषा के लिए किया है" ।[41]

समाज में सदैव ही मानकीकृत भाषा या शिष्ट भाषा या साहित्यिक भाषा के समानांतर लोक भाषा का अस्तित्व रहा है । वर्तमान समय का उदाहरण लिया जाये तो आज खड़ी बोली ही काम-काज और साहित्य की सर्वस्वीकृत भाषा है । किन्तु उसके समानांतर ही लोक में विभिन्न बोलियों का अस्तित्व मौजूद है, जिसको लोक भाषा या ग्रामीण भाषा कहा जाता है । निश्चित रूप से इस उदाहरण में भाषा एक है बाकि उसकी बोलियां हैं, लेकिन यहाँ भाषा की प्रकृति पूर्ववर्ती ही है ।

राज्सत्ता के समानांतर हमेशा ही लोक भाषा का अस्तित्व रहा है इसमें कोई दो राय नहीं है। जिस समय साहित्य में संस्कृत और प्राकृत का व्यवहार होता था, उस समय इन दोनों से अलग देशी भाषाओं के अस्तित्व की सूचना पुराने साहित्य में लगातार मौजूद है, बस उनके संरक्षण के अभाव में उस साहित्य का कोई प्रमाण आज उपलब्ध नहीं है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'कीर्तिलता' की भूमिका में शिष्ट भाषा और लोक भाषा के भेद का विवेचन करते हुए लिखा है - "जैन साहित्य में तो कुछ बड़ी भाषाओं का और कई सौ खुल्ल्क भाषाओं का उल्लेख आता है। भारत जैसे बहुभाषी देश में यह स्थिति वेद के समय से ही थी और आज तक चली आयी है"।[42]

ये 'खुल्ल्क भाषाएँ' ही जनपदीय भाषाएँ थीं। उनकी प्रकृति प्राकृत से बिल्कुल अलग थी। "यह स्पष्ट है कि वह (अपभ्रंश) कभी भी बोलचाल की भाषा नहीं थी और उसके इतिहास की किसी भी मंजिल में देशभाषाओं से उसका तादात्म्य नहीं था। ये देश भाषाएँ उस युग की बोलियाँ थीं। ... उसका ध्वनितंत्र साहित्यिक प्राकृतों से लिया गया था। उसकी व्याकरण व्यवस्था और मुहावरे देशभाषाओं से लिए गए थे। अपभ्रंश पद्य में जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, उनमें 90 फीसदी वही हैं जो प्राकृत पद्य में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु दस फ़ीसदी शब्द देशी हैं और बहुत संभव है कि वे तत्कालीन देशी भाषाओं से लिए गए हों"।[43] अपभ्रंश भाषा की मूल आत्मा और उसके मुहावरे प्राकृत की अपेक्षा आधुनिक भारतीय भाषाओं के अधिक निकट हैं। जबकि साहित्यिक प्राकृतों के मुहावरे संस्कृत के मुहावरों के अधिक निकट हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि उस समय की देशभाषाएं केवल अपभ्रंश की टेक लेकर ही साहित्य का माध्यम बन सकती थीं उनके स्वतंत्र विकास की सम्भावना नहीं थी। समय के साथ अपभ्रंश में देशी तत्वों की यह मिलावट बढती गयी और लगभग चौदहवीं सदी के आस-पास 'प्राकृत पैंगलम' जैसी रचनाएँ देखने को मिलती हैं। ऐसे ग्रंथों में अपभ्रंश भाषा के अवशेष मात्र ही शेष हैं। चौदहवीं सदी के बाद विकसित हुआ भक्तिकाल लोक काव्य का प्रतिबिम्ब है, किसी साहित्यिक भाषा की प्रतिकृति नहीं। खुसरो, विद्यापति या भक्तिकालीन कवि सूरदास, तुलसीदास और जायसी का समर्थ साहित्य अचानक जन्मने वाली कला नहीं है। वह एक साहित्यिक परंपरा की कड़ी है जिसकी परंपरा अपभ्रंश भाषा में नहीं है। यह परंपरा लोक भाषाओं के साहित्य की देन है। यही कारण है कि खुसरो की पहेलियाँ हों या विद्यापति के पद, कबीर के दोहे हों या तुलसी की चौपाइयां अनपढ़ लोगों को भी कंठस्थ हैं, यह लोक साहित्य की विशेषता है। लोक साहित्य की झलक अपभ्रंश में दिखाई देती है, लोक साहित्य को अपभ्रंश की झलक समझना भूल है। जब तक भाषा विज्ञानी अपभ्रंश को आधुनिक आर्यभाषाओं की जननी मानते रहेंगे, तब तक वे कभी इनका ऐतिहासिक विकास न समझ पाएंगे। जब तक वे अपभ्रंश साहित्य को लोक साहित्य मानते रहेंगे, तब तक वे साहित्य का माध्यम बनने के लिए देशी भाषाओं के संघर्ष का महत्व भी न समझेंगे। मैथिल भाषा का उदाहरण देते हुए रामविलास शर्मा

कहते हैं कि – "यदि मिथिला की बोल-चाल की भाषा मैथिल थी तो उस बोलचाल की भाषा को एक कृत्रिम साहित्यिक भाषा कैसे प्रभावित करेगी ? दरअसल बोलचाल की भाषा मैथिल ही कृत्रिम भाषा अपभ्रंश को प्रभावित करेगी । इससे यह अवधारणा पुष्ट होती है कि अपभ्रंश परवर्ती और पूर्ववर्ती दोनों प्रकार की अपभ्रंश देशी भाषाओं से प्रभावित प्राकृत है" ।[44]

देशी भाषाएँ अपभ्रंश से भिन्न थीं और लोक संस्कृति का माध्यम थीं । देशी भाषा में ही दोहा-चौपाई आदि छंदों का प्रचलन हुआ । सिद्ध साहित्य जो दोहा छंद का प्रस्तोता है वह भी देशी भाषा की अधिकता वाली अपभ्रंश में रचित है । आल्हा की मौखिक काव्य परंपरा भी देशी भाषाओं की ही देन है । देशी भाषा में ही तरह-तरह के आख्यान-काव्यों, गेय पदों की परंपराएँ विद्यमान थीं । यदि अपभ्रंश लोक संस्कृति का माध्यम होती तो साहित्यिक भाषा से उसको कोई अन्य भाषा हटा नहीं पाती ।

अपभ्रंश का हिंदी को प्रदेय यही है कि हिंदी प्रदेश की लोक संस्कृति टूटे-फूटे रूप में अपभ्रंश के माध्यम से व्यक्त हुई है । इस समय अपभ्रंश साहित्य के आश्रयदाताओं का युग समापन की ओर था । इस संरक्षण के नष्ट होने से लोक संस्कृति के विकास का रास्ता भी साफ़ हो गया । किन्तु यह विकास हर ओर एक जैसा नहीं था । देशी भाषाओं को साहित्यिक भाषा बनने में कहीं अधिक और कहीं कम समय लगा, इसके कारण सामाजिक और सांस्कृतिक हैं । रामविलास शर्मा के अनुसार देशी भाषाएँ, अर्थात संस्कृत प्राकृत से भिन्न जनपदीय भाषाएँ, कम से कम उतनी ही पुरानी हैं जितना पुराना भरत का नाट्यशास्त्र है ।

"यह कल्पना करना असंगत न होगा कि जिन देशी भाषाओं की विशेषताएं इस प्राकृत में परिलक्षित हैं, वे देशी भाषाएँ ईसवी सन शुरू होने से पहले भारत के विभिन्न प्रदेशों में बोली जाती थीं । उनमें साहित्य नहीं रचा गया, इसका कारण यह नहीं है कि अपभ्रंशों से अभी उनका जन्म नहीं हुआ था । इसका कारण सामंती व्यवस्था की जकड़ और संस्कृति के संकुचित क्षेत्र पर संस्कृत-प्राकृत का प्रभुत्व था । यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि प्राचीन काल में जब देशी भाषाओं के अस्तित्व की बात कही जाती है, तब उसका आशय यह नहीं है कि ये भाषाएँ हुबहू आधुनिक भाषाओं जैसी, शब्द भंडार और व्याकरण की विशेषताओं से लैस, उस समय विद्यमान थीं । आशय यह है कि मराठी, बंगला, हिंदी आदि भाषाओं के मूलतत्व - इनके व्याकरण की मूल विशेषताएं, इनके मूल शब्द भण्डार की सम्पदा - उस समय भी विद्यमान थी । प्रत्येक भाषा को बोलियों का एक समुदाय मानना चाहिए । इस समुदाय में से कुछ बोलियों के आधार पर जातीय भाषा के रूप में किसी एक बोली का विकास बाद की प्रक्रिया है, जब व्यापार, उद्योगधंधों और संस्कृति के नए केंद्र स्थापित होते हैं, सामंतकालीन जनपदों का अलगाव दूर होता है, और एक वृहत्तर क्षेत्र में जातीय भाषा का

प्रसार होता है" ।[45] डॉ सुनीति कुमार चटर्जी के हवाले से रामविलास शर्मा आगे कहते हैं - "1000 साल पहले पश्चिमी अपभ्रंश खड़ी बोली हिंदी की जगह पर थी, और उसका व्यवहार सारे भारत में होता था । विभिन्न क्षेत्रों के लोग अपभ्रंश तथा अपनी स्थानीय भाषाएँ, दोनों का प्रयोग करते थे । (द स्ट्रगल फार एम्पायर) डॉ चटर्जी से सहमति रखते हुए रामविलास शर्मा कहते हैं कि यह स्थापना ज्यादा सही है । अपभ्रंश के साथ स्थानीय भाषाएँ विद्यमान थीं । लोक व्यवहार में ये भाषाएँ ही आती थीं । अपभ्रंश शिष्ट जनों के साहित्य का माध्यम थी । यह पश्चिमी अपभ्रंश बंगाल को भी आच्छादित किये हुए थी, यह सत्य है" ।[46]

बारहवीं सदी के अंतिम दशकों में मराठी संत नामदेव मराठी भाषा के साथ हिंदी में भी कविता लिखते हैं। उनके हिंदी पदों की भाषा कहीं ब्रज है कहीं खड़ी बोली। लेकिन इसी काल खंड में हिंदी प्रदेश में कवि अपभ्रंश भाषा में रचनाएँ कर रहे थे । इसका स्पष्ट कारण तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं । यह प्रदेश उक्त सामंत वर्ग का गढ़ था, जिन्होंने अपभ्रंश का पोषण किया । सामंत वर्ग और उनके द्वारा पोषित भाषा के दबाव से हिंदी-भाषी जनता को मुक्ति पाने में देर लगी । यही कारण है कि हिंदी भाषा की प्राथमिक रचनाएँ हिंदी प्रदेश में न मिलकर महाराष्ट्र और दकन में दिखाई देती हैं । "इस संदर्भ में विद्यापति की कीर्तिलता का महत्व असाधारण है । यह उस कवि की रचना है जो अपभ्रंश के आलावा देशी भाषा में भी रचना करता है । इससे पहले प्राकृत और अपभ्रंश के कवि देशी भाषाओं का उल्लेख मात्र करते थे । बहुत से बहुत कुछ देशी शब्दों की सूची दे देते थे । विद्यापति देशी भाषाओं का उल्लेख ही नहीं करते, उसमें रचना भी करते हैं । यदि मैथिली में उनकी रचनाएँ सुलभ न होतीं तो विद्वान् अवश्य कहते कि मैथिली अभी अपभ्रंश के गर्भ में है । सौ-दो सौ साल तक उसका उद्भव रुका रहता । किन्तु विद्यापति ने मैथिली में कविता करके इस सम्भावना का नाश कर दिया । देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तं तैसन जम्पयों अव्हट्ठा" ।[47] सरहपा और स्वयंभू से लेकर विद्यापति तक इस तरह की सैकड़ों अपभ्रंश रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनकी भाषा अपभ्रंश होने के बावजूद स्थानगत विविधता से भरपूर है । यह उल्लेखनीय है कि कम मात्रा में ही सही लेकिन तेरहवीं शताब्दी से ही मध्यदेश में प्रचलित बोलियों का साहित्य भी प्राप्त होने लगता है । लगभग दो शताब्दियों (तेरहवीं-चौदहवीं) तक अपभ्रंश और तत्कालीन प्रचलित बोलियों में समानांतर रूप से साहित्य रचना होती है यद्यपि वर्चस्व अपभ्रंश का ही बना रहता है । क्योंकि 'किसी भी भाषा के साहित्य का निर्माण अन्य भाषाओं के साहित्य से नितांत अलगाव की अवस्था में नहीं होता' । विकसित होने के लिए भारतीय भाषाओं का संघर्ष हम तभी समझ सकते हैं, जब अपभ्रंश से इतर देशी भाषाओं का अस्तित्व स्वीकार करेंगे और आधुनिक आर्य भाषाओं को अपभ्रंश की संतान न मानकर पुरानी देशी भाषाओं का आधुनिक रूप मानेंगे । "दुर्भाग्य से लोक

साहित्य की परंपरा और अपभ्रंश साहित्य के सम्बन्ध को विद्वानों ने उलटे ढंग से देखा है। जो आधार है, उसे वे आधेय मान बैठते हैं और जो आधेय है वह उनकी कल्पना में आधार बन जाता है"।[48]

अपभ्रंश भाषा का ध्वनितंत्र प्राकृत का है। इसका रूपतंत्र देशी भाषाओं और प्राकृत दोनों से मिलकर निर्मित हुआ है। यह बोल-चाल की भाषा कभी नहीं रही और इसमें एक नहीं अनेक भाषाओं के तत्व विद्यमान हैं। इन अनेक भाषाओं में एक भाषा अवधी भी है जिसके रूप पूरब में दोहाकोश और चर्यागीत से लेकर पश्चिम में हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश पद्यों तक में मिलते हैं। वास्तव में हिंदी साहित्य का इतिहास साहित्य से प्राकृत अर्थात अपभ्रंश और अवहट्ट के अपदस्थ होने और देशी भाषाओं के साहित्य में प्रतिष्ठित होने के साथ आरम्भ होता है। उस युग में देशी भाषाएँ अपभ्रंश के माध्यम से ही अपने अस्तित्व की सूचना दे सकती थीं। राजनीतिक परिस्थितियाँ भारतीय भाषाओं के स्वतंत्र विकास के अनुकूल नहीं थीं। लेकिन ये भाषाएँ साहित्यिक भाषा को निरंतर प्रभावित अवश्य करती रहीं। चूंकि साहित्य लोक समाज का एक अंग होता है, इसीलिए लोक भाषा ने साहित्यिक भाषा पर भी अपना प्रभाव डाला। यह बात कहने में कोई संदेह नहीं है कि अपभ्रंश देशी भाषाओं से प्रभावित है, देशी भाषाओं का जन्म अपभ्रंश से नहीं होता है। अब तक किये गए विवेचन का सारांश यह है कि अपभ्रंश और अवहट्ट काव्य देशी भाषा काव्य नहीं है, अतः हिंदी साहित्य से भाव, विचार,रूप आदि अनेक दृष्टियों से घनिष्ठतः सम्बन्ध होते हुए भी उनकी रचनाओं को हिंदी भाषा का अंग मानना या उनसे हिंदी साहित्य का आरम्भ मानना वैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता है।

हिंदी भाषा में साहित्य लेखन से पूर्व अपभ्रंश साहित्य की भाषा थी, यह सर्वविदित है। इस क्रम में परवर्ती भाषा का पूर्ववर्ती भाषा से प्रभावित होना या उसके काव्यरूपों और विषय वस्तु में समानता होना लाजमी है, क्योंकि तारीखें बदलने से साहित्यिक प्रवृत्तियों या उसके काव्य रूपों में भी तत्कालीन परिवर्तन हो जाये, यह संभव नहीं है। साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने से पूर्व हिंदी भाषा का अस्तित्व विद्यमान था और हिंदी के साहित्यिक भाषा बनने के बाद भी अपभ्रंश वर्षों तक चलती रही। अगर अपभ्रंश साहित्य लेखन का माध्यम पहले बनी है तो इसका कदापि यह अर्थ नहीं है की वह हिंदी की पूर्ववर्ती भाषा है या हिंदी की जननी है। डॉ रामविलास शर्मा दक्षिण भारतीय भाषाओं के विकासक्रम का उदाहरण देते हुए कहते हैं - "जिस भाषा में साहित्य रचना पहले हो, वह भाषा अपने परिवार की प्राचीनतम सदस्य हो, यह आवश्यक नहीं है। द्रविड़ भाषाओं में तमिल भाषा का साहित्य सबसे पुराना है, इससे कुछ लोगों को यह मिथ्या धारणा पैदा हुई है कि तमिल भाषा द्रविड़ भाषाओं में सबसे पुरानी है। इस धारणा के वशीभूत होकर वे तमिल और मलयालम का सम्बन्ध सही रूप में नहीं देख पाते। तमिल की अपेक्षा प्राचीनता के लक्षण मलयालम

में अधिक हैं ।...केरल के काफी हिस्से पर तमिलनाडु के राजा शासन करते थे । इस कारण मलयालम को साहित्य का माध्यम बनने का अवसर न मिला । एक ओर संस्कृत प्राकृत का भाषा तंत्र, दूसरी और राजभाषा तमिल का दबाव, केरल की इस विशेष स्थिति में वहां की भाषा मलयालम में साहित्य रचना का कार्य विलम्ब से हुआ । इस विलम्ब का अर्थ लोग यह लगाते हैं कि मलयालम भाषा का जन्म ही विलम्ब से हुआ है" ।[49]

साहित्यिक भाषा बनने या न बनने या देर से बनने का क्रम किसी भाषा की प्राचीनता या नवीनता का द्योतक नहीं कहा जा सकता है । दूसरी बात यह कि साहित्यिक भाषा से देशी भाषा नहीं उत्पन्न होती । इस अर्थ में अपभ्रंश से हिंदी देश भाषा की उत्पत्ति का कयास अपने आप ख़ारिज हो जाता है । जिस प्रकार संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं का साहित्य हिंदी भाषा के साहित्य के लिए प्रेरणा या परंपरा है, वैसे ही अपभ्रंश भाषा का साहित्य भी हिंदी भाषा के लिए साहित्य की बीती हुई परंपरा है । अपभ्रंश का साहित्य हिंदी भाषा के लिए साहित्य लेखन का एक ढर्रा अवश्य मुहैया कराता है, जिसे आदिम हिंदी साहित्य प्रेरित है । काव्य रूप और विषय वस्तु के स्तर पर कई जगह यह प्रेरणा समानता की हद तक है, किन्तु इस आधार पर अपभ्रंश और हिंदी को एक कह देना या अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' की संज्ञा देना तर्कसंगत नहीं है । इस बात की पुष्टि करते हुए रामविलास शर्मा का कथन महत्वपूर्ण है कि "अपभ्रंश चाहे पूर्ववर्ती हो, चाहे परवर्ती वह है अपभ्रंश । उसमें कहाँ-कहाँ किन देशी भाषाओं के तत्व सम्मिलित किये गए हैं, उनकी छानबीन आवश्यक और उपयोगी है, किन्तु उसे पुरानी हिंदी, पुरानी गुजराती, पुरानी बंगला आदि कहना भ्रान्तिमूलक है"।[50] हिंदी भाषा, दरबार या साहित्य का माध्यम देर से बनती है । यह उस समय के लोक जीवन में बोल-चाल की भाषा थी । इन भाषाओं में 'शिष्ट साहित्य' नहीं रचा गया, इसीलिए इनका संरक्षण भी नहीं हो पाया । आम-जन की भाषाएँ लोक गीतों और स्मृतियों में ही प्रवाहित होती रहीं, जिसके कारण उनमें लगातार परिवर्तन भी होते चले गए । इस संदर्भ में परमाल रासो या खुसरो की पहेलियों की भाषा को उदाहरण स्वरूप देख सकते हैं । अपभ्रंश और हिंदी के साहित्यिक सम्बन्ध को व्याख्यायित करते हुए नामवर सिंह का मत है कि – "जहाँ तक अपभ्रंश और हिंदी के साहित्यिक सम्बन्ध की बात है, उसमें प्रवेश करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपभ्रंश ने उस संक्रांति युग में भी लोक-जीवन को अपनाकर जो युगांतकारी काम किया, हिंदी ने उसी को अपने ढंग से बहुत बड़े पैमाने पर संत भक्ति काव्य के द्वारा आगे बढाया । ... इससे आगे बढ़कर दोनों में अनुरूपता स्थापित करने का प्रयत्न अपभ्रंश के प्रति अतिशय मोह का प्रतीक है । हिंदी साहित्य के मूल उत्स कई हैं, उसने अनेक स्त्रोतों से जीवन-धारा ग्रहण की है और अपभ्रंश भी उनमें से एक है । जिस हिंदी साहित्य के अभ्युदय पर संस्कृत साहित्य और ब्राह्मण संस्कृति के पुनरुत्थान की गहरी

छाप है, उसे एक मात्र जैन धर्मानुमोदित-अपभ्रंश साहित्य से उत्पन्न हुआ बतलाना बहुत बड़े सत्य पर परदा डालना होगा" ।[51] कुछ विद्वान अपभ्रंश साहित्य में देशी भाषा तत्वों की अधिकता के कारण इसका महत्व संस्कृत प्राकृत की अपेक्षा हिंदी भाषा के लिए अधिक मानते हैं। इस अर्थ में वे उसे हिंदी के पुराने स्वरूप के रूप में 'पुरानी हिंदी' कहकर हिंदी भाषा के साहित्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु अपभ्रंश साहित्य का किसी भी दृष्टि या किन्हीं भी दृष्टियों से चाहे कितना ही महत्व क्यों न हो वह हिंदी भाषा का साहित्य नहीं कहला सकता। वह साहित्य लेखन में हिंदी भाषा की पूर्ववर्ती परंपरा है, इसलिए ग्राह्य है, लेकिन वह हिंदी नहीं है यह कहने में कोई संदेह नहीं है।

संदर्भ

1. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 17
2. वही, पृ. सं.- 33
3. वही, पृ. सं.- 17
4. वही, पृ. सं.- 18
5. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं.- 23
6. वही, पृ. सं.- 23
7. वही, पृ. सं.- 40
8. कश्यप, श्याम, 'हिंदी साहित्य का इतिहास पुनर्लेखन की समस्याएँ', पृ. सं. – 37
9. वर्मा, डॉ. रामकुमार, 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ. सं. – 28
10. वही, पृ. सं. – 30
11. वही, पृ. सं.- 31
12. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास', पृ. सं.- 39
13. वही, पृ. सं.- 17
14. गुप्त, डॉ. गणपति चन्द्र, 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', पृ. सं. 76
15. सिंह, सुधीर प्रताप, सं., 'आदिकालीन और भक्तिकालीन काव्य', पृ. सं. – 17
16. कश्यप, श्याम, 'हिंदी साहित्य का इतिहास पुनर्लेखन की समस्याएँ', पृ. सं. – 63
17. सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 190
18. सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं. – 224
19. सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 33
20. शुक्ल आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 18
21. द्विवेदी हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं.- 35
22. वही, पृ. सं.- 11
23. वही, पृ. सं.- 105
24. वही, पृ. सं.- 105
25. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 35

26.वही, पृ. सं.- 36

27.वही, पृ. सं.- 37

28.सिंह, ओमप्रकाश, 'प्रमुख हिंदी कवि और काव्य आदिकाल और भक्तिकाल', पृ.सं. - 64

29.शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 46

30. वही, पृ. सं.- 39

31.सिंह, सुधीर प्रताप, सं., 'आदिकालीन और भक्तिकालीन काव्य', पृ. सं. – 32

32.राय, अनिल, सं., 'आदिकालीन हिंदी साहित्य अध्ययन की दिशाएं', पृ. सं.- 8

33. वही, पृ. सं.- 8

34.सांकृत्यायन, राहुल, 'हिंदी काव्य-धारा', किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1945 पृ. सं. - 19

35.द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं.- 40

36.वही, पृ. सं.- 17

37.सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं. – 26

38. वही, पृ. सं.- 28

39.शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 33

40.शर्मा, रामविलास, 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं', पृ. सं.- 104

41.तोमर, रामसिंह, 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिंदी साहित्य पर प्रभाव', पृ. सं. – 63-65

42.अग्रवाल, वासुदेव शरण, सं., 'कीर्तिलता', पृ सं. 63-64

43.शर्मा, रामविलास, 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं', पृ. सं.- 106

44.वही, पृ. सं.- 130

45. वही, पृ. सं.- 90

46. वही, पृ. सं.- 108

47. वही, पृ. सं.- 129

48. वही, पृ. सं.- 127

49. वही, पृ. सं.- 94

50. वही, पृ. सं.- 145

51. वही, पृ. सं.- 261

अध्याय-5

आदिकालीन हिंदी साहित्य की प्रासंगिकता

क. विषय-वस्तु और परवर्ती हिंदी साहित्य

ख. काव्य-रूप और परवर्ती साहित्य

ग. आदिकालीन साहित्य का समसामयिक संदर्भ

आदिकालीन हिंदी साहित्य की प्रासंगिकता

साहित्य के विकास में पूर्ववर्ती काल, परवर्ती काल के लिए परंपरा और प्रेरणा दोनों भूमिकाओं को निभाता है। कालखंड की समाप्ति के साथ उसकी गतिमान प्रवृत्तियाँ नष्ट नहीं होती हैं, वे आगामी साहित्य में उत्तरोत्तर विकसित होती रहती हैं। इस अर्थ में बीता हुआ युग आगामी युग की आधार सामग्री तैयार करने में सहायक होता है। हिंदी साहित्य के आदिकाल में भविष्य के सभी काल खण्डों के बीज मौजूद हैं। विषय-वस्तु और काव्य-रूप दोनों दृष्टियों से आदिकाल ने भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल की आधार-भूमि तैयार करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से आदिकाल में भक्ति, नीति, वीर, श्रृंगार, लोक, दरबार आदि तमाम साहित्यिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हुई है। इन प्रवृत्तियों ने आगामी कालखंडों में केन्द्रीय भूमिका निभाई है। काव्य रूप की दृष्टि से आदिकाल में प्रचलित दोहा छंद, प्रबंध काव्य, महाकाव्य आदि की परंपरा भक्तिकाल, रीतिकाल से होती हुई आधुनिक काल तक प्रवाहित हुई है।

क. विषय-वस्तु और परवर्ती हिंदी साहित्य -

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के आदिकाल को वीरगाथाकाल नाम देकर इस काल की विषय वस्तु को एक खास चौहद्दी में बाँध दिया, लेकिन वास्तव में यह काल भक्ति, नीति, सगुण, निर्गुण, श्रृंगार, वीर, लोक, दरबारी, प्रेम, विरह जैसे भविष्य के तमाम विषयों को अपने भीतर समेटे हुए है। आदिकालीन विषय वस्तु भक्ति और श्रृंगार का हिंदी साहित्य के दो बड़े और महत्वपूर्ण कालखंडों में सीधे तौर पर विकास हुआ है। आदिकालीन धार्मिक साहित्य ने हिंदी के 'स्वर्ण काल' की नींव तैयार की। सिद्ध और नाथ साहित्य का विकास जहाँ भक्तिकालीन निर्गुण साहित्य में हुआ वहीं आदिकालीन लोकगाथाओं ने ही पूर्व मध्यकालीन सूफी सन्तों की लोक कथाओं का आवरण तैयार किया। 'पउम चरिउ' के राम का विकास तुलसी के मानस में साफ तौर से दिखाई देता है, वहीं विद्यापति के राधा-कृष्ण की प्रेम लीला का विकास सूरदास की कविता में सहज ही दृष्टिगोचर होता है। दरबारी काव्य आदिकाल की प्रधान प्रवृत्ति है। इस साहित्य का प्रत्यक्ष विकास उत्तर मध्यकालीन दरबारी साहित्य में हुआ। रासो ग्रंथों में सामंतों की विलासिता और नायिकाओं की कामुकता रीतिकाल की आधार सामग्री है। आधुनिक काल में सीधे तौर पर न सही लेकिन

उसकी कई प्रधान प्रवृत्तियों के दर्शन हमें आदिकालीन साहित्य में आसानी से हो जाते हैं। आदिकाल का बहुविषयी साहित्य ही उसकी प्रासंगिकता का आधार है।

आदिकालीन साहित्य के आरंभिक स्वरूप के दर्शन सिद्ध साहित्य में होते हैं। सिद्ध साहित्य से तात्पर्य वज्रयानी परंपरा के उन चौरासी सिद्धाचार्यों के साहित्य से है जिसमें तात्विक स्तर पर बौद्ध तांत्रिक सिद्धांतों का पालन किया जाता है। उनकी साधना का लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति न होकर अनुभूति की प्राप्ति थी। तंत्र साधना के प्रबल पक्षधर होने के कारण ही इनके यहाँ ज्ञान, साधना-पद्धति और हठयोग की अनुभूति का समर्थन दिखाई देता है। वज्रयानी साधुओं की इस घोर तांत्रिक साधना के चलते आम जनता इनसे विमुख होने लगी थी। पञ्च मकारों की पतित साधना पद्धति के चलते सिद्ध योगियों के प्रति आम जनता में हिकारत का भाव बढ़ने लगा था। असहज साधना पद्धति के चलते इन्हें समाज में उचित सम्मान प्राप्त नहीं हो रहा था। इसका प्रमाण हम आचार्य रामचंद्र शुक्ल के आलोचना ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में देखते हैं, वे सिद्धों के साहित्य को 'साम्प्रदायिक' कहते हुए उसको 'शिष्ट साहित्य' की कोटि से बाहर कर देते हैं। बाद के आलोचकों ने आचार्य शुक्ल की इस धरणा को चुनौती देते हुए सिद्ध साहित्य की महत्ता का बखान किया है। सामाजिक स्तर पर सम्मानित स्थिति में न होने के बावजूद साहित्य के क्षेत्र में ये सिद्ध योगी समाज-सुधार संबंधी रचनाओं के वाहक बने। जिसका सीधा विकास भक्ति काल के निर्गुण साहित्य में दिखाई देता है। नामवर सिंह के अनुसार - "इसमें कोई शक नहीं कि अक्सर कबीर के रूपक सिद्धों से मेल खाते हैं, यहाँ तक कि उन्हीं से लिए हुए प्रतीत होते हैं। कबीर का 'बेहद्दी मैदान' सरह के उस लोक से भिन्न नहीं है 'जहं मण पवण न संचरे, रवि ससि णाह पवेस'"।[1]

सिद्धों का साहित्य बौद्ध धर्म की परिधि के अन्दर रहकर सामाजिक कुरीतियों का प्रखर विरोधी था। इस साहित्य में बौद्ध धर्म की शुष्कता के साथ-साथ सहजयानियों की सहजता भी थी। ये साधक अलौकिक अनुभूतियों को अपनाते हुए तमाम सामाजिक आडम्बरों पर चोट कर रहे थे। इनके साहित्य के वर्ण्य विषयों में गुरु की महत्ता, नाम-भक्ति, जनता में प्रचलित आडम्बरों का विरोध, स्त्री रूपी माया से दूरी, हठ साधना का प्रचार आदि विषय महत्वपूर्ण हैं। लगभग इन सभी विषयों का विकास भक्तिकालीन सन्त भक्तों में सीधे तौर पर देखा जा सकता है। कबीर, रविदास जैसे निर्गुण भक्तों ने सिद्ध भक्तों के साहित्य को पढ़ा या सुना हो इसके स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन इन विचारकों की विषयगत समानता आश्चर्यचकित करने वाली है। "यदि कबीर निर्गुण मतवादी सन्तों की बाहरी रूप रेखा पर विचार किया जाये तो मालूम होगा की यह संपूर्णतः भारतीय हैं और बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथ पंथी योगियों के पदादि से उनका सम्बन्ध हैं। वे ही पद, वे ही राग-रागनियाँ, वे ही दोहे वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की थीं जो उक्त मत मानने वाले उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद,

क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं। कबीर की भांति ये साधक नाना मतों का खंडन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, दोहों में गुरु के प्रति भक्ति का उपदेश देते थे"।[2] सिद्धों की भाषा और शैली में एक तरह की फटकार और अक्खडता है, आगे जाकर भक्तिकालीन निर्गुण कवियों में भी इसी फटकार और अक्खड़ता के स्पष्ट उदाहरण दिखाई देते हैं। जैसे -

"जहि मण पावण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि बढ़ ! चित्त विषाम करू, सरह कहिउ उएस।।
कबीर भी इसी प्रकार की साखी कहते हैं -
जिहि बन सीह न संचरै, पंखि उडै नहि जाय।
रैनि दिवस गम नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लाइ" ।।[3]

सिद्ध नाथ या जैन साहित्य का विद्रोह धार्मिक मात्र न होकर सामाजिक भी था। वे पेशे से कोई कवि या साहित्यकार नहीं थे, सामाजिक विषमताओं पर आघात करने के क्रम में कविता उनका 'बाईप्रोडक्ट' थी । ठीक यही स्थिति हम भक्ति आंदोलन के सन्त साहित्य में देखते हैं। कविकर्म इन सन्तों का पेशा न होकर सामाजिक कुरीतियों के प्रतिपक्ष में उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम थी । यही कारण है कि इन दोनों जनवादी साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम भी जन भाषा ही रही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्तिकाल को भारतीय चिंतन परंपरा का स्वाभाविक विकास कहा है। इस भारतीय चिंतन परंपरा का प्राथमिक रूप आदिकालीन जनवादी साहित्य अर्थात सिद्ध-नाथ साहित्य में स्पष्टतः दिखाई देता है। सामाजिक आडम्बरों का जो विरोध सिद्ध-नाथ साहित्य से शुरू हुआ था, उसी की मुखर अभिव्यक्ति सन्त साहित्य में होती है। "बौद्ध धर्म के शून्यवाद से लेकर नाथ संप्रदाय के योग तक तथा वज्रयान के सिद्धों की 'संधा भाषा' की उलटबाँसियों से लेकर नाथ संप्रदाय की अवधूत भावना तक संतकाव्य में सभी विचार-सरणियाँ पोषित हो सकीं। बौद्ध धर्म से प्रेरित इस विचारधारा के विकास से ही यह संभव हुआ कि संतकाव्य समस्त वैदिक परंपरा के उन कर्मकांडों का विरोध कर सका जो कालांतर में वैष्णव धर्म में भक्ति के साधन थे। इसीलिए अवतार, मूर्ति, तीर्थ, व्रत, माला आदि सन्त संप्रदाय को ग्राह्य नहीं हो सके, जो कर्मकांड के प्रतीक बने हुए थे। दूसरी ओर शून्य, कायातीर्थ, सहज समाधि, योग जिसके अन्तर्गत इडा, पिंगला, सुषुम्ना, नाड़ियाँ, षटचक्र, सहस्र दल कमल, चन्द्र और सूर्य तथा जीवन की स्वाभाविक और अन्तःकरण जनित श्रद्धा और रागात्मिका वृत्ति की प्रधानता सन्त काव्य में हो सकी"।[4] भक्ति संबंधी ये सभी अवयव सिद्ध-नाथ साहित्य की निजी विशेषताएं हैं, इन अर्थों में यह

कहना कि भक्तिकाल ने विषय-वस्तु के स्तर पर आदिकाल से आधार सामग्री ग्रहण की है, कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

विषय वस्तु के परवर्ती विकास के क्रम में नाथ साहित्य, सिद्धों के साहित्य के समानांतर ही महत्वपूर्ण है। नाथ पंथ वज्रयानी सिद्धों की एक शाखा है, जो साधना पद्धति में संयम और अनुशासन को सर्वोपरि मानते हैं। तांत्रिक साधना की व्यापक स्वीकृति नाथों के साहित्य में भी प्राप्त होती है, परन्तु नाथों ने साधना में योग क्रिया को ही महत्वपूर्ण माना है। साधनात्मक और संप्रदायगत वैशिष्ट्य के आधार पर सिद्ध और नाथ दोनों साधना पद्धतियाँ समानांतर चलती रहीं इसीलिए इनमें परस्पर आदान-प्रदान के भी संकेत मिलते हैं। नाथों का सिद्धों से प्रमुख विरोध वाममार्गी साधना को लेकर था। आगे चलकर गोरखनाथ ने नाथ संप्रदाय को व्यवस्थित आधारभूमि प्रदान की। नाथ पंथ के प्रमुख रचनाकारों में गोरखनाथ, चौरंगीनाथ, गोपीचंद, चुणकरनाथ, भरथरी आदि का नाम प्रसिद्ध है। नाथों ने सिद्धों के कर्मकांडों और पंचमकारों का त्याग करते हुए नीति और समाज सुधार को अपना आदर्श बनाया। नाथों की साधना पद्धति में सिद्धों की जटिल योग क्रियाओं, स्त्री भोग और माया मोह को पूरी तरह से नकारकर परम सत्ता के नामजप को ही 'सहज' साधना के रूप में स्वीकार किया गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ साहित्य का महत्व बताते हुए लिखा है - "इन पदों में ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक और मानसिक पवित्रता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि और मद्य-मांस के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया है। हिंदी में पाए जाने वाले पदों में यह स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है। इसने परवर्ती सन्तों के लिए श्रद्धाचरण-प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। जिन सन्तों-साधकों की रचनाओं से हिंदी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत कुछ बनी बनाई पृष्ठभूमि मिली थी। भाषा में भी सन्तमत की अधिकतर शब्दावली नाथ-साहित्य से ही अपनाई गयी है। गुरु-महिमा, माया विरोध, जीवात्मा-परमात्मा मिलन की लक्ष्य प्राप्ति के लिए साधना की कल्पना आदिकाल में नाथों की साहित्यिक प्रवृत्तियों में ही सामने आ गयी थी। बाद में इस विचारधारा ने सन्त धारा का रूप ग्रहण किया"।[5] आत्मा-परमात्मा की एकात्मकता, माया विकारों का त्याग, सामाजिक कर्मकाण्डों का न सिर्फ नकार बल्कि सामाजिक जागरण का प्रयास, गुरु महिमा का बखान, प्राण साधना जैसे वर्ण्य विषयों का सीधा विकास परवर्ती सन्त साहित्य में देखा जा सकता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और रामकुमार वर्मा आदि विद्वान मानते हैं कि सन्तों के साहित्य पर सिद्धों का प्रभाव नाथों के माध्यम से ही पड़ा। सन्तों और नाथों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष भी है और प्रगाढ़ भी। रामकुमार वर्मा के अनुसार - "नाथ संप्रदाय की आचार निष्ठा, विवेक सम्पन्नता, अंधविश्वासों को तोड़ने की उग्रता एवं परंपरागत कर्मकांडों की निरर्थकता सन्त संप्रदाय में सीधी

चली आयी । अनेक प्रसंगों में उनकी अभिव्यक्ति में साम्य है" ।[6] विषय वस्तु के आधार पर संत साहित्य को नाथ साहित्य का बढ़ा हुआ रूप कहना गलत नहीं होगा । स्वयं के घट में ईश्वर के वास को लेकर गोरखनाथ कहते हैं कि –

गगन मण्डल में औंधा कुआं, तह अमृत का वासा ।
सगुरा होय से झरझर पिया, निगुरा जाहि पियासा ।।[7]

इसी विषय पर कबीरदास का मत है कि –

आकासै मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि ।
ताका पाँणी को हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि ।।[8]

भक्तियुग के साहित्य में गुरु की महिमा का बखान हर धारा में हुआ है, इस श्रृंखला में सन्त साहित्य शीर्ष स्थान पर है । संपूर्ण सन्त समुदाय में गुरु ही ज्ञान का पर्याय है । सन्तों नें गुरु कृपा का बखान करते हुए उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है । आदिकाल के सिद्ध-नाथ साहित्य में गुरु की महत्ता को बताते हुए कई पद मिलते हैं । सन्त साहित्य के पहले आदिकाल में सिद्धों-नाथों के साहित्य में गुरु की महत्ता के पद रचे जा चुके थे । गोरखनाथ के अनुसार –

गुरु की जय गहिला निगुरा न राहिला ।
गुरु बिन ग्यानं न पाईला रे भाईला ।।[9]

गुरु का गुणगान करते हुए कबीरदास कहते हैं कि –

गुरु बिन ज्ञान न उपजै, गुरु बिन मिलै न मोष ।
गुरु बिन लखै न सत्य को, गुरु बिन मिटे न दोष ।।[10]

विषय वस्तु के आधार पर नाथ साहित्य और सन्त साहित्य के पदों में बहुत अधिक समानता है । कई पदों या पंक्तियों में यह समानता दोहराव की हद तक देखी जा सकती है । इस अर्थ में सन्त साहित्य की विषय वस्तु को नाथ साहित्य का विस्तार कहना गलत नहीं होगा । गोरखनाथ की रचना 'मछीन्द्र गोरख बोध' में प्रयुक्त सूक्ति 'अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा' सीधे तौर पर सन्त रविदास के यहाँ 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' के रूप में प्रयुक्त होती है । नाथ साहित्य और सन्त साहित्य के वर्ण्य विषयों में समानता का मूल पारंपरिक वैदिक भक्ति से अलगाव है । सन्तों की तो स्पष्ट घोषणा है कि 'पंडित वाद वदंते झूठा' । इन दोनों ही साहित्यों में ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग सामाजिक कर्मकांडों से अलग और विरला है, यही कारण है कि इन साहित्यकारों ने सामाजिक कुप्रथाओं के साथ-साथ भक्तिगत आडम्बरों पर तीखा प्रहार किया है। यहाँ बाह्य जंजालों से अलग

मन की भक्ति का सहज स्वीकार है। नाथों की आस्था जहाँ 'यह मन सकती, यहु मन सीव, यहु मन पाँच तत्व का जीव' में है, वहीं कबीर साफ-साफ कहते हैं कि 'हमारा यार है हम में, हमन को इंतजारी क्या'। "यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि संतकाव्य में प्राचीन वैदिक साहित्य की उपेक्षा की गयी है। यदि इस दृष्टिकोण से संतकाव्य पर विचार किया जाये तो ज्ञात होगा की इसका दृष्टिकोण बौद्ध धर्म के दृष्टिकोण के अनुरूप ही है जो शताब्दियों तक वैदिक धर्म से संघर्ष करता रहा। यदि बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास देखा जाये तो स्पष्ट हो जायेगा की सन्त काव्य बौद्ध साहित्य की परंपरा से ही अनुप्राणित हुआ होगा। बौद्ध साहित्य से वैपुल्यवाद या महायान का विकास हुआ, महायान से मंत्रयान, मंत्रयान से वज्रयान या तांत्रिक बौद्ध धर्म में परिणत हुआ। इसी वज्रयान की प्रक्रिया में नाथ संप्रदाय का विकास हुआ और नाथ संप्रदाय के प्रेरणामूलक तत्वों को ग्रहण कर सन्त संप्रदाय अवतरित हुआ। यह देखा जा सकता है कि इस विकास की प्रक्रिया में बौद्ध धर्म से लेकर नाथ संप्रदाय तक जो जो जीवन के तत्व मनोभावों के धरातल पर उभर सके उन सबका समाहार सन्त संप्रदाय में हुआ"।[11]

हिंदी की प्रारंभिक संवेदना के निर्माण में सिद्ध और नाथ साहित्य के बाद जैन साहित्य का योगदान रहा है। आठवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक लगातार जैन साहित्य की रचना होती रही थी। धर्म और साहित्य का सफल संयोग जो भक्तिकाल की मूल संवेदना है उसके बीज हमें जैन साहित्य में मिलते हैं। जैन साहित्य ने परवर्ती हिंदी के विकास में कई स्तरों पर अपना योगदान दिया है। यह साहित्य कथानक और काव्य संवेदना के साथ-साथ शिल्पगत स्तर पर भी बहुत महत्वपूर्ण रहा है। सिद्ध और नाथ साहित्य की तरह जैन साहित्य में भी आचरण की पवित्रता मूल आधार है। चरित्र की यह विशेषता सन्त काव्य की टेक है, संपूर्ण भक्ति आंदोलन मन की इस शुद्धता का गुणगान करता है। "जैन साहित्य की उपदेशात्मक रचना, जिसमें आचरण की शुद्धि और मानसिक पावनता को प्रमुखता दी गयी थी, सन्त-काव्य की दिशा बोधक बनी। सन्तधारा की कविता में पवित्र जीवन-यापन और मानसिक शुद्धि की धारणा जैन काव्य से आयी ऐसा कहा जा सकता है। इतना ही नहीं, जैन फागु काव्य ने सन्तों की रचना में बदले हुए रूप में अपनी उपस्थिति भी अंकित की है। ज्ञानेश्वर, नामदेव, बाबा फरीद तथा अन्य निर्गुणी ढर्रे के कवियों ने पूर्वमध्यकाल की सन्त काव्यधारा के लिये सबल पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी"।[12]

सृजनात्मक विभिन्नता के कारण जैन साहित्य को तीन भागों में बांटकर समझा जा सकता है। सबसे पहले पौराणिक तथा चरितकाव्य आते हैं, इस साहित्य में जीवन के साथ उपदेश और धर्म का संयोग दिखाई देता है। मध्यकाल में धर्म के प्रसार के लिए ब्राह्मणों और जैनों द्वारा प्रचुर मात्रा में पुराण साहित्य की रचना हुई। जैन अपभ्रंश काव्य की सभी प्रबंधात्मक कृतियाँ पद्यबद्ध हैं और इनके नायक या तो पुराणों से हैं या फिर जैन धर्म के अनुयायी। रामकथा को आधार बनाकर

'पउमचरिउ' लिखा गया है तो कृष्ण काव्य के आधार पर 'रिट्ठेणेमिचरिउ' की रचना हुई है। जैन कवि पुष्पदंत ने महापुराण में रामकथा, कृष्णकथा और जैन तीर्थकरों की जीवन गाथाओं को शामिल किया है। इस रचना में उन्होंने कृष्ण की बाल लीला का वर्णन इस तरह से किया है –

धूल धूसरेण वर-मुक्क सरेण तिणा मुरारिणा
कीला रस वसेण गोवालय-गोवी हियय हारिणा
रग तेण रमत रमंते
मंधउ धरिउ भमंत अणंते
मंदीरउ तोडीवि आ-वट्टीउ
अद्ध-विरोलिउ दहिउ पलोट्टीउ
कवि गोवी गोविंदहु लग्गी
एण महारी मैथणि भग्गी ।[13]

पुष्पदंत ने यहाँ बाल कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है। धूल धूसरित कृष्ण गोपियों के ह्रदय को हरने वाला है। कृष्ण क्रीड़ायें करते हैं, और गोपियाँ उसपर मुग्ध हो जाती हैं। बाल कृष्ण आँगन में दौड़ दौड़ कर कभी मथानी को लेकर भागते हैं, कभी दही की हांड़ी तोड़ देते हैं, कभी वह आधा मथा हुआ दही उलट देते हैं। गोपियाँ कृष्ण की इन लीलाओं पर नाराज होने की जगह खुश होती हैं, उन्हें सुख प्राप्त होता है। यह वर्णन भले ही जैन कवि पुष्पदंत द्वारा किया गया हो, लेकिन इस पद को पढ़कर सूरदास के पदों की सहज ही याद आ जाती है। सूरदास कृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन इस प्रकार करते है –

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये ।।
चारू कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिए।
लट लटकनि मनु मत्त मधुप गन मादक मधुहिं पिए ।।[14]

दोनों पदों में भाषा के साथ विषय-वस्तु और भाव दोनों समान हैं। कृष्ण लीलाओं का आलंबन लेकर भक्ति आंदोलन से पहले भी गीत और पद लिखे जा रहे थे। जैन धर्मग्रंथों की विषय वस्तु का विस्तार सूरदास के साहित्य में हुआ है, इसमें कोई शक नहीं है। यह अवश्य है की कृष्ण की लीलाओं का जितना सूक्ष्म और रसमय वर्णन सूरदास ने किया है, वह अद्भुत और नवीन है। यह नवीनता भक्तिकाल की कृष्ण काव्य धारा की निजी विशेषता है। अपभ्रंश चरितकाव्यों की परंपरा

को आधुनिक बोलियों के साहित्य ने बहुत हद तक तोडा है, लेकिन इस काव्य परंपरा के काव्य रूप और कथानक रूढ़ियाँ लम्बे समय तक हिंदी साहित्य में प्रचलन में बनी रही हैं।

जैन साहित्य की दूसरी प्रकार की रचनाओं में मुक्तक रचनाओं को रखा गया है। जैन कवियों ने मुक्तक के रूप में दोहों की रचना की। मुक्तक साहित्य में एक ओर परम समाधि और रहस्यात्मक अनुभूति वाली रचनाएँ मिलती है, तो दूसरी ओर श्रावकों को व्रत, तीर्थ, उपवास आदि का उपदेश देने वाली रचनाएँ मिलती हैं। इस प्रकार के काव्य में रहस्यवादी साधना के स्वर मुखर हैं। इन कवियों ने अपनी कविता में जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म की रूढ़ियों और बह्याडम्बरों का विरोध किया है। यह विरोध मुखर और गैरसाम्प्रदायिक रहा है। भाषा, भाव और शैली हर दृष्टि से ये मुक्तक दोहे निर्गुण काव्य का आरंभिक रूप कहे जा सकते हैं। 'पाहुड़ दोहा' की पंक्तियों में निर्गुण काव्य के प्रारंभिक स्वरूप को देखा जा सकता है –

बहुयइँ पढ़ियइँ मूढ़, पर तालू सुक्कई जेंण
ऐक्कुजि अक्खरुतं पढ़हु सिवपुरी गम्मई।[15]

इस दोहे का समअर्थी दोहा निर्गुण काव्य में कबीरदास कहते है –

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।।[16]

जैन साहित्य की तीसरी प्रकार की रचनाओं में जैन रास-काव्य को रखा गया है। परवर्ती जैन साहित्य में रास ग्रंथों की अधिकता मिलती है। रास काव्य का ताल के साथ गायन किया जाता है, इसीलिए इसमें नृत्य, संगीत और अभिनय का मिश्रण होता है। आगे चलकर रास काव्य की इस परंपरा का विकास जैन साहित्य से इतर भी होने लगा, जिनका विकास हम हिंदी के रासो ग्रंथों के रूप में देखते हैं। राजस्थानी गुजराती आदि भाषाओं में आकारांत प्रायः ओकारांत हो जाता है, इसी अर्थ में जैनों का रास काव्य हिंदी पट्टी में रासो हो गया।

रास और रासो परंपराओं के भेद को बताते हुए डॉ गणपति चन्द्र गुप्त, डॉ माता प्रसाद को उद्धृत करते हुए कहते हैं – "(1) गीत नृत्य-परक परंपरा का प्रचार जैन कवियों में अधिक रहा, दूसरी परंपरा जैनेत्तर समाज में पनपती रही। (2) जैन रचनाएँ अपभ्रंश बहुला हैं, जबकि दूसरी परंपरा आधुनिकता की ओर बढती भाषा को अपनाती है। (3) गीत-नृत्य-परक रासो रचनाएँ प्रायः पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात की देन हैं, जबकि दूसरी परंपरा हिंदी प्रदेश की है। (4) प्रथम परंपरा की अपेक्षा दूसरी का दृष्टिकोण अधिक काव्यपरक रहा"।[17]

रासो ग्रंथो को दो भागों में विभाजित करके उनका अध्ययन किया जा सकता है। पहले भाग में जैनाचार्यों द्वारा लिखे गए धार्मिक रासो ग्रंथ आते हैं, इन ग्रंथों में प्रमुख हैं शालिभद्र सूरि कृत 'भरतेश्वर बाहुबली रास', कवि आसगु कृत 'चंदनबाला रास' तथा 'जीवदया रास', विजयसेन सूरि कृत 'रेवंतगिरि रास', प्रज्ञा तिलक कृत 'कच्छुली रास' आदि को रखा जाता है। इन काव्यों की विषय वस्तु में सामाजिक मुद्दों को आधार बनाया गया है, भरतेश्वर बाहुबली रास में सामंती समाज में युद्ध की विभीषिका का वर्णन करते हुए हिंसा का विरोध किया है। चन्दनबाला रास में कवि ने नारी जीवन की करुण स्थिति का चित्रण बड़ी ही सहृदयता के साथ किया है। इस रचना में सामंती समाज में नारी की स्थिति का विस्तृत वर्णन किया गया है। जैन कवियों द्वारा किया गया यह समस्त वर्णन धार्मिक आवरण के भीतर ही है। भक्ति आंदोलन की रचनाओं की तरह इन रचनाओं का आधार धर्म है। जैन मतावलंबी साधकों, महापुरुषों के चरित्रों को अंकित करना एवं उसके माध्यम से जन साधारण में जैन चिंतन का प्रसार करना ही इन काव्यों की प्रमुख प्रवृत्ति रही है।

रासो ग्रंथों के दूसरे भाग में ऐतिहासिक रासो ग्रंथों को रखा गया है। इन रासो ग्रंथों के रचनाकार राजाश्रय में पलने वाले कवि थे। इसी कारण इन रासो ग्रंथों की विषय वस्तु, आश्रयदाता राजाओं की वीरता, युद्ध कौशल, प्रेम और श्रृंगार के अतिरंजित वर्णनों पर ही केन्द्रित हैं। आश्रयदाता राजाओं के युद्धोत्साह का चित्रण करने के लिए ये कवि राजा को किसी कल्पित स्त्री पर भी मोहित करा देते थे, जो युद्ध का कारण बनती थी। हिंदी भाषा में लिखे गए हम्मीर रासो, खुमान रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराज रासो, आदि जो विशेष प्रकार के रासो काव्य हैं वे अपभ्रंश भाषा के पूर्ववर्ती काव्यों का बढ़ा हुआ रूप हैं। नामवर सिंह के अनुसार - "अपभ्रंश के इन परंपरा भुक्त काव्यों ने हिंदी के कुछ आरंभिक चरित काव्यों को भी प्रभावित किया। हिंदी के हम्मीर रासो, खुम्मान रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराज रासो आदि जो विशेष प्रकार के रासो हैं उन्हें अपभ्रंश के परवर्ती चरित काव्यों का बढ़ा हुआ रूप समझना चाहिए। हिंदी के ये रासो ग्रंथ चाहे जब लिखे गए हों, इनमें चाहे जब-जब जितने भी प्रक्षेप हुए हों परन्तु उनमें निहित मूल प्रवृत्ति एक ही है"।[18] अपभ्रंश के जैन चरित काव्य और हिंदी के चरित काव्यों में फर्क केवल पात्रों या चरित्रों का है। जैन चरित काव्यों के नायक पौराणिक और अनैतिहासिक हैं जबकि हिंदी काव्यों के नायक ऐतिहासिक चरित्र हैं। शैली दोनों की प्रशस्तिपरक ही रही है। कथ्य और शिल्प की दृष्टि से भी इन गाथाओं का विकास भक्तिकाल और रीतिकाल में प्रचुरता से हुआ है। 'राउलवेल' की नखशिख परंपरा का रीतिकाल में चरम विकास हुआ है। नखशिख वर्णन और नायिका-भेद रीतिकालीन साहित्य की आधार सामग्री है, जिसके स्पष्ट बीज आदिकालीन साहित्य में मौजूद हैं।

सिद्ध-नाथ और जैन साहित्य आदिकाल की भक्ति धारा के द्योतक हैं। भले ही इस साहित्य को आचार्य शुक्ल ने साम्प्रदायिक कहकर 'शिष्ट साहित्य' की कोटि से बाहर निकाल दिया हो, लेकिन

इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता है कि आदिकालीन भक्ति साहित्य ने ही परवर्ती भक्ति आंदोलन की आधार-भूमि तैयार की है। परवर्ती शास्त्र-निरपेक्ष सन्त साहित्य पर नामजप और बौद्ध तत्ववाद के स्पष्ट निशान दिखाई देते हैं। अवतारवाद पर आधारित शास्त्र सम्मत भावधारा के भक्तों पर भी महायान का प्रभाव पड़ा है। जैनियों द्वारा रची गयी चरित काव्य परंपरा हिंदी के रासो ग्रंथों से गुजरते हुए सूफी साहित्य और उसके बाद रीतिकालीन काव्य की विषय-वस्तु बनती है। विषय-वस्तु की दृष्टि से आदिकालीन भक्ति साहित्य ने परवर्ती हिंदी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह किया है।

साहित्य लेखन के अन्तर्गत कृष्ण को आलंबन बनाकर अनादि काल से रचनाएँ की जा रही हैं। अंतर केवल भावाभिव्यक्ति के तरीके का है। यह अंतर ही कविता की भिन्नता भी है और उसकी विशेषता भी। विषय वस्तु के स्तर पर कृष्ण के चरित्र को आधार बनाकर आदिकाल में रचनाएँ मौजूद हैं, आगे चलकर इनका विकास भक्तिकालीन सगुण काव्य परंपरा की कृष्ण काव्य धारा के रूप में हुआ है। राधा कृष्ण को आलंबन बनाकर आदिकालीन कवि विद्यापति ने श्रृंगारी काव्य की रचना की है। यदि भक्ति और श्रृंगार का विवाद छोड़ दें तो विद्यापति को हिंदी साहित्य में कृष्ण काव्यधारा का प्रथम कवि कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस संदर्भ में उनको भक्तिकालीन कृष्ण भक्ति परंपरा का पूर्वज ठहराना गलत नहीं होगा। "निर्गुण काव्यधारा की तरह ही सगुण-काव्य-धारा का शुभारम्भ भी आदिकाल में ही हो गया था। भले ही विद्यापति भक्त कवि न होकर श्रृंगारी कवि था तथापि उसकी समूची रचना में राधा और कृष्ण का चित्रण कृष्ण भक्ति शाखा के लिए अग्रगामी रचना तो थी ही। 'पृथ्वीराज रासो' का लेखक भी कृष्ण भक्त था। जिसने रासो में कृष्ण लीला विषय पर अनेक पन्ने लिख दिए हैं। कवि जयदेव संस्कृत का लेखक था, किन्तु उसने आदिकाल में कृष्ण काव्य को जामन दे दिया था, यह सच है"।[19]

आदिकालीन कवि विद्यापति ने राधा-कृष्ण के प्रेम का मादक और मुखर वर्णन किया है। यहाँ राधा-कृष्ण अपनी प्रेम लीलाओं में पूरी तरह से डूबे हुए हैं, लोक जन मानस की समस्याओं से उनका कोई वास्ता नहीं है। भक्तिकालीन कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों के कृष्ण भी प्रेमोन्नत और गोपिकाओं से घिरे रहने वाले तथा लीलाधर गोकुलवासी हैं, लोकव्यवस्था के पालक द्वारका के कृष्ण की छवि यहाँ नहीं दिखती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने विद्यापति के साहित्य को पूर्णतः श्रृंगारी काव्य मानकर उसका मूल्यांकन किया है। विषय-वस्तु की इसी समानता को चिन्हित करते हुए वे कहते हैं कि 'कृष्णचरित के गान में गीतकाव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई, उसी का अवलंबन ब्रज के भक्त कवियों ने भी किया'। सूरदास के श्रृंगारी पदों में विद्यापति के पदों की स्पष्ट छाप दिखती है, विद्यापति के अनुसार -

अनुखन माधव-माधव सुमिरइत सुंदरी भेलि मधाई।

जो निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुण लुबधाई ।।
भोरहि सहचरि कातर दिठी हेरि छल-छल लोचन पानि ।
अनुखन राधा-राधा रटइत आधा-आधा बानि ।।
राधा सयँ जब पनितहि माधव-माधव सयँ जब राधा ।।
दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत बाढ़त बिरह क बाधा ।।
दुहूँ दिसी दारुदहं जइसे दगधइ आकुट कीट परान ।
एसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कबि विद्यापति भान ।।[20]

विद्यापति द्वारा रचित इस पद का अर्थ है कि कृष्ण को हर पल याद करते हुए राधा कृष्ण रूप हो जाती हैं, और खुद को कृष्ण समझने के फेर में राधा-राधा रटने लगती हैं। होश में आने पर वे फिर कृष्ण नाम का जाप करने लगती हैं, इस तरह से राधा, कृष्ण और राधा दोनों दशाओं की विरह को सहती हैं। उनकी दशा लकड़ी के भीतर बैठे कीड़े जैसी हो जाती है, जिसके दोनों सिरों पर आग लगी है । विद्यापति द्वारा वर्णित इसी भाव की अभिव्यक्ति सूरदास के यहाँ भी मिलती है, जैसे–

सुनौ स्याम ! यह बात और कोउ क्यों समझाय कहै ।
दुहूँ दिसि की रति बिरह बिरहिनी कैसे कै जो सहै ।।
जब राधे, तब ही मुख 'माधौ-माधौ' रटति रहै ।
जब माधव ह्वै जाति सकल तनु राधा बिरह दहै ।।
उभय अग्र दव दारुकीट ज्यों सीतलताहि चहैं ।
सूरदास अति विकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै । [21]

विरहणी की व्यथा को दोनों कवियों ने पूरी गहनता के साथ अभिव्यक्त किया है । इस अर्थ में विद्यापति को सूरदास की परंपरा का आरंभिक कवि कहना सिरे से गलत नहीं है।

आदिकालीन साहित्य की विषयवस्तु का विकास निर्गुण साहित्य में तो प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देता है, लेकिन निर्गुण के समान ही सगुण काव्य परंपरा का पूर्ववर्ती स्वरूप भी यहाँ स्पष्टतः दिखायी देता है । विद्यापति के साहित्य के साथ साथ सूरदास के पदों की समानता हेमचन्द्र के व्याकरण में प्राप्त होने वाले दोहों से भी होती है। एक दोहा जिसको सूरदास ने भक्ति प्रचार के लिए प्रयोग किया है, उसका हुबहू रूप हेमचन्द्र के यहाँ मिलता है, फर्क बस इतना है कि हेमचन्द्र के यहाँ इस दोहे में मुंज से बात की जा रही है और सूरदास भगवान को संबोधन दे रहे हैं । हेमचन्द्र के अनुसार -

बा बिछोडवि जाहि तुहूँ, हाऊँ तेवइं को दोषु ।

हिअअट्टीअ जइ नीसरहि, जाणऊँ मुंज सरोसु ।।

सूरदास के अनुसार -

बाँह छुड़ाए जात हौ निबल जानि के मोहि ।
हिरदय से जब जाहु तौ, सबल बदौंगो तोहि ।[22]

विद्यापति और सूरदास दोनों ही कवियों ने कृष्ण के श्रृंगारी रूप का वर्णन किया है । संयोग श्रृंगार के वर्णन में इनके काव्य में समानता की कमी है, लेकिन वियोग वर्णन में इन कवियों की समानता स्पष्ट दिखती है । इस अर्थ में आदिकाल को भक्तिकालीन कृष्ण काव्य परंपरा की आधार भूमि कहना गलत नहीं है ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आदिकाल की बहु-विषयक साहित्य सामग्री में से वीरता प्रधान रासो काव्यों को प्रमुख मानते हुए उनके आधार पर इस काल को 'वीरगाथा काल' कहा है । आदिकाल में चरित काव्य, वीरगाथाएं या दरबारी साहित्य की रचना प्रमुखता से हुई, इसकी प्रमुख वजह उस काल की राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं । यह समय हर्षवर्धन की केन्द्रीय सत्ता के टूटने के बाद उत्पन्न हुए सामंती साम्राज्य के उत्थान का था । सामंतों ने अपने शौर्यगान के लिए भाट और चारण नियुक्त किये, जो राजाश्रय पाकर सामंतों की प्रशंसा में बड़े बड़े आख्यान रचने लगे । इस काव्य परंपरा को रासो काव्य कहा जाता है । दरबारों में पोषित होने के कारण यह साहित्य आम-जनता के सुख दुःख से कोसों दूर था । कवियों का एकमात्र उद्देश्य आश्रयदाता राजाओं का गुणगान करके अपनी जीविका चलाना था । रासो कविता में अभिव्यक्त चारण परंपरा रीतिकाल में जाकर और मुखर हो गयी । राजदरबार के प्रति अपनी आस्था को व्यक्त करते हुए रीतिकालीन कवि ठाकुर स्पष्ट कहते हैं, 'ठाकुर सो कवि भावत मोहिं जो राज सभा में बड़प्पन पावत' । राज सभा का यह 'बड़प्पन' राजाओं की चाटुकारिता करके ही हासिल होता था । ये चारण कवि या तो राजाओं के युद्ध कौशल का बखान करते थे या फिर उनकी श्रृंगारिकता, विवाह या शत्रु कन्या हरण का । ये कवि सामंत राजाओं के सामने किसी सुंदर कन्या का बखान करते थे और राजा उसको हासिल करने के लिए युद्ध का शंखनाद कर देते थे । काव्य रचना की विषय-वस्तु के संदर्भ में इस साहित्य का सीधा विकास रीतिकालीन साहित्य में हुआ है । "दरबारी काव्य प्रवृत्ति आदिकाल की एक महत्वपूर्ण देन है, जो बाद में रीतिकाल में साहित्यिक धारा बनकर उभरी । दरबारों के आश्रय में रहने वाले कवियों का लक्ष्य धन और सम्मान प्राप्ति की लालसा होता था । आदिकालीन कवियों ने लक्ष्य प्रप्ति के लिए आश्रय दाताओं की मिथ्या वीरता की प्रशंसा की, तो रीतिकालीन आश्रित कवियों ने उनकी शान शौकत और सुंदर स्त्रियों को परखने एवं प्रेम करने के हुनर का बखान किया । लक्ष्य दोनों स्थितियों में एक था और हिंदी साहित्येतिहास में यह प्रवृत्ति आदिकाल की देन थी । इससे मुकरा नहीं जा सकता है" ।[23]

युद्ध आदिकालीन राजनीतिक परिवेश की मांग थे। वीरता तत्कालीन समाज का आदर्श गुण थी। हिंदी साहित्य में वीरकाव्य की आद्यंत परंपरा देखने को मिलती है। राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों में ढलते हुए यह प्रवृत्ति आज भी विद्यमान है। आदिकाल में इस काव्य धारा के अन्तर्गत रासो काव्य, वीर प्रशस्तियाँ, वीर प्रबंधकाव्य एवं मुक्तक कविताएँ आती हैं। मध्यकाल में कवियों द्वारा छत्रसाल, शिवाजी, महाराणा प्रताप, की वीरगाथाएं गायी गयी हैं। इसी युग में पश्चिमोत्तर की उत्तरकालीन रचनाओं में गुरु गोविन्द सिंह की वीर प्रशस्तियाँ, युद्धों के चित्रण तथा वीरोचित काव्य प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं। वीर काव्य परंपरा का तीसरा रूप हमें स्वतंत्रता आंदोलन संबंधी कविताओं में मुखर होता है। इन कविताओं के पश्चात स्वातंत्र्योत्तर चीनी-पाकिस्तानी आक्रमणों के समय की कविताएं वीरता के आह्वान से भरी हुई हैं। ये कविताएँ आधुनिक साहित्येतिहास का अभिन्न अंग है। "दरबारी काव्य की तरह ही साहस और वीरता का चित्रण करने वाली अमर रचना आदिकाल की उपलब्धि है। वीर-काव्य की यह प्रवृत्ति भविष्य में वीर काव्य धारा बनी। कबीर और नानक ने आध्यात्मिक वीरता का चित्रण किया तो रीतिकाल में भूषण, गुरु गोबिंद सिंह, लाल आदि वीर रस के कवियों ने समाँ बाँधा। आधुनिक युग में भी वीर काव्यधारा बदस्तूर आगे बढ़ रही है। इस सबका श्रेय आदिकाल में रचित 'आल्हा खण्ड' को दिया जाना चाहिए"।[24] दरबारी या चारण कवि, कविता के माध्यम से योद्धाओं में उत्साह का संचार करते थे। आदिकालीन कविता का उदाहरण प्रस्तुत है –

बारह बरस लै कूकर जिये और तेरह लौं जिये सियार।
बरस अठारह छत्री जीवें आगे जीवन को धिक्कार।।[25]

वीरता वर्णन की जो परंपरा आदिकाल की प्रमुख विशेषता है, वह रीतिकाल से होते हुए आधुनिक काल तक प्रवाहित होती रही। फर्क बस इतना है कि, आदिकाल और रीतिकाल में वीरता वर्णन के केन्द्र में सामन्ती शासक या आश्रयदाता राजा हैं और आधुनिककाल में वीरता का आह्वान देश-प्रेम या राष्ट्र-भक्ति है। विषय वस्तु समान है बस आलंबन बदलते रहे हैं। रीतिकालीन कवि भूषण ने अपनी कविता में मुगलों के साथ छत्रपति शिवाजी महाराज के संघर्ष का उत्साहपूर्ण शैली में वर्णन किया है –

दावा पातसाहन सों किन्हों सिवराज बीर,
जेर कीन्हीं देस हृदय बांध्यो दरबारे से।
हठी मरहठी तामैं राख्यौ न मवास कोऊ,
छीने हथियार डोलैं बन बनजारे से।।[26]

आदिकालीन और रीतिकालीन कविता में युद्ध राजनैतिक परिस्थितियों की उपज थे। युद्ध वहां खुले आसमान के नीचे आमने-सामने लडे जाते थे। कवि कविता के माध्यम से दुश्मन सेना के प्रति राजाओं में वीरता का संचार करते थे। आधुनिक काल तक आते-आते राजनैतिक परिस्थितयां परिवर्तित हो चुकी थीं। इस समय भारत औपनिवेशिक गुलामी को झेल रहा था। आधुनिक काल का कवि राजनैतिक दबाओं के चलते सीधे तौर पर युद्ध का आह्वान नहीं करते हैं लेकिन वे अपनी कविता के माध्यम से आम जन मानस में वीरत्व का भाव जगाते हैं। भारत-भारती कविता में मैथिली शरण गुप्त कहते हैं –

क्षत्रिय ! सुनो, अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो ।।[27]

सुभद्रा कुमारी चौहान कहती हैं –

सिंघासन हिल उठे राजवंशों ने भृकुटी तानी थी
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नई जवानी थी।
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी ।। [28]

छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद गुलामी से हताश जनता में वीरता का आह्वान करते हुए कहते हैं–

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ-प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो ![29]

वीर काव्य लेखन की यह परंपरा बदस्तूर समसामयिक युग में भी जारी है। अंग्रेजों से आजादी मिलने के बाद भारत में स्वशासन की स्थापना होती है, लेकिन युद्ध की सम्भावना यहाँ समाप्त नहीं हो जाती है। आजादी के बाद भारत ने कुल पाँच युद्ध लड़े। युद्ध कालीन साहित्य भी सामाजिक परिस्थितियों से अछूता नहीं रहा। काल-दर-काल राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ बदलते रहने के साथ साहित्य लेखन की शैली या कविता कहने के अंदाज में बदलाव अवश्य होता रहा है लेकिन साहित्य की विषय वस्तु के रूप में वीर काव्य परंपरा निरंतर प्रवाहित है। समसामयिक युग में शत्रु अलग है लेकिन युद्ध का आह्वान पूर्वकालिक ही है। आदिकाल की वीर काव्य-परंपरा जस की तस विद्यमान है। 1962 में भारत-चीन युद्ध के समय मंचीय कवियों ने युद्धों के बड़े-बड़े

आह्वान किये। इन कविताओं को पढ़कर सायास ही आदिकालीन चारण कविता की याद आ जाती है। कवि विशाल चर्चित की कुछ पंक्तियाँ इस संदर्भ में प्रस्तुत हैं –

अच्छा होगा इज्जत से हिमालय के उस पार ही रहना
अच्छा होगा अपनी छोटी सी औकात में रहना।
वरना यहीं से बैठे-बैठे हम खोपड़ी तुम्हारी खोल देंगे
तुम चीनियों को हम शरबत जैसा पानी में घोल देंगे।।[30]

वीर काव्य लेखन आदिकालीन साहित्य की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति रही है, जिसको आधार बनाकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल को वीरगाथा काल कहा है। चारणों, कवियों द्वारा आश्रयदाता राजाओं की वीरता के बखान की परंपरा आदिकाल से रीतिकाल में सीधे तौर पर दिखाई देती है। रीतिकाल से आगे बढ़ते हुए वीरकाव्य की परंपरा में कई बदलाव आए हैं। ये बदलाव राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण होते रहे हैं। इस क्रम में कविता कहने का तरीका अवश्य बदला है, लेकिन विषय-वस्तु समान ही है। कविता के माध्यम से संरक्षक सामंत, राजा, जन-मानस या भारतीय सेना में वीर भावना का आह्वान किया गया है। इस संदर्भ में आदिकाल की वीर काव्य परंपरा वर्तमान युग में भी प्रवाहित है। समकालीन मंचीय कविता द्वारा भारत के शत्रुओं का विनाश करने वाली ओज रस की कविताएँ आदिकालीन वीर काव्य का ही परिवर्द्धित संस्करण है।

दरबारी आग्रहों में बंधी हुई कविता के समानांतर लोक साहित्य की मुखर काव्य धारा आदिकालीन साहित्य की महती विशेषता है लोकोन्मुखता के परिप्रेक्ष्य में ही भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का 'स्वर्ण काल' कहा गया है। साहित्य की अन्य विषय वस्तुओं की तरह हिंदी लोक काव्य परंपरा का आरंभिक स्वरूप आदिकाल में दिखाई देता है। लोक काव्य की प्राथमिक सामग्री के रूप में 'भविसयत्त कहा', 'ढोला मारूरा दूहा', 'संदेश रासक' जैसे ग्रंथों को लिया जा सकता है। इन लोक काव्यों में वर्णित रोमानियत का सर्वाधिक प्रभाव सूफी काव्यों पर पड़ा है। "जायसी का 'पद्मावत' एक ऐसा ही सूफी काव्य है जिसमें 'भविसयत्त कहा' की ही तरह लोककथा का सोद्देश्य संशोधन किया गया है। जिस प्रकार राजकीय वैभव के लिए भाविस्यदत्त के भाग की कहानी में कुरु जंगल और पोयाणपुर के राजाओं का युद्ध जोड़ दिया गया है, उसी प्रकार रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम की कहानी में भी अलाउद्दीन का चित्तौड़ का आक्रमण बढ़ा दिया गया है। इससे सामान्य लोक-कथा में सामन्ती वैभव तो जुट ही गया,समसामयिकता की भी छाप भी लग गई है"।[31] रोमानियत लोक काव्यों की महत्वपूर्ण विशेषता रही है, हर लोक कथा में नायक को चाहे जितने असाध्य कष्ट सहने पड़े हों, लेकिन अंत भला ही होता है, कोई न कोई दैवीय शक्ति इन लोक नायकों की सहायक जरूर

बनती है। लोक काव्यों की इसी 'अंत भला तो सब भला' की उक्ति ने भक्तिकालीन सूफी काव्यों का कथानक बुना है।

"रोमानी प्रवृत्ति तो साहित्य का चिर प्राण रही है। सहज ही इसका आरम्भ आदिकाल में होना आवश्यक था। 'बेलि क्रिसन रुक्मिणी री' तथा 'ढोला मारू-रा दूहा' सरीखे रोमानी काव्य हिंदी साहित्य में धारा बनकर लेखकों के पथ बने। लगभग सभी सूफी कथा-काव्य रोमानी हैं, उन की काव्य रूढ़ियाँ भी आदिकाल की देन हैं। अंतर केवल इतना है कि सूफियों ने कथा के अंदर एक झीनी अन्योक्ति का सूत्र जोड़ दिया है, जिसने रोमानियत और आध्यात्मिकता को एक ही मंच पर रखकर उसमें 'इश्क मिजाजी' से 'इश्क हकीकी' की ओर बढ़ने का एक आकर्षक संकल्प जोड़ दिया गया है"।[32] पद्मावत में प्रयुक्त 'सिंघल द्वीप' आदिकालीन कविता का बहु प्रचलित स्थान है। जायसी की प्रेमकथा में रानी पद्मिनी सिंघल द्वीप की राजकुमारी हैं। सिंघल द्वीप की अपूर्व राजकुमारियों की चर्चा जायसी से पूर्व अनेक प्रेम कथाओं में मिलती है। हर्ष (सातवीं शती) ने रत्नावली नाटिका के चौथे अंक में रत्नावली को सिंघल के राजा की अपूर्व सुंदरी बताया है। कौतूहल की कृति की नायिका लीलावती सिंघल की राजकुमारी है, जिसका विवाह कवि ने प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन से कराया है। नायिका को पाप्त करने के लिए सातवाहन सिंघल नहीं जाता है, बल्कि सिंघल के राजा अपनी पुत्री की आसक्ति को समझकर उसको सादर सातवाहन के पास भेज देते हैं। कनकामर के करकुंडु चरिउ में करकुंडु सिंघल जाता है और वहां की रूपमती कन्या रतिवेगा से विवाह करता है। लौटते समय इस प्रेमीयुगल को एक मछली आकर अलग कर देती है, इस समय पद्मावती देवी आकर रतिवेगा की सहायता करती हैं। लाखू द्वारा लिखे गए जिनदत्त चरित (1275 वि०) में जिनदत्त अनेक व्यक्तियों के साथ मणियाँ लेने सिंघल द्वीप पहुँचता है, और वीरता पूर्वक भयानक सर्प को मारकर राजकुमारी लक्ष्मीमती से विवाह करता है। विक्रम की पंद्रहवीं शती को जिनहर्षगणि की प्राकृत कृति रत्नशेखर नरपति कथा में रत्नपुरी के राजा रत्नशेखर का विवाह सिंघल द्वीप की राजकुमारी रत्नवती से होता है। विक्रम की पंद्रहवीं शती की नरसेन कृत श्रीपाल चरित में श्रीपाल एक द्वीप में पहुंचकर समस्यापूर्ति में हराकर आठ राजकुमारियों से विवाह करता है। इन राजकुमारियों में से एक का नाम पद्मावती है। विक्रम की सोलहवीं शती में कवि माणिक्क राज ने अपनी कृति में सिंघल की पद्मावती का उल्लेख किया है। 'ण पउमिणी सिंहलदीव आय'। आदिकालीन कविता में प्रयुक्त प्रवृत्तियां उस काल के समापन के साथ समाप्त नहीं हो जाती हैं वह भविष्य के सभी कालों में कहीं पूर्णतः कहीं अंशतः विकसित होती रही है।

आदिकालीन लोक काव्यों में रोमानियत के साथ विरह का समागम इन काव्यों की महत्वपूर्ण विशेषता है। विरह की गहनता का पुट ही इन काव्यों की लोक ग्राह्यता में सहायक होता है। 'ढोला-मारू रा दूहा' में विरहणी अपना संदेश अपरिचित पथिक (संदेश रासक) या राज्य के पंडित

से न कहकर क्रौंच पक्षी से लेकर ढाढ़ियों तक सबसे कहती है। क्रौंच पक्षी स्वयं विरह का भुक्तभोगी है, इसलिए नायिका उसको सहृदय मानकर अपना दुःख सुनाती है। विरह से व्याकुल मारवणी सरोवर तट पर मौजूद कुंझों के दल को अपनी व्यथा सुनाने लगती है। विरहणी स्त्री और पक्षियों के इस मार्मिक वार्तालाप को जायसी ने पद्मावत में स्थान दिया है। विरहणी मारवाणी की विरह-व्यथा की मार्मिकता का विकास पद्मावत की 'नागमती के विरह वर्णन' में हुआ है। मारवणी के विरह वर्णन में कोई लम्बी चौड़ी कथा नहीं है। स्त्रियों की भाषा में कही गयी सीधी सच्ची बात है। कविता की एक एक पंक्ति में नायिका की विरह-वेदना की लहर है। जैसे -

ढाढ़ी, एक संदेसडउ प्रीतम कहिया जाइ।
सा धण बलि कहला भइ, भसम ढंढोलिसि आइ।।
ढाढ़ि, जे प्रीतम मिलइ, यूँ कहि दाखवियाह।
पंजर नहि छड़ प्राणियउ, थां दिस झल रहियाह"।। [33]

इस वर्णन में करुणा की प्रबल अनुभूति दिखाई देती है। शरीर विरह में जलकर कोयला हो गया है, शरीर में अब प्राण नहीं रह गए हैं, उसकी अंतिम लौ तुम्हरी ओर झुक-झुक कर जल रही है। प्रेमी की विरह में जलकर कोयला बन जाना या राख हो जाना विरहणी नायिकाओं के लिए बहुप्रचलित प्रतिमान है। जायसी ने पद्मावत में नागमती की विरह विदग्धता को भी कुछ इसी तरह के भावों में अभिव्यक्त किया है –

पिउ सौ कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा! हे काग!
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुवाँ हम्ह लाग।। [34]

आदिकालीन विरह की मार्मिकता का प्रसार परवर्ती कालों में हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं है। ढोला मारूरा दूहा की विषय वस्तु का विकास सन्त साहित्य में भी दिखाई देता है। 'ढोला मरूरा दूहा' और कबीरदास के साहित्य में कई पद दोहराव की सीमा तक एक जैसे हैं। फर्क मात्र संबोधन का है, वहां विरहणी प्रीतम से मुखातिब है और कबीर ने गोविन्द को पुकारा है। जैसे –

"राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल।
जिणकी जोड़ी वीछड़ी, तिणका कवण हवाल।।

यही दोहा कबीरदास के साहित्य में ज्यों का त्यों मौजूद है –

अंबर कुंजां कुरलियाँ गरजि भरे सब ताल।

जिन पै गोविंद वीछुटे तिनके कौण हवाल”।।[35]

आदिकालीन हिंदी साहित्य का उत्तरोत्तर विकास ही उसकी प्रासंगिकता है। आदिकाल में प्रचलित तमाम काव्य-विषयों का विकास आगे के कालखंडों में निरंतर होता रहा है। विषय वस्तु की दृष्टि से आदिकाल ने भक्तिकाल और रीतिकाल की आधार सामग्री का संकलन किया है, इसमें कोई दो राय नहीं है।

ख. काव्य-रूप और परवर्ती हिंदी साहित्य -

इतिहास और साहित्य के इतिहास में मूलभूत अंतर यही होता है कि साहित्य में तिथियों के परिवर्तन के साथ काल विशेष की प्रवृत्तियाँ एकदम से समाप्त नहीं हो जाती हैं, बल्कि समसामयिक बदलावों को ग्रहण करते हुए भावी काल खण्डों में संचरित होती रहती हैं। यह संचरण ही बीते हुए काल का प्रदेय कहलाता है। यह प्रदेय विषय-वस्तु और काव्य रूप दोनों ही स्तर पर होता है। विषयवस्तु के लिहाज से आदिकाल ने भक्तिकाल और रीतिकाल की आधार सामग्री का निर्माण किया है, लेकिन काव्य रूप की दृष्टि से इस काल ने हिंदी साहित्य को सर्वाधिक समृद्ध किया है। डॉ नामवर सिंह आदिकाल के काव्य रूपों के सम्बन्ध में कहते हैं कि - “भावधारा की अपेक्षा काव्य-रूपों में परंपरा का पालन अधिक देखा जाता है। अक्सर देखा जाता है कि नवीन भाव-धारा के आ जाने पर भी काव्य के रूप पुराने ही चलते रहते हैं। हिंदी के काव्य रूपों का अध्ययन करते समय यह तथ्य स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है” ।[36] यहाँ ध्यातव्य है कि हिंदी साहित्य के आरम्भ के साथ ही हिंदी भाषा ने अपने नए काव्य रूप नहीं गढ़े हैं। काव्य- रूपों की परंपरा साहित्य या काव्य लेखन के आदिम युग से ही प्रवहमान है। हर दौर के साहित्य ने उसमें अपने अनुसार संचयन, संवर्द्धन और संशोधन अवश्य किया है, लेकिन इनका ग्रहण साहित्य की पूर्ववर्ती परंपरा से ही हुआ है। आदिकाल के काव्यरूपों का विकास हिंदी भाषा के विकास पर आधारित है। इस काल में ही साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश का हिंदी से स्थानापन्न होता है। हिंदी ने अपनी पूर्ववर्ती भाषा से कई काव्य रूप उधार लिए या अपभ्रंश भाषा के कई गतिशील काव्य रूपों का हिंदी साहित्य में स्वतः विकास होता रहा है। यह विकास भाव रूप की अपेक्षा काव्य रूप में अधिक दिखाई देता है, जिसकी पुष्टि करते हुए डॉ नामवर सिंह कहते हैं - “अपभ्रंश से अधिक विकसित और नवीन भावधारा को अपनाकर भी हिंदी कविता बहुत दिनों तक अपभ्रंश के ही काव्यरूपों को अपनाये रही। इसीलिए हिंदी काव्य रूपों के क्षेत्र में अपभ्रंश की देन भावधारा की अपेक्षा अधिक है”।[37]

आदिकालीन काव्य परंपरा में महाकाव्य और खण्ड काव्य का सृजन बहुतायत में हुआ। महाकाव्य परंपरा के रूप में इस काल को संस्कृत भाषा में वाल्मीकि कृत 'रामायण' और वेदव्यास कृत 'महाभारत' प्राप्त होते हैं। आदिकालीन रचनाकारों द्वारा रचित महाकाव्यों की संकल्पना संस्कृत भाषा के काव्यशास्त्रीय मानदंडों के अनुरूप ही की गयी है। आदिकाल में रचित काव्य पृथ्वीराज रासो को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का प्रथम महाकाव्य माना है। महाकाव्यों के समानांतर आदिकाल में खंडकाव्यों का सृजन भी होता रहा है। 'संदेश रासक', 'बीसलदेव रासो' तथा 'थूलिभद्दफाग' जीवन के किसी खंड विशेष को आधार बनाकर लिखे गए काव्य ग्रंथ हैं। आदिकालीन महाकाव्य तथा खंडकाव्य परंपरा का विकास भक्तिकालीन और रीतिकालीन साहित्य में बखूबी दिखाई देता है। 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' भक्तिकालीन महाकाव्य तथा 'सुदामाचरित', 'भँवरगीत', रुक्मिणी मंगल', 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल' खंड काव्य हैं। रीतिकाल में 'रामचंद्रिका' नामक महाकाव्य तथा 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' नामक खंड काव्य की रचनाएँ हुई हैं। वीरगाथाकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल तक रचे गए महाकाव्यों, खंड काव्यों में आचार्य विश्वनाथ, दंडी, भामह, हेमचन्द्र आदि संस्कृत आचार्यों के नियमों का अनुपालन किया गया। बीसवीं शताब्दी के महाकाव्यों के शास्त्रीय दृष्टिकोण में राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितयों के अनुकूल परिवर्तन हुए। इसीलिए विराट फलक होने के बावजूद 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'कामायनी' और 'उर्वशी' को महाकाव्य मानने में आलोचकों को बहुत समय लग गया। वर्तमान समय में गुरुभक्त सिंह द्वारा रचित 'नूरजहाँ', 'विक्रमादित्य', अनूप शर्मा द्वारा लिखा गया 'सिद्धार्थ', 'वर्धमान', रामानन्द तिवारी द्वारा 'पार्वती' तथा गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' द्वारा रचित 'तारक वध' श्रेष्ठ महाकाव्य हैं। महाकाव्यों के साथ-साथ 'कुरुक्षेत्र', 'जय हनुमान', 'चंदेरी का जौहर', 'कौन्तेय कथा', 'प्रयाण', 'भोजराज', 'संशय की एक रात' आधुनिक काल के प्रमुख महाकाव्य हैं। साहित्य के उत्तरोत्तर विकास की यात्रा में नए कलेवर और नए मानदंडों के साथ महाकाव्य और खंडकाव्य लेखन की परंपरा आज भी वर्तमान है। हिंदी भाषा में प्रथम महाकव्य के सृजन और विकास का श्रेय आदिकाल को ही जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'पृथ्वीराजरासो' को हिंदी साहित्य का प्रथम महाकाव्य माना है।

मुक्तक काव्य धारा आदिकाल से ही साहित्य का महत्वपूर्ण अंग रही है। इस काव्य शैली में एक छन्द में कही गयी बात का दूसरे छंद में कही गयी बात से कोई सम्बन्ध या तारतम्यता नहीं होती है। मुक्तक काव्य परंपरा में पद और दोहा दोनों ही सर्वाधिक प्राचीन और प्रमुख छंद है, जिनका विकास हिंदी साहित्य के परवर्ती कालखंडों में सबसे अधिक हुआ है। सिद्धों, नाथों और विद्यापति के साहित्य में पद शैली का प्रमुखता से विकास हुआ है। पदावली ही विद्यापति की

लोकप्रियता का प्रमुख आधार है। आदिकाल के बाद भक्तिकाल और रीतिकाल में पद शैली का सबसे अधिक प्रसार हुआ है।

मुक्तक काव्य परंपरा में दोहा जन मानस के बीच सबसे ज्यादा प्रसिद्ध छंद है। हिंदी में दोहे का प्रवेश अपभ्रंश भाषा के माध्यम से होता है। प्राचीन अपभ्रंश में इसका प्रयोग कम मिलता है। सिद्ध कवि सरहपा के साहित्य ने इस छंद को विस्तार दिया। सिद्ध-नाथ-जैन साहित्य के अतिरिक्त 'ढोला मरूरा दूहा', 'संदेश रासक', 'प्रबंध चिंतामणि' जैसे अनेक ग्रंथों में दोहा छंद को अपनाया गया है। 'ढोला मरूरा दूहा' में संग्रहीत दोहे जनता के बीच काफी लोकप्रिय थे। आदिकाल से आगे बढ़कर इस छंद का सर्वाधिक विकास भक्तिकालीन और रीतिकालीन कविता में होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - "'दोहा' अपभ्रंश का लाडला छंद है, यह पहले ही बताया जा चुका है। सातवीं शताब्दी के बाद भारतीय साहित्य में इसका दर्शन होता है। प्रवेश तो इसका बहुत पहले ही हो चुका था,पर सातवीं-आठवीं शताब्दी में इसने श्रृंगार को, वीर को, धर्म को नीति को लोकचित्त में प्रवेश कराने का व्रत लिया। धर्म के क्षेत्र में जोइंदु और रामसिंह के मर्मी उपदेशों को इसने प्रचारित किया। सरह, कन्ह, तिल्लोपा आदि बौद्ध सिद्धों की रहस्यवादी भावनाओं का वाहन बना, गोरखनाथ जैसे अलख जगाने वालों का सहायक हुआ और कबीर जैसे फक्कड़ का संदेश वाहक बना। श्रृंगार क्षेत्र में इसकी दुन्दुभी बहुत पहले बज चुकी थी। हेमचन्द्र के व्याकरण, प्रबंध चिंतामणि, संदेश रासक और ढोला मारू के दोहों में इस छंद की भाववहन योग्यता अद्‌भुत रूप में प्रामाणित हो चुकी थी"।[38] कम शब्दों में अधिक भाव संवेदना समेटने के कारण ही दोहा आदिकाल के बाद भक्तिकाल और रीतिकाल का प्रमुख छंद बना। सन्त साहित्य के साथ-साथ जायसी के 'पद्मावत' और तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में चौपाई के साथ दोहों का प्रयोग प्रचुरता में हुआ है। रीतिकालीन कवियों में बिहारी ने 'बिहारी सतसई' लिखकर दोहा छंद को नई उचाइयां प्रदान की हैं। आधुनिक काल में साहित्य की नई विधाओं के विकास के कारण दोहे की विधा समाप्तप्राय हो गयी थी। किन्तु कालांतर में गजल के विकास के साथ फिर से दोहे की प्रासंगिकता बढ़ी है। उदाहरणार्थ -

पहले चारा खा गए अब खायेंगे देश
कुर्सी पर डाकू जमे धर नेता का वेश।[39]

कड़वक भक्तिकालीन साहित्य का बहुप्रचलित छंद है। यह काव्य लेखन की शैली है जिसमें पांच या सात चौपाइयों के बाद एक दोहे का प्रयोग होता है। सन्त साहित्य, सूफी साहित्य और राम काव्य परंपरा में इस छंद का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है। यहाँ दोहा और चौपाई का एक साथ प्रयोग किया जाता है। आदिकालीन प्रबंध काव्य परंपरा में इस छंद का प्रयोग दिखाई देता है, जिसके आदिम स्वरूप के दर्शन सिद्ध साहित्य में होते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार

"संभवतः, पूर्वी प्रदेश के कवियों ने प्रबंध-काव्य में चौपाई और दोहा से बने कडवकों का प्रयोग शुरू किया था। जायसी आदि सूफी कवियों ने इसी प्रथा का अवलंबन किया था। परन्तु बीजरूप में यह प्रथा बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में मिल जाती है। सरहपा ने लिखा है–

पंडिअ सअल सच्च वक्खाणइ। देहहि बुद्ध बसंत ण जाइ।।
गमणागमण न तेन विखंडीअ। तो वि णीलज्ज भणहि हउ पंडिअ।।
जीवंतह जो नउ जरइ,
सो अजरामर होइ।
गुरु उवएसे विमल मइ
सो पर धणा कोइ।।

चौपाई-दोहे का सबसे पुराना प्रयोग शायद यही है। जो कुछ पुराना साहित्य उपलब्ध है उससे लगता है कि पूर्वी प्रदेश के बौद्ध सिद्धों ने ही इस शैली में लिखना शुरू किया था। ... किन्तु सब मिलाकर चौपाई-दोहा की पद्धति उधर दीर्घकाल तक लोकप्रिय नहीं हुई। गोरखनाथ की बताई जाने वाली वाणियों में भी इस पद्धति को कथंचित खोज लिया जा सकता है और कबीरदास ने तो निश्चित रूप से इस पद्धति का व्यवहार किया था"।[40]

काव्य रूप के रूप में 'साखी' का आरंभिक स्वरूप आदिकाल में दिखाई देता है। बौद्ध सिद्धों को भी इस शब्द का पता था इसके प्रमाण सिद्ध कण्हपा के साहित्य में दिखाई देते हैं, एक पद में वे 'साखि करब जलंधरपाएँ' में जालन्धरपाद को साक्षी करने की बात कहते हैं। इसके बाद गोरखपंथियों के साहित्य में साखी का प्रयोग हुआ है। भक्तिकाल में कबीर-पंथी साहित्य में इस काव्य रूप का विस्तार दिखाई देता है। साखी के समान 'शब्द' गेय पद हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - "संवत 1715 की लिखी हुई एक प्रति से संग्रहित और गोरखबानी में उदधृत पदों को 'सबदी' कहा गया है। जान पड़ता है बीजक का 'शबद' इसी 'सबदी' का संशोधन है। इस प्रकार यह 'सबदी' शब्द नाथपंथी योगियों का है और कबीरपंथ में वह सीधे वहीं से आया है। निश्चय ही हमारे आलोच्य काल में इस ढंग में पद बहुत प्रचलित थे"।[41]

सिद्धों और सन्तों के साहित्य की महत्वपूर्ण साझी विशेषता उलटबाँसी के रूप में दिखाई देती है। सिद्धों ने अपने साहित्य में सांकेतिक भाषा का इस्तेमाल किया है। वे अपनी दार्शनिक अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीक भाषा का प्रयोग करते हैं। पदों में प्रयुक्त हुए प्रतीक विशेष को समझे बिना उसका अर्थ नहीं खुलता है। "पदों की योजना इस प्रकार की है कि ऊपर से उससे कुत्सित लोक-विरुद्ध अर्थ प्रकट हो, या परस्पर विरोधी अनर्थक बातें प्रतीत हों, किन्तु साधना के रहस्यात्मक शब्दों की जानकारी प्राप्त होने पर साधनात्मक विशुद्ध अर्थ स्पष्ट हो जाये"।[42] इन्हीं

बहुअर्थी पदों की भाषा को उलटबांसी कहा जाता है । सिद्धों के साथ नाथ पंथियों विशेषकर मछन्दरनाथ और गोरखनाथ के यहाँ ऐसे कूट पद मिलते हैं । इसमें पद का एक अर्थ लोकानुभव से संबंधित होता है, तो दूसरा अर्थ दार्शनिक अनुभूतियों की व्यंजना करता है । इसमें लौकिक अर्थ कई बार लोक विरोधी भी होते हैं । तंतिपा के अनुसार –

बेंग संसार बाड़ाहेल जाअ । दुहिल दूध के बेटे समाअ ।
बलद बिआएल गविआ बांझे । पिटा दुहए एतिना सोंझे ।
जो सो बुज्झी सो धनि बुधी । जो सो चोर सोइ साधी ।
निते निते पिआला षिहे षप जूझअ । ढंढपाएर गीत बिरले बुझअ । [43]

सामान्य अर्थों में यह पद असंभव घटनाओं की सूचना देता है जैसे- मेंढक साँप से नहीं डरता, दूहा हुआ दूध गाय के स्तनों में पुनः समा जाता है, बैल बछड़े को जन्म देता है, गाय बाँझ हो जाती है जिसको तीनों पहर दूहा जाता है । जो चोर है वही कोतवाल है । पूरे पद में एक तरह का विस्मय और सामाजिक व्यवस्था के प्रति प्रतिरोध का स्वर है । इन उलटबासियों का विकास भक्तिकालीन सन्त साहित्य में होता है । कबीरदास के कई पद इसी तरह के विरोधाभासी अर्थों को उद्घाटित करते हैं, उदाहरण स्वरूप -

धरति उलटि आकासहि जाई । चिउटी के मुख हस्त समाई ।।
जिन पौने जहं परबत उड़ै । जीव जंतु सब बिरछा बुड़ै ।।
सुखे सरोवर उठे हिलोर । बिन जल चकबा करै किलोल ।। कबीर [44]

इस पद का यदि सामान्य अर्थ लिया जाये तो यहाँ धरती उलटकर आकाश को जा रही है, चींटी के मुख में हाथी समा गया, हवा के बिना ही पर्वत उड़ने लगा, जीव-जंतु वृक्ष में डूबने लगे, सूखे सरोवर में हिलोरें उठने लगीं, चकवा बिना पानी के ही कलोल करने लगा । पद में प्रयुक्त सभी उपमाएं विरोधाभासी हैं, किन्तु इन पदों को इनके गूढ़ अर्थ में समझने पर ही इनका वास्तविक अर्थ खुलता है । उलटबांसी की इस शैली में पद का मूल ढका हुआ होता है, पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के साथ ही इस इनका आशय स्पष्ट होता है । सुषुम्ना, नाडी मंडल, ब्रह्मरंध्र, सिद्धावस्था, इन्द्रियां, आत्मतत्व जैसे शब्द तांत्रिकों, योगियों, सिद्धों, नाथों और सन्तों में समान रूप से प्रचलित थे । उलटबांसी की यह शैली सरहपाद, गोरखनाथ से होती हुई कबीर आदि सन्तों के साहित्य में विकसित होती है । इस सम्बन्ध को चिन्हित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि "बहुत संभव है कबीरदास आदि की पुस्तकों में जो ऐसी रचनाएँ मिलती हैं, वे पूर्ववर्ती साधकों और भक्तों की रचनाएँ ही हों और बाद में इन कवियों के नाम से चल पड़ी हों । वस्तुतः यह बात केवल अनुमान और अटकल नहीं है । कबीरदास के नाम पर यह उलटबांसी बहुत प्रचलित है - 'कबीरदास

की उलटी बानी । बरसै कंबल भीजै पानी' ।। स्व. डॉ. पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने प्रयाग से 'गोरखबानी' नामक जो संग्रह प्रकाशित कराया है, उसमें गोरखनाथ के नाम पर यही उलटबांसी इस प्रकार मिलती है - 'नाथ बोले अमृत बाणी । बरिसैगी कंबली भीजैगा पाणी"।[45] इस प्रकार अनेक उदाहरण दिखाए जा सकते हैं।

उलटबांसी की तरह ही दृष्टिकूट पद लेखन की शैली का आरंभिक रूप विद्यापति के साहित्य में मिलता है, जिसका विकास सूरदास के साहित्य में स्पष्ट देखा जा सकता है। सूरदास द्वारा लिखित सूरसागर में कई जगहों पर दृष्टिकूट वाले पद मिलते हैं, दृष्टिकूट ऐसी कविता को कहते हैं जिसका अर्थ केवल शब्दों के वाचकार्थ से समझा न जा सके, इन पदों के अर्थ प्रसंग या रूढ़ अर्थों द्वारा ही समझे जा सकते हैं। सूरदास के इन पदों में विद्यापति का अनुकरण हुआ है। 'सारंग' शब्द को लेकर सूरदास ने कई पद कहे हैं, इसका उदाहरण विद्यापति की पदावली में भी दिखाई देता है, जैसे –

सारंग नयन, बयन पुनि सारंग, सारंग तसु समधाने ।
सारंग उपर उगल दस सारंग केलि करथि मधु पाने ।।

विद्यापति की रचना शैली का अनुकरण सूरदास के यहाँ भी दिखाई देता है –

सारँग बिकल भयौ सारँग मैं सारँग तुली सरीर ।
परयौ काम सारँग-बासी सौं, राखि लियो बलबीर ।।
सारँग इक सारँग ह्वै लौट्यौ, सारँग ही के तीर ।
सारँग-पानि राय ता ऊपर, गए परीच्छत कीर ।।[46]

चरित काव्य लेखन आदिकाल की महत्वपूर्ण उपलब्धि है, जिसने भावी साहित्य लेखन को नई दिशा प्रदान की है। 'रामचरितमानस' और 'पद्मावत' जैसे महाकाव्यों के लेखक तुलसी और जायसी आदिकालीन रचना 'संदेश रासक' से प्रभावित हैं। साहित्यिक विकास के क्रम में चरित नायक अवश्य बदलते रहे हैं लेकिन, शैली और रूढ़ियाँ आदिकाल की ही देन हैं। मध्यकाल रीतिकाल तथा आधुनिक काल में रचनाकारों ने प्रचुरता से चरित काव्य लिखे हैं, किन्तु प्रवृत्यात्मक दृष्टि से लेखन की यह पद्धति आदिकाल की देन है। चरित काव्य की परंपरा को गति देने का श्रेय संदेश रासक के लेखक अद्दहमान उर्फ अब्दुल रहमान को जाता है। 11वीं शताब्दी की इस रचना ने परवर्ती चरित काव्यों की आधारभूमि तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अपभ्रंश भाषा की रास रचनाओं की लोकप्रियता के फलस्वरूप भी हिंदी कविता में चरित काव्यधारा का विकास हुआ। हिंदी के कुछ कवियों ने आगे चलकर आश्रयदाता से सम्बंधित चरितकाव्यों को रास या रासो नाम दिया। इस काव्य की दो धाराएँ मिलती हैं, एक रास परंपरा, दूसरी वीर रसात्मक चरित काव्य परंपरा। दोनों के ही आरंभिक रूप आदिकाल में प्राप्त होते हैं। धर्म को आलंबन बनाकर रची गयी

रास काव्य परंपरा का विकास 15 वीं शती के आगे रुक गया और चरित काव्य धारा 18वीं शती तक अपनी एकरूपता को लिए हुए प्रवाहित होती रही।

आदिकालीन साहित्य लेखन में काव्य-रूढ़ियों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। काव्य रूढ़ियाँ कथानक को गति देने में सहायक होती हैं। आदिकालीन काव्य के रासो ग्रंथों में कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग मिलता है। कथा को सरस, प्रवाहपूर्ण और प्रभावशाली बनाने में इस शिल्प पद्धति का उपयोग किया गया है। पशु-पक्षियों की बातचीत, दैवीय शक्तियों का हस्तक्षेप आदि उस काव्य में प्रयुक्त प्रमुख कथानक रूढ़ियाँ हैं। श्रोता वक्ता का विधान इसी तरह की रूढ़ि है। विद्यापति की कीर्तिलता में भृंग-भृंगी के संवाद के माध्यम से ही कथा का विकास होता है। आदिकालीन साहित्य में प्रयुक्त इस कथा-विधान को जायसी और तुलसीदास जैसे कवियों ने सहजता से अपनाया है। काव्य-रूढ़ियों के स्तर पर हिंदी की कई काव्यधाराओं की रचना शैली और जैन साहित्य के चरित काव्यों की रचना शैली में समानता दिखाई देती है।

इन चरित काव्यों का आरम्भ जिन वन्दना से होता है, उसके बाद सज्जन और दुर्जन दोनों के प्रति कवि अपनी विनम्रता प्रकट करता है। कथा का आरम्भ किसी जैन धर्म में आस्था रखने रखने वाले पात्र के प्रश्न से होता है। उत्तर स्वरूप कवि कथा का प्रारंभ किसी देश के वर्णन से करता है, और फिर राजा तथा उसके नगर आदि का सुंदर वर्णन प्रस्तुत करता है। कवि का प्रधान उद्देश्य किसी धार्मिक व्यक्ति के सद्चरित्र का बखान करना होता है, इस क्रम में वह बीच-बीच में आने वाले स्थलों के सुंदर वर्णन करता चलता है। पुष्पदंत की दो कृतियों को लेकर इस विश्लेषण को स्पष्ट किया जा सकता है। 'महापुराण' की भूमिका में उन्होंने ऋषभदेव, सरस्वती की वन्दना करके अपना परिचय दिया है, बार-बार खल-निंदा की चर्चा के बाद वे सज्जनों के समक्ष नम्रता प्रकट करते हैं, एहु विणउ पयासिउसज्जणाहं मुहि मसिकुंचउ कउ दुज्जणाहं। श्रेणिक राज के वर्णन, जिन समागम आदि प्रसंगों के पश्चात कृति की कथा प्रारम्भ होती है। इक्कीस कड़वकों में कृति की भूमिका समाप्त हुई है। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में स्वयंभू और पुष्पदंत की रचना शैली का निर्वाह हुआ है। रामचरितमानस की तिरालिस चौपाइयों की भूमिका का समापन हुआ है। जायसी ने 'पद्मावत' की भूमिका चौबीस चौपाइयों में समाप्त की है जिसमें मंगलाचरण, विनय वर्णन और दुर्जनों का स्मरण अवश्य मिलता है। इसके बाद वे सिंघल द्वीप का सुंदर वर्णन प्रस्तुत करते हैं जो 'जसहर चरित' के प्रारंभ वर्णन से मेल खाता है। देशादि तथा ऋतु आदि के वर्णन अपभ्रंश के चरित काव्यों की शैली से मिलते-जुलते हैं। संदेश रासक के वियोग वर्णन और जायसी के वियोग वर्णन में बहुत अधिक समानता है। प्रारंभ की वन्दना आदि भी संदेश रासक की वन्दना से कुछ-कुछ मिलती-जुलती है। जायसी तथा तुलसीदास की कृतियों के वर्णन को देखकर कहा जा सकता है कि अपभ्रंश चरित काव्यों तथा कथा साहित्य की शैली से इन कवियों का परिचय अवश्य ही रहा होगा।

हिंदी साहित्य में मुकरियाँ प्रचलित काव्य शैली है, जिसका प्रारंभ आदिकालीन कवि अमीर खुसरो के साहित्य से होता है। मुकरियाँ लोक प्रचलित काव्य है, जिसका स्वरूप पहेली जैसा होता है। इस शैली में पहले की पंक्तियों में वास्तविक बात को श्लिष्ट रूप में कहा जाता है, फिर अंतिम पंक्ति में उस बात से मुकरकर उसकी जगह कोई दूसरी ही बात कह दी जाती है। इससे सुनने वाला कुछ का कुछ ही समझ पाता है। अमीर खुसरो की काव्यात्मक मुकरियों में लोक समाज के लिए मनोरंजक ठिठोली देखी जाती है, उदाहरणार्थ –

बेर-बेर सोवतहिं जगावे। न जागूँ तो काट खावे ।।
व्याकुल हुई मैं हक्की बक्की। ऐ सखि साजन ? ना सखि मक्खी ।।[47]

भारतेंदु काल को आधुनिक युग का प्रवेश द्वार माना जाता है। इस युग में भारत औपनिवेशिक गुलामी झेल रहा था। इस युग के साहित्यकारों की लेखनी पर अंग्रेजी राज की पूरी नजर रहती थी, इसीलिए इस समय बातों को सीधे तरीके से न कहकर ढके-छुपे शब्दों अथवा व्यंग्य के आवरण में कहने का चलन चला। भारतेंदु की 'नए ज़माने की मुकरियाँ' इसी आवश्यकता का परिणाम थीं। भारतेंदु ने पारंपरिक मुकरियों को घर परिवार के सीमित दायरे से निकालकर उसको राष्ट्रीय चिंताओं से जोड़ दिया। आदिकाल के बाद हिंदी साहित्य में मुकरियों का प्रयोग लगभग बंद हो गया था। आधुनिक काल में इस काव्य शैली का प्रयोग भारतेंदु के साहित्य में पुनः हुआ है। उनकी मुकरियों में तत्कालीन शासन और उसकी कुव्यवस्था पर प्रहार किया गया है। उदाहरण के रूप में–

भीतर भीतर सब रस चूसै।
हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै ।।
जाहिर बातन मैं अति तेज।
क्यों सखि सज्जन नहिं अंगरेज ।। [48]

गद्य-लेखन और उसकी विधाओं को आधुनिकता का प्रतिफलन कहा जाता है। अधिकतर विद्वान इसका श्रेय आधुनिक काल को देते हैं। हिंदी के गद्य साहित्य का प्रचुर विकास भले ही आधुनिक काल में हुआ है लेकिन हिंदी साहित्य में गद्य-लेखन का आरम्भ आदिकाल में ही हो गया था। "आदिकाल की उपलब्धियों में गद्य लेखन एक बड़ी प्राप्ति है। आज भी गद्य रचना के लिए साहित्य के इतिहासकार आधुनिक युग को श्रेय देते हैं। आदिकाल और मध्यकाल में रचे गए गद्य को वे विशेष महत्व नहीं देते। ऊपर के दोनों युगों में गद्य लेखन बेशक न्यून मात्रा में हो, ऐतिहासिक महत्व से तो उसे वंचित नहीं किया जा सकता। किसी रचना प्रवृत्ति का विकसित रस भले ही बरगद के पेड़ सा हो, किन्तु उस लघु महत्वहीन बीज को क्योंकर नाकारा जायेगा, जिसके सीने में से वर्तमान सुविकसित बरगद प्रकट हुआ है। यही स्थिति आदिकाल में उगी गद्यात्मक कृतियों की

है"।[49] ऐसे तो आदिकाल में गद्य रचना के स्फुट प्रयास ही देखने को मिलते हैं, लेकिन गद्य लेखन परंपरा के आरंभिक स्वरूप के अन्तर्गत इस साहित्य का अध्ययन करना महत्वपूर्ण कार्य है । आदिकाल में प्राप्त गद्य रचनाओं में तत्कालीन जीवन के यथार्थताओं का वर्णन देखने को मिलता है। इस युग की गद्य कृतियों में रोड़ा कवि की 'राउलवेल', दामोदर भट्ट कृत 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण', ज्योतरीश्वर ठाकुर कृत 'वर्ण रत्नाकर' तथा विद्यापति कृत कीर्तिलता का नाम उल्लेखनीय है। इन कृतियों में प्रस्तुत गद्य वर्तमान युग के समान परिष्कृत तो नहीं है, भाषा आलंकारिकता के आवरण में घिरी हुई है, किन्तु गद्य के आरंभिक प्रयास के रूप में ये कृतियाँ उल्लेखनीय और प्रासंगिक हैं।

खड़ी बोली का प्रयोग आधुनिक काल की सबसे बड़ी विशेषता है। साहित्य की अन्य तमाम प्रवृत्तियों की तरह खड़ीबोली का आरंभिक प्रयोग आदिकालीन कवि अमीर खुसरो के साहित्य में दिखाई देता है। साहित्य में जब अपभ्रंश भाषा से हिंदी भाषा को मुक्त करने या कराने के विवाद चल रहे थे, उस समय अमीर खुसरो, खड़ीबोली के साफ़ स्वरूप का सृजन कर रहे थे। खडी बोली के अतिरिक्त खुसरो के साहित्य में अवधी और ब्रज भाषाओं का प्रयोग भी हुआ है। खुसरो की 'पहेलियाँ', 'मुकरियाँ' और 'दो सुखने' खड़ी बोली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं -

एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औंधा धरा ।।
चारों ओर वह थाल फिरे। मोती उससे एक न गिरे ।।[50]

खुसरो की इस पहेली की भाषा और आधुनिक काल में खड़ी बोली में रची गयी किसी भी कविता की भाषा में अंतर कर पाना मुश्किल है। आधुनिक काल में साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने वाली खड़ी बोली के प्रथम प्रयोक्ता के रूप में अमीर खुसरो का योगदान महत्वपूर्ण है।

आदिकाल में प्रचलित तमाम काव्यरूपों ने भविष्य के साहित्य की आधार भूमि तैयार की है। आदिकाल ने संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं से प्राप्त होने वाले काव्य रूपों को हिंदी भाषा के अनुकूल ढालकर परवर्ती साहित्य में उनका विकास किया है। भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिककाल में प्रचलित भक्ति, नीति, वीर, श्रृंगार आदि काव्य-धाराओं को अभिव्यव्यक्त करने वाले काव्य रूप आदिकाल की ही देन हैं। नखशिख वर्णन, अलंकरण, नायिका-भेद, वियोग तथा प्रेमोन्माद, ऋतु-वर्णन, प्रवास-गमन तथा मिलन आदि-आदि सारे के सारे श्रृंगार के शास्त्रीय संदर्भ संस्कृत साहित्य से प्रारंभ होकर प्राकृत, अपभ्रंश से चलते हुए भाषा साहित्य में आए हैं। रूप वर्णन, सज्जा, अलंकरण, सौन्दर्य विधान के स्वरूप संस्कृत साहित्य से लेकर हिंदी के भारतेंदु युग तक अपनी अटूट श्रृंखला के साथ मौजूद हैं। मुक्तक साहित्य रचना का पूर्वक्रम हमें चौथी शती से अठारहवीं-बीसवीं शती तक एक जैसे क्रम में प्राप्त होता है। काव्य रूपों के विकास का यह अनवरत क्रम केवल पुनरावृत्ति मात्र नहीं है, यह साहित्यिक परंपरा का एक गतिशील क्रम है, जो समाज तथा जीवन की अभिरुचियों से लगातार जुड़ा रहा है।

ग. आदिकालीन साहित्य का समसामयिक संदर्भ -

साहित्य के उत्तरोत्तर विकास के क्रम में जब सांस्कृतिक प्रतीकों की पुनर्व्याख्या की जा रही है, मूल्यों और कलाओं को नए अर्थों में परिभाषित किया जा रहा है, छंद और लय गुजरे ज़माने की बात बन गए हैं,अतिवादी आलोचकों ने गीतों के साथ-साथ कविता की समाप्ति की भी सार्वजानिक घोषणाएं कर दी हों, साहित्य के आदिकाल को नकारते हुए उसको 'अंधकार काल' जैसी संज्ञाएँ दी गयी हों तथा 'आधुनिकता' को ही साहित्य का एकमात्र पर्याय घोषित कर दिया गया हो, ऐसे समय में हिंदी साहित्य के आरंभिक स्वरूप की समसामयिक सन्दर्भों में पुनार्व्याख्या करना आवश्यक और अधिक प्रासंगिक हो जाता है । हिंदी का समसामयिक साहित्य आज समाज के हर उस दमित वर्ग की आवाज बन रहा है, जिसको लम्बे समय तक साहित्य के केंद्र से बाहर रखा गया है, जिनमें दलित और स्त्रियाँ दो सबसे महत्वपूर्ण वर्ग रहे हैं। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारणों के चलते लम्बे समय तक साहित्य पर वर्ग विशेष का ही वर्चस्व रहा है । आधुनिकता के परिणामस्वरूप साहित्य में हाशिये के वर्गों की भागीदारी बढ़ने लगी । दलित और स्त्री इन दोनों वर्गों को केन्द्र के साहित्य से अलग और उपेक्षित रखा गया। ऐसा नहीं है की विमर्श प्रधान साहित्य से पहले तथाकथित 'दलित' या 'स्त्री' विषय पर कुछ लिखा नहीं गया हो, लेकिन यह लेखन उनके बारे में रहा, उनके द्वारा नहीं । इन सन्दर्भों में साहित्य के आरम्भिक दौर के साहित्य की समसामयिक पुनर्व्याख्या अधिक आवश्यक हो जाती है।

भारत की सामाजिक संरचना वर्णव्यवस्था पर आधारित रही है । वेदों और स्मृतियों द्वारा स्थापित वर्णव्यवस्था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चार वर्गों में विभाजित है। बहुसंख्यक होने के बावजूद शूद्रों पर ऊपर की तीनों जातियों का वर्चस्व था, वे सेवक बने रहने को विवश कर दिए गये थे। वेदों और धर्मशास्त्रों का आदेश था कि यदि शूद्र वैदिक मन्त्र सुन ले तो उसके कानों में पिघला शीशा डलवा दिया जाये। वेद या मंत्रोच्चारण करने पर जीभ काट लेने का भी प्रावधान था। वेद, पुराण, उपनिषद, महाभारत, गीता, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति जैसे बड़े बड़े ग्रंथों में शूद्रों के प्रति वर्जनाएं अंकित हैं। कालांतर में तमाम सामाजिक आन्दोलनों और शिक्षा के प्रसार ने सदियों से शोषित वर्ग में स्वचेतना का विकास किया । समय-समय पर सामाजिक विषमता पर आधारित इस अमानवीय और क्रूर व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिरोध होते रहे। महात्मा बुद्ध ने बाकायदा शूद्र जातियों को अपने संघ में सम्मिलित करके वर्ण व्यवस्था को सिरे से ख़ारिज कर दिया । गौतम बुद्ध (ईसा पूर्व 563-483) ने भारतीय समाज व्यवस्था में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था और

अस्पृश्यता को चुनौती दी, जो पूरे बौद्ध काल में विद्यमान रही है। दलित चिन्तक डॉ. तुलसीराम महात्मा बुद्ध को दलित चिंतन का प्रेरणापुरुष मानते हैं। उनके अनुसार – "रही बात दलित साहित्य के दार्शनिक और वैचारिक आधार की तो मैं इसका स्त्रोत गौतम बुद्ध को मानता हूँ। बुद्ध पहले व्यक्ति थे जिन्होंने ढाई हजार वर्ष पूर्व वर्ण व्यवस्था पर जबरदस्त प्रहार किया। श्रावस्ती प्रवास के दौरान सुनित नामक शोषित भंगी को अपने संघ में शामिल करके गौतम बुद्ध ने दलितोद्धार का ऐतिहासिक कदम उठाया"।[51] बौद्ध धर्म की ये विशेषताएं आदिकालीन भक्ति साहित्य अर्थात सिद्धों और नाथों में मुखरता से अभिव्यक्त होती हैं। सिद्धों और नाथों के पास भले ही सामाजिक परिवर्तन का कोई विकल्प मौजूद नहीं था, लेकिन उन्होंने प्रतिरोध की संस्कृति को सक्रिय बनाये रखा। "ब्राह्मण धर्म अपने को जिस ऊँचाई पर प्रतिष्ठित किये हुए था, सिद्धों ने अपने सिद्धि-बल से उसका मूर्ति भंजन किया। ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध वे तनकर खड़े हो गए कि हम तुमसे घटकर नहीं हैं - चमत्कार में कुछ बीस ही पड़ेंगे। ...इन सिद्धों में सभी जाति के लोग थे। ब्राह्मण भी थे, क्षत्रिय भी थे, वैश्य भी थे और शूद्र भी। सिद्धों की बिरादरी में दाखिल होकर जाति-भेद स्वयमेव नष्ट हो जाता था। संख्या में शूद्र अधिक थे। कोई कारीगर था तो कोई खेतिहर-मछुआरा, कोई तेल निकलता था तो को भाड़ें गढ़ता था। इस समय की सामंती व्यवस्था में खेती का कम शूद्रों के हाथ में आ गया था। भूमि से जुड़ कर पहले की हीन भावना कम हुई। उच्च जातियों के विरोध में खड़े होने में उन्हें बल मिला। सिद्धों ने अपने लिए जो नाम चुने हैं वे द्विज जातियों को मुँह चिढाते हैं। शबरीपा, चमरिपा, कुक्कुरिपा, डोंबिपा आदि ऐसे ही नाम हैं"।[52]

आठवीं-नवीं शताब्दी में सिद्ध अस्तित्व में आये। एक ओर उन्होंने वर्ण व्यवस्था की वर्जनाओं को तोड़ा तो दूसरी और काव्य के लिए प्रचलित जन भाषा को अपनाया। सिद्धों में अधिकतर, समाज में नीची कही जाने वाली जातियों (चमार, डोम, धोबी, कहार, लुहार, लकडहारा, चिड़ीमार, तन्तुका, मछुआरा आदि) से थे। सिद्धों की क्रांति वैदिक व्यवस्था के विरुद्ध एक जन क्रांति थी, जिन्होंने वर्ण, जातिभेद और बह्याडम्बरों की सुदृढ़ दीवारों को ध्वस्त किया। सिद्ध साहित्य का उद्भव शास्त्रीय अलौकिकता के विरुद्ध व्यावहारिक लौकिकता के रूप में हुआ है। लोक सामान्य के बीच उन्हीं की भाषा में एक ऐसे मत का विकास हुआ जो यह मानता था कि ईश्वर बाह्य जगत की वस्तु न होकर अंतर जगत का हिस्सा है, जिसको सहज साधना से भी प्राप्त किया जा सकता है। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में जहाँ धार्मिक स्थलों पर प्रवेश पाना भी सबके लिए सुलभ नहीं था, ऐसे में मंदिरों और मठों से अलग भी ईश्वर की सत्ता है, यह विकल्प अपने आप में ही एक क्रांतिकारी मत है, इसी कारण इस मत को व्यापक जन समर्थन भी प्राप्त हुआ। सरहपा के साहित्य में ज्ञान तत्व के साथ व्यवहार तत्व का भी पूर्ण ताल मेल है। सिद्धों के आदिगुरू सरहपा ने

साहित्य रचकर ब्राह्मणों का खुला विरोध किया। ब्राह्मणों के षडदर्शनों की आलोचना में सरहपाद पंडितों-पुरोहितों द्वारा शास्त्रों की शाब्दिक व्याख्या तथा ऊपरी आचार को व्यंग्य का विषय बनाते हैं –

ब्रह्मणेहि म जानत हि भोउ।
एवहि पढ़ीअउ ए चउ वेड।
मिच्छेंहि जग, बहिउ भुल्ले ।।[53]

सरहपा जन्म से ब्राह्मण थे, किन्तु उन्होंने एक दलित कन्या से विवाह करके जाति बंधन को नकारते हुए ब्राह्मण व्यवस्था को चुनौती दी। डॉ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के अनुसार 'सरह की कविता, वर्जना विरोधी कविता है, ब्राह्मण व्यवस्था विरोधी भी'। "पाणी और कुश लेकर संकल्प करने-कराने वाले, रात-दिन अग्निहोत्र में निमग्नोन्मग्न रहने वाले, घडी-घंट बजाकर आरती उतारने वाले, मूड-मुड़ाकर सन्यासी बनने वाले, नग्न रहने वाले, केशों को लुंचित करने वाले, झूठे साधकों की लानत-मलामत करने में वे (सरह) समूचे बौद्ध साधकों में अद्वितीय थे"।[54] सरह के अनुसार –

ब्राह्मणहिं न जानन्ता भेद। यों ही पढ़ेउ ये चारों वेद।
माटि पानि कुश लिए पढंत। घरही बइठी अग्नि होमंत।।
मिथ्यहि जग बाहेऊ भूले। धर्म-अधर्म न जानेउ तुल्ये।।
आचरियेहिं लपेटी छारा। सीसहिं ढोअत जट भारा।।[55]

सिद्ध पुरानी रूढ़ियों और पाखंड के बहुत विरोधी थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं कि "यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि 84 सिद्धों में बहुत-से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दरजी तथा बहुत से शूद्र कहे जाने बाले लोग थे। अतः जाति-पाँति के खंडन तो वे आप ही थे"।[56] उन्होंने पंडितों की थोथी ज्ञानवाहक पोथियों, धार्मिक कर्मकांड, यज्ञ-हवन आदि का प्रबल विरोध किया। सरहपाद के अनुसार –

बम्हणेहि म जाणन्त हि भेउ। एवंइ पढ़ीअउए चउवेउ।
मट्टी पाणि कुस लइ पढन्त। घरहीं अग्गि हुणन्त।।[57]

सिद्ध साधकों ने सामाजिक विद्रोह के साथ-साथ धार्मिक संप्रदायों और धार्मिक विचारों का भी खंडन किया है। सिद्ध साधकों ने अपने समय के कितने ही मूढ़ विश्वासों का खंडन अपनी सहज वाणी के द्वारा किया है। तंत्र-मन्त्र का खंडन करते हुए वे कहते हैं –"'मंतण तंतण धंअण धारण। सब्बवि रे बढ़ बिव भम कारण'। इन चौरासी सिद्धों की नामावली देखने से ज्ञात होता है कि इनमें प्रायः सभी वर्ण के साधक थे। ... इससे ज्ञात होता है कि इन साधकों में न तो वर्ण-भेद था और न

वर्ग-भेद । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के साथ ही साथ समाज के विविध व्यवसायों में संलग्न व्यक्ति भी थे ।इनमें राजा, राजकुमारी, गृहपति कन्या और गृहदासी भी सम्मिलित थे । इस प्रकार समाज के विविध स्तरों से आए हुए साधकों ने यह सिद्ध कर दिया कि धर्म की भावना जनता की क्रोड़ में पोषित हुई और उसके प्रचार में राज्यवर्ग के साथ जनता का भी सक्रिय सहयोग रहा"।[58] हिन्दू धर्म शास्त्रों की तुलना सिद्धों ने 'मरुत्थलेहिं' अर्थात मरुस्थल से की है जिसमें पड़कर मानव जीवन भर भटकता रहता है और बाहर नहीं निकल पाता है । सिद्धों ने सामाजिक कुरीतियों के प्रति अपना विरोध विद्रोह के माध्यम से प्रकट किया है । इसीलिए उनके दोहों में क्रांति और नकार की स्पष्ट भावना दिखाई देती है । सिद्धों ने शास्त्र के समानांतर लोक का पक्ष लिया इसीलिए उनकी भाषा भी साहित्यिक अपभ्रंश से अलग लोक भाषा है । आदिम सिद्ध सरह ने अपने सुखी जीवन की परवाह न करते हुए लोक जागरण का महत्वपूर्ण कार्य किया। सरह किसी वक्त नालंदा के बड़े प्रतिष्ठित पंडित थे । मगर जब उन्हें वहां का जीवन दमघोंटू लगने लगा, तो उन्होंने उस वैभव को त्याग कर लोक जीवन को अपनाया । सरहपा और मत्स्येन्द्रनाथ जिस कालखंड में हुए थे उसमें सामाजिक रूढ़ियाँ अपने चरम पर थीं । जो बौद्ध धर्म कभी वैदिक कर्मकांडों के विरोध में था वह स्वयं आडम्बरों का शिकार हो गया । बुद्ध जिस शात्रीय ईश्वर के विरुद्ध खड़े हुए थे, उनके अनुयाइयों ने उन्हें उसी ईश्वर के समकक्ष खड़ा कर दिया । परिणामस्वरूप कालांतर में आकर बौद्ध धर्म तमाम तरह की रूढियों से ग्रसित होकर अपने लक्ष्य से भटक गया । उनके इस भटकाव ने बौद्ध धर्म को दो भागों में विभाजित कर दिया।

वज्रयानियों की कठोर और भयावह साधना और महायान की वासनात्मक पूजा-विधियों को धता बताकर जो समुदाय अलग होकर, नीति, समाज सुधार के लक्ष्यों के साथ आध्यात्मिक भ्रमवाद का उन्मूलन करने के उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ा था, उसे नाथ संप्रदाय कहा जाता है । "नाथपंथ में जाति का कोई बंधन नहीं था, अतः निम्न जाति के लोगों ने इस संप्रदाय को ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक आश्रय दिया । क्योंकि यह पंथ एकेश्वरवाद की धरती पर खड़ा था, इसलिए मुसलमानों के लिए भी आकर्षक रहा । इस पंथ को अपनाने वाले हिन्दू-मुसलमान दोनों थे । भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों में संभावना और समान भक्ति मार्ग आदिकाल में नाथपंथ की ही देन है, जो आगे बढ़कर निर्गुण भक्तिधारा का रूप लेती है" ।[59] नाथ संप्रदाय जब फैला, तब उसमें भी जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के बहुत-से लोग आए जो शास्त्रज्ञान सम्पन्न न थे । पर वे अपने को रहस्यदर्शी प्रदर्शित करने के लिए शास्त्रज्ञ पंडितों और विद्वानों को फटकारना जरूरी समझते थे । सिद्धों के समाननाथों ने भी सामाजिक विषमताओं पर प्रहार किये । उत्तर कालीन कवि कबीर पर नाथों के सामाजिक चिंतन का सर्वाधिक प्रभाव है । नाथों की सामाजिकता को रेखांकित करे हुए बच्चन सिंह कहते हैं कि - "जाति-पाँति का भेद भी एक तरह का वर्ग भेद ही है । उच्च वर्ण के लोग निम्न वर्ण के

लोगों का भाँति-भाँति से शोषण करते थे। वर्णाश्रम से अंतरण करना, अपने आप को अतिवर्णाश्रमी कहना, एक प्रकार का वर्गांतरण ही है। गोरखनाथ स्वयं ब्राह्मण थे। इसको अतिक्रमित कर वे अतिवर्णाश्रमी हो गए थे। नाथपंथियों के यहाँ ब्रह्म की प्राप्ति के लिए विनिर्मुक्त होना आवश्यक है। पक्षपात का मतलब है देहाभिमान। देहाभिमान द्विजजातियों के पल्ले पड़ा था। योगी इससे मुक्त था क्योंकि उसने अपने को स्वतः घोषित कर रखा था कि वह 'अतिवर्णाश्रमी' यानि देहाभिमान मुक्त है"।[60] सिद्धों की तरह नाथ भी पिंड में ब्रह्माण्ड मानते हैं, इसीलिए वे बाहर ईश्वर की खोज को व्यर्थ बताते हैं। उन्होंने मूर्तिपूजा, विशिष्ट वस्त्र धारण करने, मुंडन आदि का घोर विरोध किया है। नाथों के गुरु गोरखनाथ सर्वसमाज के पथप्रदर्शक थे। वे शासक और शासित, संपन्न और विपन्न सबके गुरु थे। नेपाल, तिब्बत, म्यांमार, भूटान के साथ साथ पश्चिमोत्तर में हिन्दुकुश की पहाड़ियों से लेकर पूर्व में समुद्र तक समस्त भूभाग पर गोरखनाथ के योगदर्शन का डंका बजा। इस योगदर्शन ने समकालीन भक्तिमार्गी संतों की धारा मोड़ दी। तुलसीदास ने इस बात को स्वीकार करते हुए कहा है कि 'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग'। कबीरदास, सुंदरदास, मलूकदास, निरंजनी संप्रदाय के संतों ने गोरखनाथ के प्रति समय-समय पर श्रद्धा प्रकट की है। गोरखनाथ ने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के आडम्बरों पर प्रहार किया। उनके अनुसार उपासक 'कुरान' और वेदों में भटकता रहता है, किन्तु असल ज्ञान पोथियों में नहीं है उसके लिए साधना आवश्यक है।

काजी मुलां कुराण लगाया, ब्रह्म लगाया वेदं।
कापड़ी सन्यासी तीरथ भ्रमाया न पाया नष्बांण पद का भेवं।[61]

हिन्दू मुस्लिम एकता या सभी वर्गों में समानता का उपदेश नाथो की पूरी योग परंपरा का सार है। यह योग-परंपरा सगुण-निर्गुण सभी प्रकार की उपासना पद्धतियों का समवेत स्वर है, जो सूफी परंपरा में प्रतिबिंबित होता है। नाथपंथ ने योग, अध्यात्म और साधना के बल पर भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध किया। सामाजिक जागरण की जो अलख कबीर जैसे संतों में दिखती है उसका प्रस्तोता नाथ पंथ ही है।

बहरहाल, किसी भी साहित्य के सामाजिक पक्ष को परखना हो तो यह देखना आवश्यक होता है की वह अपने समय में प्रचलित मान्यताओं के प्रति कैसी राय रखता है। यदि वह अपने विचारों में प्रचलित मान्यताओं के प्रति विद्रोह की भावना रखता है तो वह परिवर्तन कामी है। सिद्धों नाथों ने सामाजिक आडम्बरों का विरोध कई बार व्यंग्य के रूप में किया और कई बार सीधे-सीधे उनपर वार किया। सिद्धों नाथों द्वारा प्रयुक्त सहज साधना, परमपद, देह ही तीर्थ, महासुख आदि पद ऐसे हैं जिन्होंने शोषित दलित जनता को अपनी ओर आकर्षित किया। ये पद उस आम जनता के लिए विकल्प स्वरूप थे जिनको ब्राह्मणवादी व्यवस्था में घुटन महसूस हो रही थी। सिद्धों नाथों ने शास्त्रीय धर्म की विशेषता के विरुद्ध अपनी सहजता का प्रसार किया। समाज के जिस वर्ग

को निकृष्ट मानकर उन्हें तिरस्कृत किया गया था, वे उस वर्ग में आत्मसम्मान का संचार करते हैं। सिद्धों के सहज मार्ग में न कोई कर्मकांड हैं न ही व्रत उपवास और कठिन साधनाएं। यहाँ केवल समाधिस्थ होकर अपने उस शरीर की आराधना करनी है जहाँ समस्त देवताओं का निवास है। जिस सिद्ध-नाथ साहित्य को 'सांप्रदायिक' कहकर ख़ारिज कर दिया गया था, उस साहित्य ने अपने समय में कितना परिवर्तनकारी काम किया है इसका विस्तृत रूप हम मध्यकाल के संत सहित्य में बखूबी देख सकते हैं।

बौद्ध धर्म के उदय ने सामाजिक विषमता की श्रृंखला पर कड़ा प्रहार किया। यह धर्म उन सभी जातियों के लिए खुला था, जिनके लिए ईश्वर सहज प्राप्त नहीं थे। बौद्ध धर्म से पहले जाति व्यवस्था ही सामाजिक गतिविधियों की नियंता थी। जाति व्यवस्था के समर्थकों ने इसे वेद समर्थित बताया और वेद ईश्वर द्वारा रचित हैं, इसीलिए जाति भी ईश्वर द्वारा ही निर्मित है। इसका विरोध सीधे ईश्वर का विरोध है। बौद्ध धर्म ने वर्णाश्रम व्यवस्था के इस तर्क पर आघात किया। उनके अनुसार कोई बात इसलिए नहीं मान लेनी चाहिए कि वह किसी धर्म ग्रंथ में लिखी है। बुद्ध के उपदेशों ने लोक समाज को जाति की हीन भावना से मुक्ति दिलाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इस धर्म के अनुयायी स्वयं ही उन जातियों के प्रतिनिधि थे जिनको सदियों से दमित करके रखा गया था, इसीकारण इस धर्म ने समाज की तथाकथित नीची समझी जाने वाली जातियों को ही सर्वाधिक आकर्षित किया। ईश्वर की आराधना अब सबके लिए सहज प्राप्त थी। सिद्ध-नाथ साहित्य को यदि आधुनिक दलित विमर्श की आरंभिक सामग्री के रूप में ग्रहण किया जाये तो यह गलत नहीं होगा। यह तर्क सही है की सिद्ध नाथ साहित्य अंततः धर्म की परिधि के अन्दर ही सामाजिक विषमता पर चोट करता है, लेकिन उनका धर्म शास्त्र सम्मत न होकर लोक सम्मत है। यह वही लोक है जिसकी पैरोकारी समसामयिक दलित विमर्श में लगातार हो रही है। यदि कबीर दलित साहित्य के आदिम पुरोधा हैं तो कबीर को आधार सामग्री प्रदान करने वाला सिद्ध-नाथ साहित्य भी निश्चित रूप से दलित चेतना का पैरोकार कहलायेगा। इस अर्थ में आदिकालीन भक्ति साहित्य का पुनर्मूल्यांकन अधिक प्रासंगिक हो जाता है।

साहित्य जगत में स्त्री सदैव ही केंद्र में रही है, यह अलग बात है की उस केंद्र के भीतर उसकी स्थिति क्या और कैसी है ? भारत में महिलाओं की स्थिति ने पिछले कुछ सदियों में कई बड़े बादलावों का सामना किया है। मध्यकाल के निम्न स्तरीय जीवन से लेकर आधुनिक काल में पुरुषों के साथ बराबरी तक महिलाओं का इतिहास काफी गतिशील रहा है। वैदिक काल की स्त्रियाँ सुदृढ़ और सम्मानित थी। वे शिक्षा की अधिकारी थीं और संपत्ति में भी उनको बराबर के अधिकार प्राप्त थे। किन्तु ऐसी स्थिति के बावजूद ऋग्वेद में स्त्रियों को भेड़ियों के हृदय वाली कहा गया है, उनके अनुसार स्त्रियाँ दास की सेना के अस्त्र-शस्त्र होती हैं। फिर भी सामाजिक आधार पर स्त्रियाँ आदर

और सम्मान का पात्र थीं। सांस्थानिक रूप से स्त्रियों की अवनति उत्तर वैदिक काल से शुरू हुई। स्त्रियों को तमाम तरह की जकडबंदियों में रखा जाने लगा। आदिकाल तक आते-आते नारी पुरुष की संपत्ति बनकर रह गयी। आदिकालीन काव्य से स्पष्ट होता है कि भले ही आदिकाल में नारी को स्वयं वर चुनने का अधिकार हो, किन्तु पुरुष से अलग स्त्री की कोई सत्ता नहीं थी। वह पूर्णतः पुरुष पर आश्रित थी।

आदिकाल में एक ओर स्त्री नाथों की निंदा का पात्र बनी तो सिद्धों ने उसे वासनात्मक दृष्टि से देखा है। सिद्धों ने अपने काव्य में तो गृहस्थ जीवन की महिमा का बखान किया है, लेकिन स्त्री उनके लिए भोग विलास की ही वस्तु है। इस युग में स्त्री के पास कोई विशेष अधिकार नहीं रह गए थे। स्त्रियों के प्रति सिद्धों के वासनात्मक दृष्टिकोण को रेखांकित करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं कि – "सिद्ध कण्हपा कहते हैं कि 'जब तक अपनी गृहिणी का उपभोग न करेगा तब तक पंचवर्ण की स्त्रियों के साथ बिहार क्या करेगा?' बज्रयान में महासुह (महासुख) वह दशा बतलायी गयी है जिसमें साधक शून्य में इस प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार नमक पानी में। इस दशा का प्रतीक खड़ा करने के लिए 'युगनद्ध' (स्त्री-पुरुष का आलिंगनबद्ध जोड़ा) की भावना की गयी। कण्हपा का यह वचन कि 'जिमि लोण बिलिज्जई पाणि एहि तिमि घरणी लइ चित्त' इसी सिद्धान्त का घोतक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कौल कापालिक आदि इन्हीं वज्रयानियों से निकले। कैसा ही शुद्ध और सात्विक धर्म हो, 'गुह्य' और 'रहस्य' के प्रवेश से वह किस प्रकार विकृत और पाखंडपूर्ण हो जाता है, वज्रयान इसका प्रमाण है"।[62] इस युग में समाज में स्त्रियों संबंधी तमाम कुप्रथाएं प्रचलित थीं, जिनमें जौहर प्रथा, बहु-पत्नी प्रथा और वेश्यावृत्ति आदि प्रमुख थीं। आदिकालीन साहित्य में स्त्री संबंधी कोई व्यापक दृष्टिकोण नहीं था, इसलिये उनके काव्य में सहज नारी का वर्णन बहुत कम दिखाई देता है। स्त्री या तो किसी राजदरबार के नायक की नायिका, प्रेयसी या पत्नी है या फिर योगियों की निंदा का पात्र। नाथ पंथी योगी स्त्री को ईश्वर की प्राप्ति में बाधक मानते हैं, इसीलिए वे स्त्री को कुलटा, कामिनी, एवं बाघिन कहकर उसकी भर्त्सना करते हैं। गोरखनाथ के अनुसार –

दिवसै बाघिण मन मोहै राति सरोवर सोषै।
जाति बूझि ले मुरिष लायो घरि घरि बाघिण पोषै ।।[63]

रासो ग्रंथों में नारी राजाओं के आकर्षण की वस्तु है, उनका काम राजा का मनोरंजन करना है। पृथ्वीराज रासो में बहु पत्नी प्रथा तथा राजकुमारी का हरण करके उससे जबरन विवाह करने की कथाएं मौजूद हैं। पृथ्वीराज रासो की नायिकाएं राजा की प्रेयसी भी हैं। रानी संयोगिता अपनी मर्जी से अपने पति का चुनाव करती हैं, और राजा उसको भरे स्वयंवर से लेकर जाते हैं। पृथ्वीराज

की दूसरी नायिका इंछिनी से उनका गंधर्व विवाह होता है, जो की मानिनी नायिका है। तीसरी रानी चन्द्रिका को स्वावलंबी दिखाया गया है, वह राजा के मरने के बाद सती नहीं होती है और स्त्रियों को शिक्षित करने का कार्य करती है। किन्तु इन सभी विशेषाधिकारों के बावजूद सामंती स्त्रियों की परतंत्रता बनी हुई थी। उनकी डोर सामंतों के हाथ में ही थी। इस बात को बीसलदेव रासो की नायिका राजमती के शब्दों में आसानी से समझा जा सकता है। ऐसे तो राजमती एक मानिनी राजकुमारी है, जिसके उलाहनों को सुनकर उसका पति रूठ कर परदेस चला जाता है। इस घटना के बाद राजमती की स्त्री संबंधी परतंत्रता का वास्तविक चित्रण होता है। वह शिव भगवान को अपना दुःख सुनाते हुए कहती है कि आप मुझे स्त्री की अपेक्षा यदि कोई जंगली जंतु, गाय, वनखंडी या काली कोयल भी बना देते तो मैं स्वतंत्रता पूर्वक चंपा की दाल पर बैठती और अंगूर खाती। इस राजमहल में मैं कितनी परतंत्र हूँ। यदि आपने स्त्री बनाया ही था तो कम से कम कुलीन स्त्री न बनाया होता। मैं अगर जटनी होती तो अपने पति के संग-संग खेती करती उससे हंस-हंस कर बात करती। प्रिय के साथ काम करने में ही कितना सुख मिलता।

आँजणी काइं न सिर जीय करतार
सेत कमावती स्यऊँ भरतार
पहिरण आछी लोवणी
तुंग तुरीय जिम भीड़ती गाय
साईय लेती सामुही
हँसि हाँसि बुझती प्रिय की बात।[64]

राजमती की यह स्वीकारोक्ति सामंत युगीन उन सभी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है जो कुलीन समाज के बनाए गए खोखले नियमों की भेंट चढ़ती या चढ़ाई जाती रही हैं। भारत देश में बहुत लम्बे समय तक स्त्रियों को जाति और कुल के नाम पर घरों में कैद करके रखा जाता रहा है, कमोबेश यह स्थिति आज भी समाज में जस की तस मौजूद है।

रासो काव्य परंपरा में होने वाले अधिकतम युद्धों की वजह स्त्री ही है। किसी देश की राजकुमारी पसंद आ जाने पर ये नायक उस देश पर आक्रमण करके उस राजकुमारी को जीत कर लाने के लिए निकल पड़ते थे। आदिकाल में सामंत राजाओं के जीवन की सार्थकता तीन बातोंपर निर्भर करती थी, युद्ध, तीव्रतम घोड़े की सवारी और किसी कमनीय नायिका का गाढ़ालिंगन। कहने की आवश्यकता नहीं है कि उस काल में स्त्री और विलास की किसी अन्य वस्तु में ज्यादा फर्क नहीं था। जिस योद्धा के सर पर खडग का वार न हुआ हो, जिसने तीव्रतम घोड़े की सवारी न की हो, और सुंदर स्त्री के गले न हो उसका जीवन व्यर्थ ही है। उदाहरणार्थ –

ऐउ जम्मु नग्गुहूँ गिउ भड़सिरी खग्गु न भग्गु।

तिक्खां तुरियँ न माणीयाँ गोरी गलि न लग्गु ।।[65]

सिद्ध हेम शब्दानुशासन में व्याकरण संबंधी दोहों के साथ-साथ जैनियों के नैतिक उपदेश भी हैं और रीतिकालीन नायिकाओं के सौन्दर्य को मात देते श्रृंगार के पद भी। यहाँ वीरों की दर्पोक्तियाँ हैं, और प्रेम की सहज अनुभूतियाँ भी हैं। स्त्री सौन्दर्य संबंधी कुछ उपमान इतने टटके और नए हैं, कि ग्राम जीवन के सहज चित्र उभर कर सामने आ जाते हैं। यहाँ नायिका राजमहलों की रानी नहीं है, वह लोक समाज में रहने वाली आम स्त्री है, जिसके सर पर फटा पुराना आंचल है, उसके गले में हीरे-मोती की माला न होकर दस-बीस गुरियों की भी माला भी नहीं है । फिर भी इस मुग्धा नायिका को देखकर सभा के रसिकों में उठक बैठक मच गयी है। सभी नायिका के सहज सौन्दर्य पर मंत्रमुग्ध से हो गए हैं। आदिकालीन इस सहज सौन्दर्य को देखकर सहज ही प्रगतिवादी आंदोलन की नायिकाओं की याद आ जाती है। उदाहरणार्थ –

सिरी जरखंडी लोअडी, गलि मणियडा न बीस ।

तो वि गोट्ठडा करावािआ मुद्धहे उट्ठ बईस ।।[66]

लोक काव्य परंपरा में फागु काव्यों की काव्य परंपरा भी रही है, लेकिन इसमें अधिकतर वसंत काल की मादकता का ही चित्रण हुआ है । बाद में जैन कवियों ने अपने काव्य नायकों का समावेश कराकर इन काव्यों में संयम और दृढ़ता का संचार किया है। डॉ गणपति चन्द्र गुप्त ने फागु-काव्यों का विश्लेषण करते हुए लिखा है - "फागु का सम्बन्ध वसंतोत्सव से होने के कारण उनमें नायिका के रूप सौन्दर्य, यौवन एवं प्रेमोन्माद के चित्रण को प्रमुखता मिली है। फिर जैन कवियों ने ऐसे मादक वातावरण में अपने चरितनायक को रखकर उनके संयमशील और दृढ़ता का प्रतिपादन करते हुए अपनी रचनाओं की परिणति शांत रस में की है । फिर भी अपरोक्ष रूप में काव्य रचयिताओं को नारी सौन्दर्य, यौवन एवं उसके हाव-भाव की व्यंजना के लिए पर्याप्त अवसर मिल गया है" ।[67]

'पउम चरिउ' अपभ्रंश और हिंदी के मध्य की रचना है। इसमें रामकथा का सविस्तार वर्णन हुआ है, लेकिन यह रचना सीता के माध्यम से स्त्री जीवन की सच्ची कहानी है । अपने चरित्र की शुद्धता को प्रमाणित करने के लिए सीता द्वारा दी गयी अग्नि परीक्षा हर उस स्त्री की परीक्षा जैसी है, जिसको समाज में लगातार अपनी चरित्र शुद्धि प्रमाणित करनी पड़ती है। स्वयंभू ने पउम चरिउ में सीता की अग्नि परीक्षा का स्थान बदलकर स्त्री की विवशता और उसकी स्थिति की मार्मिकता को और अधिक गहरा कर दिया है। चरित्र की शुद्धि की यह परीक्षा लंका में न होकर अयोध्या वासियों के सामने ही होती है । अपने घर में स्व जनों के बीच अपनी नैतिकता को साबित करने का दर्द निश्चय ही सीता को असहनीय रहा होगा । "राम सीता से जिस तरह से बातें करते हैं उससे राम की

ही नहीं, पुरुष मात्र की मर्यादा गिरती है – 'स्त्रियाँ अशुद्ध होती हैं, निर्लज्ज होती हैं। पर-पुरुष द्वारा धृष्टा होकर वे हीन हो जाती हैं, अपयश फैलाती हैं। भला ऐसी स्त्री का मुख उसका पति कैसे देख सकता है' ? स्त्री का इससे बड़ा अपमान और क्या होगा? सीता का संयम देखने ही लायक है। वे अग्नि में प्रवेश करती हैं और कहती हैं - 'ऐमहि तिह करोमि पुणु रहुवइ/जिह ण होमि पडीवारें तिय भइ' अर्थात अब ऐसा करना चाहिए कि स्त्री जाति में जन्म ही न हो" ।[68] वर्तमान समय में भी स्त्री जाति इस तरह की परीक्षाएं रोज देने के लिए विवश है।

आदिकालीन कवि विद्यापति के साहित्य में स्त्री के कई रूप देखने को मिलते हैं। उन्होंने पदावली में राधा कृष्ण को आलंबन बनाकर वयः संधि के प्रेम का बखान किया है, जिसमें राधा के मानसिक सौन्दर्य से ज्यादा उनकी शारीरिक सुंदरता का बखान किया गया है। उन्होंने वेश्या जीवन का चित्रण भी किया है। वेश्याओं के लिए बाजारों के आस पास निवास बने हुए थे। बेहद करीने से बने और सजे हुये ये घर स्थापत्य का बेजोड़ नमूना हैं। ये वेश्याएं दूर से बेहद अमीर और संपन्न लगती थीं। किन्तु इनकी सुंदरता और सजावट आंतरिक न होकर बाहरी ही है। वास्तव में समाज में इनको हेय दृष्टि से देखा-समझा जाता था । आदिकाल में वेश्याओं की स्थिति का अंदाजा कीर्तिलता में आये एक प्रसंग में हुआ है जहाँ विद्यापति ने इन वेश्याओं का परिचय 'अपवित्र' कह कर दिया है। उनके अनुसार इनका यौवन एक छलावा होता है और इनकी लज्जा भी बनावटी होती है। इन वेश्याओं के निकट जाने से, जहाँ गुणी जनों की मान हानि होती है, वहीं वेश्यागामी पुरुष इसमें अपना गौरव समझते हैं। ये वेश्याएँ चन्दन के लेप द्वारा अपने शरीर को महकाती हैं तथा साज-श्रृंगार करके स्वयं को सजाती हैं। ये वेश्याएँ अपनी माँग में सिंदूर की रेखा भी सजाती हैं किन्तु सिंदूर की यह रेखा उनके वेश्या जीवन को लगातार धिक्कारती रहती है। विद्यापति का मानना है कि सिंदूर जैसी पवित्र वस्तु को गृहस्थ जीवन का पालन करके ही प्राप्त किया जा सकता है। वेश्यावृत्ति जैसे पापाचार के साथ इसकी संगति नहीं बैठती है । इन वेश्याओं का निष्कलंक सौंदर्य तीनों लोकों को मोहित करने की कला में माहिर था। कुछ नवयुवक तो बस इनके आँचल की हवा पा जाने का भी बड़ी बेसब्री से इन्तजार करते थे। उदाहरणार्थ –

"लज्ज कित्तिम, कपट तारुन्न । धन निमित्ते धरु पेम, लोभे विनअ सौभागे कामना । बिनु स्वामी सिंदुर परा परिचय अपामान । तान्हि वेश्यान्हि करो मुख्सार मण्डन्ते अलक तिलका पत्रवली खण्डन्ते, दिव्याम्बर पिन्धन्ते, उभारि केशपास बन्धन्ते, सखि जन प्रेरन्ते, हँसि हेरन्ते । अति सूक्ष्म सिन्दूर रेखा निन्दन्ते पाप, जनु पञ्चशर करो पहिल प्रताप ।[69]

वास्तव में हमारे समाज का अंतर्द्वंद्व यही है कि, समाज खुद ही एक स्त्री को वेश्या बनाता है, खुद ही उसका उपभोग करता है और खुद ही उस स्त्री का बहिष्कार भी करता है। किसी स्त्री के

वेश्या बनने में कभी भी उस स्त्री का दोष नहीं होता है, लेकिन समाज की सारी प्रताड़ना उस स्त्री को ही भुगतनी पड़ती है। यहाँ तक कि वेश्या के पास आने वाला पुरुष भी इसमें अपना गौरव समझता है, लेकिन वह स्त्री हर दृष्टि से सामाजिक बहिष्कार झेलती है। 'कीर्तिलता' में विद्यापति द्वारा वर्णित वेश्याओं की स्थिति देखकर अंदाजा लगाया जा सकता है कि उस समय में वेश्याओं की स्थिति काफी अच्छी थी। राज-मार्ग पर बने उनके भव्य मकानों को देखकर कहा जा सकता है कि सभ्य समाज में उनकी इज्जत भले ही न हो, लेकिन इनका सामाजिक बहिष्कार भी नहीं था। किन्तु वर्तमान में वेश्याओं की बस्ती सभ्य समाज से दूर होती हैं, इनमें रहने वाली वेश्याएं गरीबी के साथ साथ सामाजिक प्रताड़ना भी झेलती हैं।

आदिकाल युद्धोन्माद के महिमामंडन का काल है। चारण कवियों ने समय-समय पर राजाओं द्वारा लड़ी गयी लड़ाइयों का सूक्ष्म वर्णन किया है, किन्तु किसी भी कवि ने इन युद्धों के भीषण परिणामों को देखने का प्रयास नहीं किया है। विद्यापति इस अर्थ में विशिष्ट हैं, कि उन्होंने सेना के स्वभाव का बड़ा ही सूक्ष्म वर्णन किया है। सेना का स्वयं कोई विवेक नहीं होता है। विवेकहीनता की स्थिति में सेना, सिर्फ राजा के आदेश का पालन करना ही जानती है। सेना में सही-गलत, नैतिक-अनैतिक के बीच फर्क करने की क्षमता लगभग समाप्त हो जाती है। इसीलिए सेना जिस भी राज्य से होकर गुजरती है या जिस भी राज्य में छावनी डालती है, वहां ध्वंस लीला आरम्भ हो जाती है। उसके लिए इंसान और जानवर में ज्यादा भेद नहीं रह जाता है। राज्यों के निवासी सेना के अत्याचार सहने को विवश होते हैं। जिसमें स्त्रियों की दशा तो और भी दर्दनाक होती है। युद्ध पीड़ित राज्यों के पुरुष तो सिर्फ मानसिक या आर्थिक अत्याचार ही झेलते हैं लेकिन वहां की स्त्रियाँ बलात्कार और क्रय-विक्रय का भयानक दर्द झेलती हैं। सैनिक युद्ध में लूटी गयी सम्पत्ति के साथ-साथ स्त्रियों को भी या तो उठा ले जाते थे, या उन्हें बाजारों में बेच दिया करते थे। विद्यापति के अनुसार –

अरु धागड़ कटकहिं लटक वड जे दिसि धाड़े जाथि।
तं दिसकेरी रायघर तरुणी हट्ठ विकाथि।।[70]

पराजित राज्यों में स्त्री और किसी जानवर की स्थिति में कोई ज्यादा फर्क नहीं होता है, 'वाँदि बड़दा सञोघ पाइअ'। बाजार में बाँदी और बैल दोनों ही मंहगे दामों पर मिलते थे।

आदिकाल में स्त्री का अधिकतम चित्रण पुरुष कवियों द्वारा और उनकी नजर से ही है। इस काल में स्त्री लेखिकाओं की संख्या बहुत नहीं मिलती, क्योंकि समाज में उनको शिक्षा का अधिकार नहीं था। सिद्ध साहित्य में लक्ष्मीकरा और मणिभद्रा नामक स्त्रियों के नाम मिलते हैं, किन्तु इनकी कोई रचनाएँ या पद नहीं मिलते हैं। मराठी साहित्य में मुक्ताबाई नाम की एक स्त्री लेखिका का उल्लेख मिलता है वे "मराठी भाषा की आदि स्त्री कवि हैं, यही उनका महत्व साबित करने के लिए

पर्याप्त है। सन 1288 ई. के आस-पास इन्होंने मराठी के साथ-साथ हिंदी में भी लिखना आरम्भ किया। आदिकालीन कवयित्रियों में मुक्ताबाई का विशेष स्थान था। तद्युगीन कवि प्रायः पुरुष ही थे"।[71] आदिकाल में इन स्त्री लेखिकाओं के नामोल्लेख से अधिक ज्यादा कुछ प्राप्त नहीं होता है। आदिकाल साहित्य जगत पर पुरुषों के वर्चस्व का युग था, उस समय एक तो स्त्री को साहित्य लिखने या पढने की स्वतंत्रता ही नहीं थी दूसरे उनके लेखन को सहेजने की किसी को गरज भी नहीं थी। यह बहुत कुछ वैसा ही था जैसे आरंभिक स्त्री लेखन को साहित्य की मुख्य धारा द्वारा लगातार नाकारा जाना। स्त्रियों ने अपने अस्तित्व की एक लम्बी लडाई लड़ी है। साहित्य के आदिकाल की पुनर्व्याख्या इसलिए भी एक आवश्यक सोपान है ताकि यह सनद रहे कि स्त्रियों की स्वायत्तता और उनकी संघर्ष गाथा कितनी जटिल है।

साहित्य के सम्बन्ध में प्रासंगिकता का सवाल बार-बार उठाया जाता है, यह इस तरह का सवाल है जैसे जो प्रासंगिक होगा वही श्रेष्ठ होगा। यानि कि प्रासंगिकता ही वह कसौटी है जिसके आधार पर किसी कालखंड, रचनाकार या रचना को कमतर या महत्वपूर्ण साबित किया जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में आदिकाल की प्रासंगिकता पर बात करना एक महत्वपूर्ण विषय है। वर्तमान साहित्य आधुनिकता केन्द्रित साहित्य है, साहित्य में तमाम तरह के अस्मितामूलक विमर्श सक्रीय हैं, ऐसे समय में हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य के आरंभिक स्वरूप की चर्चा करना एक 'आउटडेटेड' विषय है। आदिकाल का नाम लेना भी कई बार पिछड़ेपन का परिचायक माना जाता है। किन्तु साहित्य का आगामी स्वरूप कैसा होगा इसका निर्धारण आरंभिक युगों से ही होता रहा है। ऐसा नहीं है कि साहित्य का कोई कालखंड अचानक ही उत्पन्न हो गया हो, उसकी प्रवृत्तियों के बीज सदैव ही पूर्ववर्ती कालों में मौजूद रहे हैं। इतना अवश्य है कि भावी साहित्य परंपरा में प्राप्त साहित्य में संशोधन और संवर्द्धन अवश्य करता चलता है। आदिकालीन साहित्य ने परवर्ती हिंदी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस काल की लगभग सभी प्रवृत्तियों का विकास भविष्य के साहित्य में हुआ है। यह अवश्य है कि समय के साथ इन प्रवृत्तियों के स्वरूप में बदलाव आते रहे हैं लेकिन उनकी मूल संवेदना का निर्माण आदिकाल के गर्भ में ही हुआ है। भविष्य के साहित्य को एक सबल परंपरा प्रदान करने के संदर्भ में आदिकाल की प्रासंगिकता मजबूत और बेजोड़ है।

संदर्भ

1. सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं. – 245
2. सिंह, सुधीर प्रताप, सं., 'आदिकालीन और भक्तिकालीन काव्य', पृ. सं. – 18
3. वही, पृ. सं. – 18
4. वर्मा, धीरेन्द्र, सं., 'हिंदी साहित्य', द्वितीय खंड, पृ. सं. - 189
5. सहगल डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 191
6. वर्मा, धीरेन्द्र, सं., 'हिंदी साहित्य', द्वितीय खंड, पृ. सं. - 204
7. सिंह, सुधीर प्रताप, सं., 'आदिकालीन और भक्तिकालीन काव्य', पृ. सं. – 19
8. टंडन, प्रो. पूरनचंद, सं., 'प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य', पृ सं. - 45
9. टंडन, प्रो. पूरनचंद, सं., प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य, पृ सं. - 47
10. वर्मा, धीरेन्द्र, सं., 'हिंदी साहित्य', द्वितीय खंड, पृ. सं. - 189
11. सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 191
12. सिंह, सुधीर प्रताप, सं., 'आदिकालीन और भक्तिकालीन काव्य', पृ. सं. – 20
13. टंडन, प्रो. पूरनचंद, सं., 'प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य', पृ सं. - 63
14. सिंह, सुधीर प्रताप, सं., 'आदिकालीन और भक्तिकालीन काव्य', पृ. सं. – 20
15. टंडन, प्रो. पूरनचंद, सं., 'प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य', पृ सं. - 44
16. सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 84
17. सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं. – 228
18. सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 191
19. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 210
20. वही, पृ. सं.- 121
21. सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 128
22. वही, पृ. सं. – 191
23. वही, पृ. सं. – 192
24. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 18
25. मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का अतीत : प्रथम भाग', पृ. सं.- 78
26. नगेन्द्र, डॉ०, सं., हरदयाल डॉ०, सह-सं., 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 213

27.वही, पृ. सं.- 254
28.वही, पृ. सं.- 278
29.चर्चित, विशाल, 'दैनिक जागरण अखबार', 'सप्तरंग साहित्यिक पुनर्नवा',
30.सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं. – 242
31.सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 192
32.सिंह, नामवर, 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. सं. – 237
33.वही, पृ. सं. – 237
34.वही, पृ. सं. – 238
35.वही, पृ. सं. – 246
36.वही, पृ. सं. – 346
37.द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ. सं.- 151
38.नीरज, गोपालदास, 'नीरज दोहावली', पृ. सं. - 23
39.द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ. सं.- 142
40.वही, पृ. सं.- 157
41.द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास', पृ. सं.- 15
42.सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. - 192
43.शर्मा, डॉ. रामकिशोर, 'कबीर ग्रंथावली', पृ. सं.- 49
44.द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं.- 141
45.'शेष', चुन्नीलाल, 'सूर के सौ कूट', पृ.सं.- 46
46.शर्मा, गंगाप्रसाद, 'अमीर खुसरो की पहेलियाँ', पृ.सं. – 39
47.नगेन्द्र, डॉ०, सं., हरदयाल डॉ०, सह, सं., 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 178
48.सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 192
49.शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 49
50.तुलसीराम, डॉ., 'हस्तक्षेप', पृ. 1
51.सिंह, बच्चन, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृ. सं. – 30
52.शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं. – 45
53.सिंह, बच्चन, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृ. सं. – 30
54.शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं. – 23

55.शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 26

56.शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं. – 22

57.वर्मा, डॉ. रामकुमार, 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ. सं. – 54

58.सहगल, डॉ मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. - 44

59.सिंह, बच्चन, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृ. सं. – 33

60.शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं. – 42

61.शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. सं.- 23

62.बड़थ्वाल, पीताम्बर दत्त, सं., 'गोरखनाथ वाणी', पृ. सं. 137

63.सिंह, बच्चन, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृ. सं. – 50

64.वही, पृ. सं. – 45

65.वही, पृ. सं. – 43

66.सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 95

67.सिंह, बच्चन, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृ. सं. – 40

68.अग्रवाल, वासुदेव शरण, सं., 'कीर्तिलता', पृ सं. - 63

69.वही, पृ सं. 65

70.सहगल, डॉ. मनमोहन, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ. सं. – 144

71.शर्मा, राजमणि, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. सं. – 46

उपसंहार

उपसंहार

आदिकाल दो भिन्न संस्कृतियों की संगम स्थली है। इस काल में एक ओर देशी रियासतें और गौरवशाली हिन्दू परंपरा का पतन हो रहा था तो वहीं दूसरी ओर इस्लामिक संस्कृति स्वयं को स्थापित करने का प्रयास कर रही थी। तत्कालीन राजनीतिक अस्थिरता ने समाज और संस्कृति को बड़े स्तर पर प्रभावित किया। राजनीतिक असंतुलन वाले इस युग का आरम्भ राजवर्धन की मृत्यु और हर्षवर्धन के सत्तारूढ़ होने के साथ होता है। 647 ई. में हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत का साम्राज्य छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गया। कुछ शासक जैसे अजमेर के चौहान, कन्नौज के गाहड़वाल, और मालवा के परमार थोड़े समय के लिए अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल रहे, किन्तु इनमें से कोई राजा केन्द्रीय सत्ता कायम नहीं कर सका।

क्षेत्र विस्तार को लेकर इन राज्यों की आपसी कलह से भारत में अराजकता की स्थिति का जन्म हुआ। आपसी कलह और साम्राज्यों के बढ़ते विघटन ने सामंतवादी प्रथा को प्रोत्साहन दिया। केन्द्रीय सत्ता के अभाव का यह काल, आपसी संघर्षों का युग था। इस समय भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा पर लगातार मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। इस पृष्ठभूमि के भीतर आदिकालीन हिंदी साहित्य का विकास होता है। शासकों की आपसी लड़ाइयाँ, तुर्कों के आक्रमणों का सामना, एकता का अभाव और राज्यों का बिखराव, मान-अपमान के प्रश्न बन गए। केन्द्रीय सत्ता के टूटने का प्रभाव राजनीति तक सीमित न रहकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिलक्षित हुआ। युद्ध प्रभावित जीवन शैली में संतुलन का अभाव हो गया। जनता विदेशी आक्रमणकारियों के साथ-साथ युद्धकामी देशी राजाओं के अत्याचारों से भी त्रस्त होने लगी। फलस्वरूप समाज में दो तरह के वर्गों का उदय हुआ। पहला जो वीरता और साहस को जीवन का लक्ष्य समझता था और दूसरा जो युद्ध से उपजी विनाश लीला को देखकर संसार से विरक्ति की ओर अग्रसर था।

राजनीतिक परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप आदिकाल में एक ओर उपदेशमूलक, हठयोग, स्त्रीभोग और पलायन जैसे विषयों की प्रधानता रही, तो दूसरी ओर ईश्वर की लोक कल्याणकारी सत्ता में विश्वास करने, वीरता को जीवन का मर्म समझने की भावना से युक्त साहित्य लिखा गया। इस युग में राजदरबारों में पांडित्य प्रदर्शन की भावना का ह्रास हुआ और साहित्य लेखन के लिए अनुभव की जीवन्तता अनिवार्य हो गयी। धार्मिक कवियों ने धर्म संबंधी अनुभूतिपरक साहित्य लिखा और चारण कवियों ने युद्ध क्षेत्रों में प्राप्त अनुभवों का अतिरंजनापूर्ण वर्णन किया। इस समय धर्म और राजश्रय से इतर कविता के विकास की सम्भावना काफी कम हो गयी।।

हिंदी साहित्य की व्यापकता का प्रमाण या तो आदिकाल में मिलता है या फिर आधुनिक काल में, भक्तिकाल और रीतिकाल का रचनाक्षेत्र अपेक्षाकृत एक रेखीय है। कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से आदिकाल की बहुआयामिता विशिष्ट है। इस युग में तीन तरह के साहित्य की रचना हुई है । धार्मिक साहित्य, जिसके तहत सिद्ध, नाथ और जैन मुनियों का साहित्य आता है । वीरगाथात्मक, दरबारी या रासो साहित्य। लोकाश्रित साहित्य, जिसके अंतर्गत विशेष रूप से संदेश रासक, विद्यापति तथा अमीर खुसरो के साहित्य को रखा जाता है। काव्य विषय, भाषा और रूप तीनों दृष्टियों से आदिकालीन साहित्य में वैविध्य की भरमार है। आदिकाल के अन्तर्गत रासो और जैन साहित्य पछाह का है। सिद्धों की बानी और विद्यापति पूर्वी क्षेत्र के हैं और नाथ साहित्य समूचे उत्तर भारत के बड़े भूभाग में फैला हुआ है । इस युग में वीर, श्रृंगार, धर्म और लोक-केन्द्रित रचनाओं की मिली-जुली परंपरा विद्यमान है। इसलिए इस काव्य में साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के दर्शन मिलते हैं। प्रवृत्तिगत भिन्नता के कारण ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस काल को 'भारतीय विचारों के मंथन' का काल कहा है।

हिंदी भाषा और साहित्य का निर्माण तथा भारत में इस्लाम का प्रवेश लगभग एकसाथ होता है। इस्लाम आगमन की घटना के परिणामस्वरूप हिंदी साहित्य जगत में भाषा, विचार, दर्शन आदि क्षेत्रों में एक हलचल और परिवर्तन हुआ। इस काल में साहित्य शास्त्र और पांडित्य से ऊबकर लोक की ओर उन्मुख होने लगता है। कई परंपराएँ शास्त्र से इतर लोक भाषा में समाहित हो रही थीं। लघु परंपराएँ साहित्य में प्रतिष्ठित परंपराओं को विस्थापित कर रही थीं। बौद्ध-जैन विचार और दर्शन पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से गुजरकर पुरानी हिंदी में अभिव्यक्ति पा रहे थे।

वस्तुतः भारतीय समाज में रूढ़िवादी विचार-परंपरा के विरुद्ध समय-समय पर व्यापक लोक जीवन विद्रोह करते हुए नए विचारों को प्रस्तावित करता रहा है । सिद्ध, नाथ और जैन कवियों का धर्माधारित विद्रोह इसी बात को प्रमाणित करता है। यदि यह विद्रोह मात्र धार्मिक होता तो 'सांप्रदायिक साहित्य' की घोषणा के बाद उपेक्षित हो गया होता और साहित्य के इतिहास में उसकी चर्चा भी नहीं मिलती किन्तु इस विद्रोह के व्यापक सामाजिक आधार और सरोकार थे। कविकर्म इन कवियों का पेशा नहीं था और न ही कविता रोजी कमाने का जरिया थी। वे सामाजिक विषमता से व्यथित होकर उसके खिलाफ अपनी आवाज उठा रहे थे, इसी प्रक्रिया में वे अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति कर रहे थे । इस जनवादी साहित्य का प्रसार साहित्य से समाज के दूसरे क्षेत्रों में भी हुआ। इन रचनाकारों ने साहित्य में जनभाषा की प्रतिष्ठा पर जोर दिया। इसी प्रक्रिया में अभिव्यक्त हुए उनके अनुभवों को आदिकालीन धार्मिक साहित्य की संज्ञा दी जाती है।

विभिन्न परंपराओं के एक साथ विकसित होने के कारण आदिकालीन प्रवृत्तियों में केन्द्रीयता का अभाव दिखाई देता है। यहाँ आध्यात्मिक, श्रृंगारिक और वीरता प्रधान रचनाओं का विकास एक साथ होता है। इस क्रम में कालक्रमानुसार सर्वप्रथम धार्मिक साहित्य की परंपरा मिलती है। यह साहित्य रूढ़िवादी परंपराओं के विरुद्ध जनवादी स्वर को अभिव्यक्त करता है। सिद्ध, नाथ और जैन रचनाओं में हिंदी भाषा की रचनात्मक संवेदना के आरंभिक दर्शन होने लगते हैं। इस अर्थ में आदिकाल के अंतर्गत इस साहित्य का मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है।

हिंदी साहित्य का क्रमबद्ध विकास रासो साहित्य से माना जाता है। दसवीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में अपभ्रंश भाषा के साथ-साथ लोक भाषा का प्रयोग खुलकर होने लगा। राजदरबारों में अपभ्रंश के साथ देशी भाषाओं को शामिल करके काव्य-लेखन की पद्धति विकसित होने लगी। काव्य-लेखन की इसी परंपरा से रासो काव्यों का विकास हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने, जिन बारह रचनाओं के आधार पर आदिकाल का नामकरण किया है, उसमें प्रधानता वीर-काव्यों या रासो काव्यों की ही है। भारतीय राजनीति की अस्थिर अवस्था तथा राजवंशो की आपसी कलह और युद्धों के सघन वातावरण ने सामंतवादी व्यवस्था को जन्म दिया। इसी गृहकलह और सामंतवादी पृष्ठभूमि से वीर-काव्यों या रासो काव्यों का जन्म हुआ। तत्कालीन कवि या रचनाकार स्वतंत्र लेखन की जगह राजदरबारों के अधीन हो गए। ये चारण, राजदरबारों में सामंतो को खुश करने के लिए उनकी बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा करते हुए उनकी शौर्य गाथाएं लिखने लगे।

रासो काव्यों की संख्यात्मक अधिकता को देखते हुए यह स्पष्ट है कि वीरता-वर्णन आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। रासो साहित्य या वीर काव्य की बनावट सामंतों के मनोनुकूल हुई, केन्द्रीय सत्ता के अभाव में सामंतों की क्षेत्रीय ताकतों के बीच होने वाले संघर्षों की गाथा ही वीर-काव्य का आधार है। इस सामंती व्यवस्था में उन्हीं चारणों को सम्मान मिलता था जो राजाओं के शौर्य, पराक्रम, विजय अथवा शत्रुकन्या हरण आदि का अतिरंजनापूर्ण वर्णन करने में समर्थ थे। राजनीति में केन्द्रीयता का अभाव, बाहरी आक्रमण और सामंती राजाओं की विलासिता ही वह पृष्ठभूमि थी जिसके परिणाम स्वरूप ज्यादातर रासो-काव्यों का जन्म हुआ। रासो साहित्य का आम जन-मानस से ज्यादा सरोकार नहीं था। उनका प्रधान उद्देश्य दरबारों की चाटुकारिता तक सीमित हो चुका था। इन काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता यही है, कि इनके रचयिताओं ने इन्हें एक चारण के रूप में ही लिखा है, उन्होंने कहीं भी उपदेश देने जैसा कोई काम नहीं किया है। वे पूरी मस्ती से राजाओं की शौर्य और प्रेम गाथा का बयान करते हैं, फिर इसके बाद उन्हें दुनिया समाज की कोई चिंता नहीं होती है। यहाँ कला सिर्फ कला के लिए है उसका जीवन से ज्यादा वास्ता दिखाई नहीं देता है। कला यहाँ मनोरंजन का साधन मात्र है, उससे उपयोगिता की कोई मांग नहीं की गयी है।

इस प्रकार ये वीर-काव्य अपनी रचना के कारण अर्थात आश्रयदाता की स्तुति, की कसौटी पर बिल्कुल खरे उतरते हैं।

आदिकाल में दरबारी साहित्य और धार्मिक साहित्य के समानांतर लोक-जीवन में सहजता भी देखने को मिलती है, जिसको लौकिक साहित्य कहा जाता है। चारण साहित्य जहाँ दरबारों और शास्त्रीय रूढ़ियों में बंधकर जन-मानस से दूर हो गया वहीं लोक कवियों ने साहित्य की जन केन्द्रीयता को कायम रखा। मात्रात्मक रूप में इन रचनाओं की संख्या कम है, लेकिन वास्तविक अर्थ में इस साहित्य ने 'देश-भाषा' के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इतिहास का आश्रय लेकर लिखे जाने वाले ये काव्य आश्रयदाताओं की अतिरंजनापूर्ण प्रशंसा करने में बेजोड़ कहे जा सकते हैं। किन्तु ऐतिहासिकता ही इन काव्यों के मूल्यांकन में सबसे बड़ी समस्या है। साहित्य का वह अंश जो इतिहास की किसी घटना अथवा पात्र को केंद्र में रखकर लिखा जाता है, ऐतिहासिक साहित्य कहलाता है। इतिहास साक्ष्य बद्ध होता है और साहित्य उससे मुक्त। साहित्य लेखन में मानवीय अनुभव साक्ष्य के रूप में मौजूद होते हैं। साहित्यकार, इतिहासकार द्वारा संचित तथ्यों की अनदेखी तो नहीं करता है, लेकिन वह उनसे परे जाकर पुराणों, परंपराओं, किंवदंतियों, लोकस्मृतियों में रक्षित अतीत को भी अपने आख्यान में शामिल कर सकता है। साहित्यकार अपनी संवेदना और कल्पना से एक ऐसे नए संसार की रचना करता है जो कल्पना प्रसूत होते हुए भी सच होता है। साहित्यकार के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का महत्व होता है, ऐतिहासिक तथ्यों का नहीं।

साहित्य इतिहास आधारित हो सकता है वह स्वयं इतिहास नहीं होता है। साहित्य तथ्यों का सुस्पष्ट संकलन नहीं है, वह कवि के भाव का प्रस्तुतीकरण है। इस क्रम में यदि वह तथ्य बटोरने बैठेगा तो रचना का लालित्य ही समाप्त हो जायेगा। आदिकालीन वीरकाव्यों में इतिहास साधन है साध्य नहीं, इसीलिए यहाँ इतिहास की रक्षा का कोई प्रयास दिखाई नहीं देता है। कवियों का साध्य उनके शासक के गुणों की अतिरंजनापूर्ण प्रशंसा करना है, जिसमें वे पूरी तरह से सफल रहें हैं। यहाँ इतिहास का आधार भर लिया गया है। इसीलिए इन वीर-काव्यों से ऐतिहासिकता की माँग करना इन रचनाओं के साथ अन्याय करना होगा।

किसी भी कालखंड को समझने के लिए तत्कालीन समय का साहित्य सबसे प्रामाणिक दस्तावेज होता है। जैसे कि आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा है कि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है। और जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन के कारक को रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा है कि जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। आदिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों की विविधता का कारण इस काल की संक्रमणशील सामाजिक

परिस्थितियाँ हैं। यहाँ भिन्न भाषाओं, भिन्न संस्कृतियों, भिन्न धार्मिक मान्यताओं का समायोजन साथ-साथ हो रहा था। इस तरह के विकसनशील साहित्य का मूल्यांकन किसी एक आधार बिंदु द्वारा संभव नहीं है। सामाजिक परिवर्तनों के प्रभाव से साहित्य में निरंतर बदलाव होते रहते हैं, और साहित्य में बदलाव होते रहने के कारण उसके मूल्यांकन के आधार बिंदु भी बदलते रहते हैं।

आदिकाल की सामाजिक संरचना का क्षेत्र व्यापक है। आदिकालीन रचनाकारों ने समाज के हर वर्ग को वाणी दी है। सिद्ध,नाथ,जैन साहित्यकारों की रुक्ष फटकार के साथ लोक गाथाओं की सरस अनुभूतियाँ इस काल की विशेषता हैं। यहाँ लोक के रोम-रोम में बसे राधा-माधव की केलि कथाओं की मस्ती तथा राजदरबारों की कुलीन गाथाएं एक साथ देखने को मिलती हैं। हालाँकि इस काल की ऐतिहासिक रचनाओं के साथ, ऐतिहासिकता और काल्पनिकता का बड़ा विवाद भी है। उसके बावजूद साहित्यिक दृष्टि से ये रचनाएँ अपने समय का जीवंत दस्तावेज हैं।

आदिकालीन साहित्य के समन्वयकारी स्वरूप ने युद्ध के परिवेश से उपजी निराशा को कम करने का सकारात्मक प्रयास किया। धार्मिक साहित्य के जनवादी स्वरूप ने जनभाषा की पुरजोर वकालत की। इसके परिणामस्वरूप परंपरा से चली आ रही अपभ्रंश भाषा को साहित्यिक भाषा का स्थान छोड़ना पड़ा। हिंदी साहित्य के आरंभिक युग में साहित्य में जन भाषाओं की प्रतिष्ठा हुई। इस संदर्भ में यह कहना गलत नहीं होगा कि ऐतिहासिकता, साहित्यिकता, भाषिक संरचना और सामाजिक उपादेयता ही वे प्रमुख आधार बिन्दु हैं, जिनसे आदिकालीन हिंदी साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। इन आधार बिन्दुओं के आलोक में किसी भी युग के साहित्य का सम्यक मूल्यांकन करना तार्किक भी है और आवश्यक भी।

आदिकाल की सामाजिक उपादेयता उसके समन्वयकारी स्वरूप में झलकती है। इन रचनाकारों ने अलग-अलग धुरी पर रहने के बावजूद समाज में समरसता का संचार किया। आदिकाल में ब्राह्मण, बौद्ध, जैन रचनाकारों ने समाज में धार्मिक सहिष्णु वातावरण का निर्माण किया है। पूरब में सिद्धों, नाथों की विद्रोही वृत्ति, सामान्य जनता के असंतोष को लेकर सामने आयी। सिद्ध-नाथ योगी सामाजिक दार्शनिक थे। वे लगातार सामाजिक सौहार्द और वर्ग भेद मिटाने की कोशिश करते रहे। हिन्दू मुसलमानों के बीच बढ़ते तनाव को कम करने के लिए गोरखनाथ ने हिन्दू धर्म, योग मार्ग और इस्लाम की कट्टरता को ख़त्म करने के लिए तीनों धर्मों का अंतर्भाव दिखाने का प्रयास किया। योगियों ने सामाजिक सांप्रदायिक सौहार्द के साथ-साथ आर्थिक वैमनस्य मिटाकर भी सौहार्द लाने की कोशिश की। आदिकाल शौर्य और प्रेम, प्रेम और भक्ति, सामान्य जनता और उच्च वर्ग, ब्राह्मण, जैन, बौद्ध और इस्लाम के बीच सामंजस्य का काल है।

विद्यापति के साहित्य में शैव और वैष्णव मतों का एकीकरण होता है। उन्होंने कीर्तिलता में हिंदू-तुर्क संस्कृतियों के पारस्परिक प्रभाव का बहुत ही सूक्ष्म अध्ययन किया है, एक तरफ जहाँ उन्होंने बर्बर और जालिम तुर्कों का वर्णन किया है, वहीं दूसरी ओर रहमदिल और नेक बादशाह इब्राहिम शाह का महिमामण्डन भी किया है । तुर्कों द्वारा हिन्दुओं पर किये गए अत्याचारों का वर्णन करते हुए विद्यापति में कहीं भी साम्प्रदायिकता का भाव नजर नहीं आता है। अमीर खुसरो नवागत इस्लाम धर्म के अनुयायी थे, उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की दूरी को कम करने का प्रयास किया । उन्होंने पहेलियाँ और मुकरियां लिखकर हिन्दुओं और मुसलमानों में संवाद की स्थिति बनायी । चंदवरदाई ने हिन्दू राजा पृथ्वीराज की शौर्यगाथा लिखते समय कहीं भी सांप्रदायिक द्वेष का प्रदर्शन नहीं किया है। उनके द्वारा वर्णित लड़ाइयां हिन्दू और तुर्कों के बीच की नहीं, दो वीरों के बीच की हैं। वे अपने काव्य में अरबी-फारसी के शब्दों का बखूबी प्रयोग करते हैं। आदिकालीन समन्वयकारी प्रवृत्ति इस काल खंड की सामाजिक उपादेयता को महत्वपूर्ण ढंग से उजागर करती है

आदिकाल, हिंदी साहित्य का संक्रान्तिकाल है । इस युग में लम्बे समय तक साहित्य का माध्यम रहने के बाद अपभ्रंश भाषा का पतन हो रहा था और उसके स्थान पर लोक भाषाएँ अस्तित्व में आ रहीं थीं । आदिकाल साहित्यिक भाषा के रूप में दो भाषाओं के बनने-बिगड़ने का समय था । राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और भाषिक हर स्तर पर, यह युग परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों से घिरा हुआ था । आदिकाल नामकरण में 'आदि' शब्द को साहित्य के साथ-साथ हिंदी भाषा की भी आरंभिक अवस्था का सूचक कहा जा सकता है।

हिंदी से पहले अपभ्रंश भाषा साहित्य लेखन का माध्यम थी । कालांतर में अपभ्रंश भाषा से अलग स्वतंत्र रूप में हिंदी भाषा के विकास के चिन्ह दसवीं शती से मिलने शुरू हो जाते हैं, इसीलिए मुख्यतः 1000 ई. से 1400 ई. के मध्य हिंदी प्रदेशों में उपलब्ध होने वाले साहित्य को आदिकालीन हिंदी साहित्य की आधार सामग्री के रूप में लिया जाता है। भाषा की जड़ता साहित्य के पतन का प्राथमिक कारण होती है । लम्बी कालावधि तक साहित्य लेखन का माध्यम रहने के बाद अपभ्रंश भाषा धीरे-धीरे रूढ़ि-ग्रस्त होती चली गयी । परिणामस्वरूप अपभ्रंश के स्थान पर एक नई बोली साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनी । आदिकाल में भाषा की समस्या मूलतः अपभ्रंश से हिंदी के स्थानापन्न की अवधि को लेकर है । अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और हिंदी भाषा कहाँ से आरम्भ होती है इसकी कोई निश्चित तिथि नहीं है। यह परिवर्तन वर्षों में घटित होने वाली सतत घटना है । आदिकाल की सबसे बड़ी विशेषता, साहित्यिक भाषा के रूप में हिंदी (लोक-भाषा) की प्रतिष्ठा या उसकी स्वीकृति होना है।

कई आलोचकों ने भक्तिकाल में लोक भाषाओं की प्रतिष्ठा को सामंतवाद का सबसे बड़ा प्रतिरोध माना है, हम देखते हैं की जन भाषाओं की प्रतिष्ठा का आरम्भ आदिकाल से ही दिखाई देने लगता है। आदिकाल में साहित्यिक भाषा अपभ्रंश के स्थान पर अन्य भारतीय भाषाओं का प्रयोग आरम्भ होता है। भक्ति काल का निर्गुण साहित्य, आदिकालीन सिद्ध साहित्य का ही विकसित रूप है । रीतिकाल में नायिका भेद, नखशिख काव्य परंपरा की आरंभिक झलक हमें रासो काव्यों में दिखाई देती है। आदिकाल का चारण काव्य ही रीतिकाल के दरबारी काव्य की पृष्ठभूमि तैयार करता है । काव्य-रूप की दृष्टि से आदिकाल में प्रचलित दोहा छंद, प्रबंध काव्य, महाकाव्य की परंपरा भक्तिकाल,रीतिकाल से होती हुई आधुनिक कल तक प्रवाहित होती है।

इस काल में हिंदी, साहित्य लेखन की भाषा बनती है। आदिकालीन भाषा के निर्धारण का मूल विवाद अपभ्रंश भाषा को हिंदी साहित्य में शामिल किये जाने अथवा नहीं किये जाने का है। आदिकालीन साहित्य के मूल्यांकन में भाषा एक बड़ी समस्या है। यह समस्या 'हिंदी' भाषा के अर्थ विस्तार से सम्बंधित है, जिसका मूल्यांकन अपभ्रंश और हिंदी भाषा के मध्य के सम्बन्ध का विश्लेषण किये बिना संभव नहीं है। इस काल में साहित्यिक भाषा के रूप में जिस साहित्य का वर्चस्व दिखाई देता है, उसको प्रमुखता में अपभ्रंश और अंशतः 'देशी भाषा', अवहंस', 'अवहट्ठ', आदि नामों से पुकारा गया है।

भाषा और अंतर्वस्तु के स्तर पर आदिकाल में कई तरह की समस्याएँ हैं, जैसे काल-निर्धारण की समस्या, नामकरण की समस्या, प्रवृत्ति निर्धारण की समस्या, इत्यादि । इन सभी समस्याओं के मूल में भाषा की समस्या है । चूंकि आदिकाल से पहले तक अपभ्रंश, साहित्य की भाषा थी, आदिकाल में आकर हिंदी साहित्य का माध्यम बनती है । साहित्य की माध्यम भाषा का यह परिवर्तन अचानक या किसी तिथि विशेष से नहीं होता है। भाषा का यह परिवर्तन एक लम्बी और सतत प्रक्रिया का परिणाम है। इसीकारण इस काल में हिंदी भाषा के साहित्य की सीमा-रेखा खींच पाना लगभग असंभव कार्य है। इस संदर्भ पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी कहते भी हैं कि कुछ उदाहरण ऐसे हैं, जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं और पुरानी हिंदी भी । इस काल की विविधता या बहुआयामिता के दर्शन इस काल के काल-निर्धारण और नामकरण से लेकर प्रवृत्ति निर्धारण तक में होते हैं। यहाँ साहित्यिक प्रवृत्तियों की बहुलता है, इसीलिए केन्द्रीय प्रवृत्ति का निर्धारण कर पाना एक बड़ी समस्या है । इसके साथ ही साथ ऐतिहासिकता और भाषा के निर्धारण की समस्या आदिकाल की प्रमुख समस्या है। इसी स्थिति को लक्ष्य करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस युग को 'परस्पर विरोधी और स्वतोव्याघातों' का युग कहा था । यह 'परस्पर विरोध' और

'स्वताव्याघात' आदिकालीन साहित्य के मूल्यांकन में तमाम तरह की समस्याएं उत्पन्न करते हैं। आदिकाल में साहित्य और भाषा दोनों स्तरों पर 'संधियों' और 'संक्रमण' का बोलबाला रहा है।

इस काल की साहित्यिक विविधता इसकी विशेषता के साथ-साथ इसके अध्ययन और आलोचना के लिए बड़ी समस्या भी है। आदिकाल के हर आलोचक ने इन समस्याओं से गुजरते हुए इस काल का मूल्यांकन अपनी-अपनी आलोचना-दृष्टि के आधार पर किया है। किसी कालखंड का अध्ययन या उसकी आलोचना करने के लिए आलोचक जिन आलोचना पद्धतियों का सहारा लेता है वह उसकी आलोचना-दृष्टि से निर्मित होती हैं। आलोचना दृष्टि की भिन्नता के कारण एक ही रचना के अलग-अलग पाठ संभव होते हैं। इतिहास-लेखन में तटस्थ भाव से चयन करना संभव नहीं होता है। इतिहास स्वयं भी तटस्थ नहीं होता है। मूल्यगत निर्णय, सामग्री के चयन में ही देखा जा सकता है। यह सवाल वहीं से शुरू होता है जहाँ से हम अपनी पसंद की पुस्तक या लेखक का चयन करते हैं, उसके समानांतर ही हम बाकी लेखकों का वर्णन-विश्लेषण करते हैं। जैसा की हम शुक्ल जी की आलोचना-दृष्टि में विशेष रूप से देखते हैं। आभिजात्यवादी दृष्टि के आग्रह के कारण 'वीरगाथाओं' में उनको 'शिष्ट साहित्य' के दर्शन होते हैं, और धार्मिक साहित्य उनके लिए 'सांप्रदायिक शिक्षा' मात्र है। लाखों पुस्तकों, घटनाओं और रचनाकारों के बीच से किसी विशेष रचना, घटना या रचनाकार का चयन आलोचक या लेखक की आलोचना दृष्टि विशेष का ही परिणाम होता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के आदिकाल को वीरगाथाकाल नाम देकर इस काल की विषय-वस्तु को एक खास चौहद्दी में बाँध दिया, लेकिन वास्तव में यह काल भक्ति, नीति, सगुण, निर्गुण, श्रृंगार, वीर, लोक, दरबारी, प्रेम, विरह जैसे भविष्य के तमाम विषयों को अपने भीतर समेटे हुए है। आदिकालीन विषय वस्तु भक्ति और श्रृंगार का हिंदी साहित्य के दो बड़े और महत्वपूर्ण कालखंडों में सीधे तौर पर विकास हुआ है। आदिकालीन धार्मिक साहित्य ने हिंदी के 'स्वर्ण काल' की नींव तैयार की। सिद्ध और नाथ साहित्य का विकास जहाँ भक्तिकालीन निर्गुण साहित्य में हुआ वहीं आदिकालीन लोकगाथाओं ने ही पूर्व मध्यकालीन सूफी सन्तों की लोक कथाओं का आवरण तैयार किया। 'पउम चरिउ' के राम का विकास तुलसी के मानस में साफ तौर से दिखाई देता है, वहीं विद्यापति के राधा-कृष्ण की प्रेम लीला का विकास सूरदास की कविता में सहज ही दृष्टिगोचर होता है। दरबारी काव्य आदिकाल की प्रधान प्रवृत्ति है। इस साहित्य का प्रत्यक्ष विकास उत्तर मध्यकालीन दरबारी साहित्य में हुआ। रासो ग्रंथों में सामंतों की विलासिता और नायिकाओं की कामुकता रीतिकाल की आधार सामग्री है। आधुनिक काल में सीधे तौर पर न सही लेकिन उसकी कई प्रधान प्रवृत्तियों के दर्शन हमें आदिकालीन साहित्य में आसानी से हो जाते हैं। आदिकाल का बहुविषयी साहित्य ही उसकी प्रासंगिकता का आधार है। साहित्य समाज सापेक्ष विधा है, उसका सृजन समाज से प्रभावित होकर किया जाता है और उत्पादन के बाद वह स्वयं सामाजिक

परिवर्तन का वाहक बनता है। इस अर्थ में साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है' और साहित्य मनुष्य की 'चित्तवृत्तियों का समूह' है। साहित्य की किसी भी रचना में उसका युग प्रतिबिंबित होता है। साहित्य की सामाजिक उपयोगिता ही उसको ग्राह्य बनाती है जिसे उसकी प्रासंगिकता कहा जाता है।

साहित्य के उत्तरोत्तर विकास के क्रम में जब संस्कृतिक प्रतीकों की पुनर्व्याख्या की जा रही है और मूल्यों और कलाओं को नए अर्थों में परिभाषित किया जा रहा है। ऐसे समय में हिंदी साहित्य के आरंभिक स्वरूप की समसामयिक सन्दर्भों में पुनार्व्यख्या करना आवश्यक और अधिक प्रासंगिक हो जाता है। हिंदी का समसामयिक साहित्य आज समाज के हर उस दमित वर्ग की आवाज बन रहा है, जिसको लम्बे समय तक साहित्य के केंद्र से बाहर रखा गया है, जिनमें दलित और स्त्रियाँ दो सबसे महत्वपूर्ण वर्ग रहे हैं। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारणों के चलते लम्बे समय तक साहित्य पर वर्ग विशेष का ही वर्चस्व रहा है। आधुनिकता के परिणामस्वरूप साहित्य में हाशिये के वर्गों की भागीदारी बढ़ने लगी। दलित और स्त्री इन दोनों वर्गों को केन्द्र के साहित्य से अलग और उपेक्षित रखा गया। ऐसा नहीं है की विमर्श प्रधान साहित्य से पहले तथाकथित 'दलित' या 'स्त्री' विषय पर कुछ लिखा नहीं गया हो, लेकिन यह लेखन उनके बारे में रहा, उनके द्वारा नहीं। इन सन्दर्भों में साहित्य के आरम्भिक दौर के साहित्य की समसामयिक पुनर्व्याख्या अधिक आवश्यक हो जाती है।

साहित्य के सम्बन्ध में प्रासंगिकता का सवाल बार-बार उठाया जाता है, यह इस तरह का सवाल है जैसे जो प्रासंगिक होगा वही श्रेष्ठ होगा। यानि कि प्रासंगिकता ही वह कसौटी है जिसके आधार पर किसी कालखंड, रचनाकार या रचना को कमतर या महत्वपूर्ण साबित किया जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में आदिकाल की प्रासंगिकता पर बात करना एक महत्वपूर्ण विषय है। वर्तमान साहित्य आधुनिकता केन्द्रित साहित्य है, साहित्य में तमाम तरह के अस्मितामूलक साहित्य सक्रिय हैं, ऐसे समय में हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य के आरंभिक स्वरूप की चर्चा करना एक 'आउटडेटेड' विषय है। आदिकाल का नाम लेना भी कई बार पिछड़ेपन का परिचायक माना जाता है। किन्तु साहित्य का आगामी स्वरूप कैसा होगा इसका निर्धारण आरंभिक युगों में ही होता रहा है। ऐसा नहीं है कि साहित्य का कोई कालखंड अचानक ही उत्पन्न हो गया हो, उसकी प्रवृत्तियों के बीज सदैव ही पूर्ववर्ती कालों में मौजूद रहे हैं। इतना अवश्य है कि भावी साहित्य परंपरा में प्राप्त साहित्य में संशोधन और संवर्द्धन अवश्य करता चलता है। आदिकालीन साहित्य ने परवर्ती हिंदी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस काल की लगभग सभी प्रवृत्तियों का विकास भविष्य के साहित्य में हुआ है। यह अवश्य है कि समय के साथ इन प्रवृत्तियों के स्वरूप में बदलाव

आते रहे हैं लेकिन उनकी मूल संवेदना का निर्माण आदिकाल के गर्भ में ही हुआ है। भविष्य के साहित्य को एक सबल परंपरा प्रदान करने के संदर्भ में आदिकाल की प्रासंगिकता मजबूत और बेजोड़ है।

संदर्भ-ग्रंथ

संदर्भ - ग्रंथ

1. अरुण, डॉ. अवधेश्वर, *'हिंदी भाषा का स्वरूप विकास'*, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण - जनवरी, 1973
2. अवस्थी, डॉ. मोहन, *'हिंदी साहित्य का विवेचनापरक इतिहास'*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2008
3. कश्यप, श्याम, *'हिंदी साहित्य का इतिहास पुनर्लेखन की समस्याएँ'*, हिंदी माध्यम कार्यान्वन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण - 1994
4. किशोर, डॉ. राम, *'अपभ्रंश मुक्तक काव्य और उसका हिंदी पर प्रभाव'*, हिंदी परिषद, प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण - मई,1981
5. कुमार, डॉ. रमाइंद्र, *'दोहाकोश : भाषा वैज्ञानिक अध्ययन'*, माँ पार्वती बैजनाथ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1993
6. कुमार, डॉ. रमाइंद्र, *'चौरासी सिद्ध और दोहाकोश',* बौद्ध श्रमण बिहार प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण - 1992
7. कुमार, डॉ. रमाइंद्र, *'युगप्रवर्तक सरह और दोहाकोश'*, माँ पार्वती बैजनाथ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1994
8. कुलश्रेष्ठ, डॉ० विजय, *'रासो काव्य धारा'*, किताब महल, इलाहाबाद, संस्करण - 1984
9. कुमार, डॉ० सुधीन्द्र, *'हिंदी साहित्य का इतिहास'*, कादम्बरी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण - 1999
10. कृष्ण, डॉ० बटे, *'हिंदी की वीर काव्य-धारा', प्रथम खंड : उद्गम'*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण - 1982
11. गुप्त, डॉ. माताप्रसाद सं., *'पृथ्वीराज रासउ'*, साहित्य सदन चिरगाँव झाँसी, संस्करण 1965 वि.सं. - 2020
12. गुप्त, माताप्रसाद, सं., *'राउल वेल और उसकी भाषा'*, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण - गौरव ग्रंथ माला 6

13. गुप्त, डॉ. गणपति चन्द्र, *'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, द्वितीय संस्करण - 1978
14. गुलामराय, डॉ. बाबू, *'हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास'*, महेन्द्र प्रकाशन, आगरा, संस्करण - 1973
15. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, *'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास'*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहावाद, सत्राहवाँ संस्करण - 2009
16. चतुर्वेदी, जगदीश्वर, *'साहित्य का इतिहास दर्शन'*, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, संस्करण - 2013
17. जैन, निर्मला, *'निबंधों की दुनिया : हजारी प्रसाद द्विवेदी'*, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण - 2001
18. जैन, निर्मला, *'हिंदी आलोचना का दूसरा पाठ'*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण - 2018
19. जैन, डॉ. प्रेमचंद्र, *'रहस्यवादी जैन अपभ्रंश काव्य का हिंदी पर प्रभाव'*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1991
20. टंडन, डॉ० प्रतापनारायण, *'हिंदी साहित्य का प्रवृत्तिगत इतिहास खण्ड 1 : पद्य भाग'*, विवेक प्रकाशन, अमीनाबाद, लखनऊ, संस्करण - 1968
21. टंडन, प्रो. पूरनचंद, सं., *'प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य'* राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण - 2016
22. तिवारी, रामचंद्र, *'हिंदी का गद्य साहित्य'*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण - 2014
23. तोमर, रामसिंह, *'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिंदी साहित्य पर प्रभाव'*, हिंदी परिषद प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण - 1963
24. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *'हिंदी साहित्य का आदिकाल'*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण - 2006
25. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *'हिंदी साहित्य उद्भव और विकास'*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2011
26. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *'हिंदी साहित्य की भूमिका'*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2012

27. नगेन्द्र, डॉ० सं., डॉ० हरदयाल सह-सं., *'हिंदी साहित्य का इतिहास'*, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा, संस्करण - 2009
28. नगेन्द्र, *'साहित्य का समाजशास्त्र'*, नेशनल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 1982,
29. नीरज, गोपालदास, *'नीरज दोहावली'*, आत्माराम एंड संस, नई दिल्ली, संस्करण - 2001
30. पाण्डेय, शम्भूनाथ, '*अपभ्रंश-आदिकाल एवं भक्तिकाल के सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम*,' संजय बुक सेंटर, वाराणसी, संस्करण - 1998
31. पाण्डेय, मैनेजर, *'साहित्य और इतिहास दृष्टि'*, वाणी प्रकाश, नई दिल्ली, आवृत्ति संस्करण - 2013
32. पाण्डेय, डॉ. राजबली, *'हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास'* प्रथम भाग, नगरी प्रचारणी सभा, काशी, संस्करण प्रथम संवत - 2014 वि.
33. पंत, डॉ अम्बादत्त, *'अपभ्रंश काव्य परंपरा और विद्यापति'*, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण सं. - 2026 वि.
34. बड़थ्वाल, डॉ. पीताम्बरदत्त, *'गोरख-बानी'*, हिंदी साहित्य-सम्मलेन प्रयाग, तीसरा संस्करण - 2017 वि. सं.
35. बाजपेयी, नंददुलारे, *'नया साहित्य : नए प्रश्न'*, विद्यामंदिर प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण - 1959
36. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, *'हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिवृत्त'*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2009
37. मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद, *'हिंदी साहित्य का अतीत : प्रथम भाग'*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2006
38. मिश्रबंधु, *'मिश्रबंधु विनोद'*, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, संस्करण - 1983 वि.
39. मिश्र, डॉ० रामप्रसाद, *'हिंदी साहित्य का इतिहास', (खण्ड – 1)*, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2008
40. मेनारिया, पं. मोतीलाल, *'राजस्थानी भाषा और साहित्य'*, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संसकरण - प्रथमवार

41. राय, अनिल, सं., *'आदिकालीन हिंदी साहित्य अध्ययन की दिशाएं'*, शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2007
42. राजे, डॉ. सुमन, *'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास'*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण - 2004
43. राजे, डॉ. सुमन, *'साहित्येतिहास, आदिकाल'*, ग्रंथम प्रकाशन, कानपुर, संस्करण - 1976
44. लाल, डॉ. मनोहर सं., *'पुरानी हिंदी और शेष रचनाएँ'*, किताबघर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1988
45. वर्मा, डॉ. रामकुमार, *'हिंदी का आलोचनात्मक इतिहास'*, रामनारायण प्रकाशक इलाहाबाद , तृतीय संस्करण - 1954
46. वार्ष्णेय, डॉ० लक्ष्मीसागर, *'हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास'*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण - 1990
47. शर्मा, रामविलास, *'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ'*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1986
48. शर्मा, राजमणि, *'अपभ्रंश भाषा और साहित्य'*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण - 2015
49. शरण, श्री, डा. आलोक कुमार, *'हिंदी साहित्य का इतिहास'*, प्रकाशक मंदिर, बल्लीराम, दिल्ली, संस्करण - 1988
50. शर्मा, नलिन विलोचन, *'साहित्य का इतिहास दर्शन',* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, द्वितीय संस्करण शकाब्द - 1919 रिव्रष्टाब्द 1997
51. शर्मा, डॉ. हरवंश लाल, *'हिंदी साहित्य का इतिहास,* शिवालिक प्रकाशन,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1982
52. शर्मा, डॉ. रामकिशोर, *'कबीर ग्रंथावली'*, विद्यासागर, इलाहाबाद, संस्करण - 1993
53. शर्मा, डॉ. हरवंश लाल, *'हिंदी साहित्य का इतिहास,* शिवालिक प्रकाशन,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1982
54. शर्मा, रामविलास, *'परंपरा का मूल्यांकन'*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथी आवृत्ति - 2004
55. शर्मा, रामविलास, *'भाषा और समाज'*, राजकमल प्रकाशन, संस्करण - 2017

56. शर्मा, गंगाप्रसाद, *'अमीर खुसरो की पहेलियाँ'*, लर्निंग ट्री पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, संस्करण - 2009,
57. शास्त्री, डॉ. देवेन्द्र कुमार, *'अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध- प्रवृत्तियां'*, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1972
58. 'शेष', चुन्नीलाल, *'सूर के सौ कूट'*, श्री शंकर मुद्रणालय, वाराणसी, संवत् - 2013, प्रथमावृत्ति
59. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, *'हिंदी साहित्य का इतिहास'*, कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - नवीनतम
60. स्नातक, विजयेन्द्र, *'हिंदी साहित्य का इतिहास'*, साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण - 1996
61. सहगल, डॉ. मनमोहन, *'हिंदी साहित्य का आदिकाल'*, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, पंचकूला, प्रथम संस्करण - 2013
62. साहा, रणजीत कुमार, *'सहज सिद्ध साधना एवं सर्जना'*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1980
63. सांकृत्यायन, राहुल, *'हिंदी काव्य-धारा'*, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण - 1945
64. सांकृत्यायन, राहुल सं., *'दोहाकोश'*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम संस्करण - शकाब्द 1873, विक्रमाब्द 2014, ख्रिषटाब्द 1957
65. सिन्हा, अरविन्द नारायण, *'विद्यापति युग और साहित्य'*, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, संस्करण - 1966
66. सिंह, ओमप्रकाश, *'प्रमुख हिंदी कवि और काव्य आदिकाल और भक्तिकाल'*, ग्रंथलोक प्रकाशन, संस्करण - 2002
67. सिंह, बच्चन, *'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास'*, राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण - 2013
68. सिंह, नामवर, *'कविता के नए प्रतिमान'*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवीं आवृत्त - 2009,
69. सिंह, नामवर, *इतिहास और आलोचना'*, सत्त-साहित्य-प्रकाशन, बनारस, प्रथम संस्करण फरवरी - 1956
70. सिंह, नामवर, *'नामवर सिंह संकलित निबंध'*, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण दूसरी आवृत्ति - 2011

71. सिंह, नामवर, *'पृथ्वीराज रासो भाषा और साहित्य'*, राधाकृष्ण प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1997
72. सिंह, नामवर, *'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग'*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण - 2011
73. सिंह, शिवप्रसाद, *'कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा'*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1955
74. सिंह, हौसिलाप्रसाद, *'हिंदी साहित्य का आदिकाल विकास और प्रवृत्ति'*, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम प्रकाशन - 1996
75. सिंह, वासुदेव, *'हिंदी साहित्य का उदभव काल'*, हिंदी प्रचारक संस्था, वाराणसी, संस्करण - 1973
76. सोनटक्के, डॉ. माधव, *'हिंदी साहित्य का इतिहास'*, विकास प्रकाशन, साकेतनगर, कामपुर, प्रथम संस्करण अक्टूबर - 1992
77. सिंह, सुधीर प्रताप सं., *'आदिकालीन और भक्तिकालीन काव्य'*, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2014
78. हंस, डॉ० कृष्णलाल, *'हिंदी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास'*, ग्रंथम, रामबाग, कानपुर, सस्करण - 1974
79. त्रिपाठी, डॉ. राममूर्ति, *'आदिकालीन हिंदी साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका'*, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, संस्करण - प्रथम

पत्र-पत्रिकाएँ

1. 'उद्भावना', रामविलास शर्मा महाविशेषांक दिल्ली, वर्ष - 2012
2. 'पहल', अंक - 34
3. शोध पत्रिका : साहित्य संसथान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, अप्रैल-जून, 1991, वर्ष - 42, अंक - 2
4. समकालीन भारतीय साहित्य, वर्ष - 26, अंक - 123 : जनवरी-फरवरी - 2000
5. 'हस्तक्षेप', राष्ट्रीय सहारा, 18 जनवरी 1997

शब्दकोश

1. प्रसाद, कालिका, वृहद् हिंदी कोश सं., ज्ञानमंडल लिमिटेड, विक्रम भवन, वाराणसी, सप्तम परिवर्धित संस्करण – सितम्बर 1992
2. वर्मा, धीरेन्द्र सं. प्रथम एवं द्वितीय भाग, हिंदी सहित्य कोश, पारिभाषिक शब्दावली, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, पुनर्मुद्रित - 2015
3. वर्मा, रामचंद्र, सं. हिंदी शब्द सागर का संक्षिप्त संस्करण, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण - 1945